जैन कथा संग्रह

(प्रथम भाग)

(पौराणिक कथाओं का अभूतपूर्व संग्रह ग्रन्थ)

संकलन-सम्पादन

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री

:: प्रकाशक ::

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति

:: कार्यालय ::

'लौकान्तिक', ए-३१ए, अनीता कॉलोनी

अम्बेडकर मार्ग, बजाज नगर, जयपुर (राज.)

मोबाइल : 094147-17816 फोन : 0141-2702222

अबतक	:	14750 प्रतियाँ
प्रस्तुत संस्करण	:	02200 प्रतियाँ (महावीर निर्वाण महोत्सव, 18 अक्टूबर 2009)
योग	:	16950 प्रतियाँ

लागत मूल्य	:	**75 रुपये मात्र**
न्यौछावर राशि	:	**50 रुपये मात्र**

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्राप्ति-स्थान

1. **श्री प्रमोद कुमार जैन** फोन : 0141-2373822
   जयपुर प्रिन्टर्स, एम.आई. रोड, जयपुर (राज.)
2. **श्री अश्विनी शाह** फोन : 022-28620730
   रुश्तमजी आदर्श हैरीटेज, बी-21, दूसरा माला,
   आदर्श कॉम्पलेक्श आफ मार्वे रोड, मलाड (वेस्ट) मुम्बई
3. **श्री विनोद कुमार जैन** फोन : 0141-2603340
   6, सतीजी की बगीची, मोती डूँगरी रोड, जयपुर (राज.)
4. **श्री विजय कुमार जैन** फोन : 0744-2323960
   ए. जैनको, नयापुरा-कोटा (राज.)
5. **श्री ऋषभनन्दन जैन** फोन : 0120-2894587
   4/472,पार्क एवेन्यु, सेक्टर 4,वैशाली, जिला-गाजियाबाद (उ. प्र.)
6. **श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र** फोन : 07469-224323
   श्रीमहावीरजी, जिला-करौली (राज.) 322 220
7. **श्री दिगम्बर जैन नसियाँ (भटट्टारकजी)** फोन : 0141-2381586
   नारायणसिंह सर्किल, टोंक रोड़, जयपुर (राज.)
8. **श्री मनीष कुमार जैन** फोन : 0141-2702222
   कार्यालय - 'लौकान्तिक' ए-31a अनीता कॉलोनी,
   अम्बेडकरमार्ग, बजाजनगर, जयपुर (राज.)

मुद्रण व्यवस्था : जैन कम्प्यूटर्स, मोबाइल : 094147-17816 फोन : 0141-2701056 फैक्स : 2709865

दो शब्द

संसार के दुःखों से सन्तप्त एवं भयभीत प्राणियों के लिए जिनवाणी ही एकमात्र शीतल छाया एवं निर्भयता प्रदान करती है। यह हमारा सौभाग्य है कि आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध भवताप-शमन करनेवाली पूज्य माँ जिनवाणी हमें प्राप्त हुई है।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम से सभी का ज्ञान एकसमान नहीं होने से न्यूनाधिक देखा जाता है। अतः आचार्यों ने सर्वोपकारक जिनेन्द्र देव की दिव्यवाणी का संकलन चार शैलियों में किया है, इन्हीं शैलियों द्वारा कथन करने की पद्धति को अनुयोग कहते हैं। चार अनुयोगों में लिपिबद्ध जिनवाणी वीतरागता की पोषक होने से सर्वोपकारक है और रत्नत्रय प्रदान करनेवाली है।

नवीन रुचिवन्त जीवों के लिए तो प्रथमानुयोग विशेष लाभदायक होता ही है, साथ ही इसके अध्ययन से अभ्यासी जीवों की श्रद्धा भी दृढ़ होती है। आचार्यों ने इसमें 63 शलाका पुरुषों के साथ अन्य महापुरुषों के जीवन-चरित्रों एवं प्रेरक प्रसंगों को लेकर पुराणों की रचना की है। इन कथाओं के माध्यम से जिनागम में वर्णित तत्त्वज्ञान का परिचय कराया है।

आचार्यों प्रणीत पुराण ग्रंथ तो मूलतः पठनीय हैं ही, परन्तु समय की कमी एवं रुचि के बदलाव को देखते हुए आधुनिक कथाकारों ने मूल कथानक एवं तत्त्वज्ञान को ज्यों का त्यों रखते हुए कथानक के आकार को छोटा करके उन्हें आधुनिक भाषा-शैली में लिख दिया है, जो आबाल-वृद्ध सभी को सहज पठनीय एवं बोधगम्य सिद्ध हुई हैं तथा समय-समय पर छोटे-छोटे प्रकाशनों के माध्यम से आप तक पहुँचकर सभी को प्रभावित और लाभान्वित करती रही हैं।

परन्तु उक्त प्रथमानुयोग के लघु प्रकाशन भारतवर्ष के समस्त जैन समाज तक नहीं पहुँच सके और लघुकाय होने के कारण कुछ तो जीर्ण-शीर्ण होकर विलुप्त हो गये या कुछ घरों की अलमारियों की संग्रहणीय वस्तु बन गये। इससे तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की भावना रखने वाले कुछ साधर्मी बन्धुओं की ओर से सुझाव प्राप्त हुआ कि क्यों न भिन्न-भिन्न लेखकों की पौराणिक कथाओं को एक ही ग्रन्थ में संकलित कर प्रकाशित कराके भारतवर्ष के सभी दिगम्बर जिनमन्दिरों में निःशुल्क भेजा जाए, ताकि धर्म-जिज्ञासु जीव मन्दिरजी में आकर उस ग्रंथ के माध्यम से महापुरुषों के जीवन से परिचित हो सकें, साथ ही भगवान की वाणी के रहस्य को भी प्राप्त कर सकें। इस परम पवित्र भावना का साकार रूप यह **''जैन कथा संग्रह (प्रथम भाग)''** आपके करकमलों में है। **साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं दीपक भी है, मार्गदर्शक भी है।** प्रस्तुत ग्रंथ समाज को कुछ दिशाबोध दे सके तो यह हमारा प्रथम प्रयास निश्चित ही सफल होगा।

समिति अबतक जैन कथा संग्रह भाग 1, 2, 3 एवं भव्यप्रमोद समाज को उपलब्ध करा चुकी है। शीघ्र ही **''जैन कथा संग्रह (चतुर्थ भाग)''** उपलब्ध कराने हेतु तत्पर है।

''आचार्यों/विद्वानों द्वारा प्रणीत अप्रकाशित/अनुपलब्ध ग्रंथों'' का प्रकाशन करना प्रस्तावित है। इस संदर्भ में प्रकाशन को अधिक उपयोगी बनाने हेतु आपके सुझाव व विचार सादर आमंत्रित हैं। साथ

ही आपके पास/आपके मन्दिरजी में उपलब्ध सर्वजनहिताय साहित्य हो तो, हमें उसकी एक प्रति या फोटोस्टेट पहुँचाकर इस महानकार्य में सहभागी बनें, ताकि हम उन्हें आगामी प्रकाशनों में शामिल कर सकें।

अन्त में समिति के संयोजक व प्रस्तुत ग्रंथ के संकलक एवं सम्पादक पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने प्रत्येक कहानी के चयन एवं सम्पादन, प्रकाशन आदि समस्त क्षेत्रों में सराहनीय एवं अनुकरणीय परिश्रम कर ग्रंथ को आकर्षक व सर्वजनसुलभ बनाया है। इस कार्य में प्रस्तुत ग्रंथ में जिन कथाकारों द्वारा लिखित कथाओं का समावेश किया गया है, हम उन सभी के प्रति हृदय से विशेष आभार व्यक्त करते हैं; क्योंकि उनके द्वारा लिखित कथाओं ने ही हमें इस कार्य को करने की प्रेरणा दी है।

समिति के सभी पदाधिकारियों, परमसंरक्षक आदि स्थाई सदस्यों का भी आभार व्यक्त करते हैं, जिनका समय-समय पर बहुमूल्य मार्गदर्शन एवं आर्थिक सहयोग मिलता रहा है। समिति के कोषाध्यक्ष श्री विनोद जैन का विशेष आभार मानते हैं; क्योंकि इस कार्य में आदि से अन्त तक उनका बहुमूल्य सहयोग रहा है। अन्त में उन सभी व्यक्तियों के भी हृदय से आभारी हैं, जिनसे हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग देनेवाले सभी दानदातारों का भी समिति आभार व्यक्त करती है तथा आशा करती है कि भविष्य में भी वे इसीप्रकार का सहयोग देते रहेंगे।

प्रस्तुत ग्रंथ की लागत राशि अत्यधिक होने पर भी इसकी न्यौछावर-राशि मात्र ५० रुपये रखी गई है, ताकि समाज के उच्च वर्ग से सामान्य वर्ग तक का प्रत्येक व्यक्ति इस ग्रंथ को अपनी ओर से **किसी एक जिनमन्दिर में भेजकर ज्ञानदान का लाभ प्राप्त कर सके**। भारत भर के समस्त दिगम्बर जिनमन्दिरों में भेजने का यह महान एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य आपके उदार सहयोग के बिना असम्भव है।

आप भी जिनमन्दिरों में ग्रंथ पहुँचाकर, प्रकाशन में सहयोग कर तथा समिति के सदस्य बनकर अपना बहुमूल्य योगदान दे सकते हैं। एतदर्थ राशि नगद या ड्राफ्ट द्वारा "**श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति**" के नाम से भिजवायें।

ग्रंथ के आकर्षक मुद्रण हेतु जैन कम्प्यूटर्स, जयपुर को समिति धन्यवाद ज्ञापित करती है, जिन्होंने इस ग्रंथ को सर्वांगीण रूप से आकर्षक बनाया है एवं प्रूफ-रीडिंग में भी पूरी निष्ठा व लगन से कार्य करते हुए ग्रंथ को त्रुटि रहित बनाने का प्रयास किया है। इससे पूर्व के संस्करणों में जो भी त्रुटियाँ रह गईं थीं, उन्हें इसमें ठीक कर दिया गया है, फिर भी यदि अब भी कोई त्रुटि रह गई हो तो आप हमें अवश्य अवगत करावें, ताकि उसे आगामी संस्करण में सुधारा जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ का आद्योपान्त स्वाध्याय कर समस्त जीव स्वयं धर्म सन्मुख हों एवं अन्य जीवों को भी स्वाध्याय की प्रेरणा देकर धर्म सन्मुख करें। यह ग्रंथ आपके लौकिक व पारलौकिक जीवन की सफलता में प्रबल निमित्त बने। — इसी पवित्र पावन भावना के साथ...।

प्रमोद कुमार जैन, अध्यक्ष　　　　पण्डित राजकुमार जैन, मंत्री

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति

सम्पादकीय

भारतवर्ष की शस्य श्यामला भूमि सदैव से ही महापुरुषों के जन्म एवं उनके लोक-कल्याणकारी कार्यों की साक्षी रही है। महापुरुषों का मोक्षमार्गी जीवन तो नितान्त अनुकरणीय है ही, परन्तु लौकिक जीवन में भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के मध्य उनके तात्त्विक एवं सकारात्मक चिन्तन से हमारे लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं का उद्‌घाटन होता रहा है। इस तरह महापुरुषों ने वीतरागता के पथ पर चलकर न केवल स्वयं का कल्याण किया, वरन् जीवन के प्रेरक प्रसंगों एवं तात्त्विक विचारों का प्रवाहन कर अनगिनत जीवों के लिए मोक्षमार्ग में निमित्त बने। आज भी उनके जीवन-चरित्रों से प्रेरणा पाकर अनेक जीव स्व-कल्याण में आरूढ़ हैं। इन्हीं महापुरुषों के चरित्र वर्णन को प्रथमानुयोग कहा जाता है। यद्यपि जिनागम के चारों अनुयोगों का उद्‌देश्य येन-केन-प्रकारेण दुःखी जीवों को सुख प्राप्ति की ओर उन्मुख करना है; परन्तु करणानुयोग का विषय कठिन होने से विशेष क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है, वहीं द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग रुचिवन्त अभ्यासी जीवों को ही सुगमता से स्पष्ट हो पाता है, जिसके लिये दैनिक स्वाध्याय और पारस्परिक चर्चा अपेक्षित है।

परन्तु आज के अत्यन्त व्यस्ततम जीवन एवं पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभाव से युवाओं और बालकों में धार्मिक संस्कारों का प्रायः अभाव-सा होता जा रहा है और जो कुछ धार्मिक संस्कार या संगठन दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनकी ऊर्जा क्रियाप्रधान आयोजनों में अत्यधिक उलझकर जिनागम के मूलतत्त्व को स्पर्श करने में असफल सिद्ध हो रही है। ऐसे समय में मूल वस्तुतत्त्व को हमारे जीवन में बनाये रखने के प्रयास में प्रस्तुत कृति **''जैन कथा संग्रह (प्रथम भाग)''** का प्रकाशन एक सार्थक सुदृढ़ व सकारात्मक प्रयास है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथमानुयोग की मूलकथाओं के आधार से वस्तुतत्त्व को प्रस्तुत करने में पूर्णतः सक्षम है।

इस ग्रन्थ में भयंकर उपसर्गों में अडिग रहने वाले दिगम्बर मुनिराजों के अन्तरंग-बहिरंग स्वरूप का यथार्थ परिचय – ''देखो, परिणामों की विचित्रता'', ''क्षमामूर्ति बालि मुनिराज'', ''भवरोग की दवा'', ''आत्मसाधक वीर गजकुमार'' आदि कथाओं के माध्यम से कराया गया है; वहीं दूसरी ओर लौकिक जीवन में भीषण प्रतिकूलताओं के मध्य भी अद्‌भुत धैर्य रखनेवाले महापुरुषों की तत्त्वज्ञान के प्रति उनकी अटूट आस्था को ''धर्म को न छोड़ दें !'', ''वासना विजयी सुदर्शन'', ''वनवासी अंजना ''आदि प्रेरणास्पद कथाओं में प्रतिबिम्बित किया गया है। इसी तरह ''राग से वैराग्य की ओर'', ''धन्य है उनका वैराग्य'', ''भोगी से योगी'', ''चमत्कारी वैराग्य''आदि कथाओं के माध्यम से भोगों से विरक्ति का सार्थक उपदेश दिया है। साथ ही ''पशु से परमात्मा'', ''एक सिंह की आत्मकथा'', ''त्रिलोकमण्डन हाथी'' आदि पशुप्रधान पात्रों की कहानियों को संकलित कर जैनधर्म की सर्वव्यापकता का सन्देश दिया है।

इसीक्रम में तार्किक शैली में निबद्ध ''आप कुछ भी कहो'', ''अभागा भरत'', ''उच्छिट भोजी'', ''जागृत विवेक'', ''अक्षम्य अपराध'' जैसी कथाओं की लेखन शैली सहज ही सोचने पर बाध्य कर देती है।

''पुण्यपाप की विचित्रता'', ''विचित्र होनहार'', ''द्वारिका कैसे जली ?'' आदि उत्कृष्ट कथाओं के

माध्यम से द्रव्यानुयोग, करणानुयोग की झलक एवं सत्य-अहिंसा आदि पाँच पापों के आंशिक त्याग की कथाओं के माध्यम से चरणानुयोग का सुन्दर मिश्रण पठनीय है। साथ ही सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में प्रचलित कथाओं से भी इस ग्रन्थ को सजाया व सँवारा गया है।

यहाँ कतिपय कहानियों के अंश उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य हैं , जैसे–

घरवालों के समझाने पर दीक्षा को जाते समय राजकुमार देशभूषण-कुलभूषण कहते हैं – "**धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, अत्यन्त शान्ति जिसकी गृहिणी है, सत्य जिसका पुत्र है, दया जिसकी बहिन है और संयम जिसका भाई है** – ऐसा उत्तम वीतरागी परिवार मुनियों को जंगल में आनन्द देता है। फिर **पृथ्वी जिसकी शय्या है, आकाश जिसके वस्त्र हैं, ज्ञानामृत जिसका भोजन है** – ऐसे योगी को डर किसका ? भय तो इस मोहमयी संसार में है, मोक्ष के साधकों को भय कैसा ?"

सासु केतुमती के द्वारा घर से निकाल देने पर अंजना विचारती है – "**जब पूर्व कर्म का उदय ही ऐसा हो, तब धैर्यपूर्वक धर्म सेवन ही शरणभूत है, दूसरा कोई शरण नहीं।**"

वज्रबाहु कहाँ तो अपनी पत्नी के मोह में उसके पीहर तक साथ चल दिए और कहाँ रास्ते में मुनिराज के दर्शन कर दीक्षा ही ले ली, वे दीक्षा लेते समय कहते हैं – "**अरे ! हमें एक क्षण के लिए भी यह संसार नहीं चाहिए......जैसे प्राण निकलने के बाद फिर शरीर शोभा नहीं देता, उसीप्रकार जिससे हमारा मोह छूट गया, ऐसे इस संसार में अब क्षणमात्र के लिए भी हमें अच्छा नहीं लगता।**"

माँ को नाम की नश्वरता का ज्ञान कराते हुए चक्रवर्ती भरत ने कहा – "**नहीं माँ नहीं, मुझे भी भ्रम था; पर जब मैं दिग्विजय के अवसर पर जगप्रसिद्ध शिला पर अपना नाम लिखने गया तो वह शिला उन चक्रवर्तियों के नामों से भरी पड़ी थी, जिन्होंने अबतक इस भरत के छह खण्डों को भोगा था ... मैं जिस वसुधा को अभुक्त समझ रहा था, वह उच्छिष्ट है; मैं अभुक्त भोजी नहीं, उच्छिष्ट भोजी हूँ।**"

प्रथमानुयोग की कथाओं से संकलित इस ग्रन्थ का उद्देश्य मात्र सुधी पाठकों को कथा का ज्ञान कराना नहीं, अपितु उन चरित्रों के माध्यम से स्वयं आचरित होने की प्रेरणा देना है। प्रत्येक कथा इस उद्देश्य की पूर्ति करती हुई आगे-आगे पढ़ने के लिए पाठक की जिज्ञासा को बढ़ाती जाती है।

– इसप्रकार समग्ररूप से विचार करने पर प्रस्तुत ग्रन्थ आगम प्रमाणित होने के साथ-साथ वर्तमान की युवा पीढ़ी और अनभ्यासी एवं अल्प-अभ्यासी रुचिवन्त जीवों को मोक्षमार्ग का यथार्थ दिग्दर्शन कराने के अपने पावन उद्देश्य में अवश्य सफल सिद्ध होगा।

ग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन कर समस्त जीव न केवल जैनधर्म के महापुरुषों के अलौकिक प्रेरणास्पद जीवन से परिचित होंगे, साथ ही उनसे प्रेरित होकर वर्तमान के संतप्त जीवन में उनका प्रयोग कर स्वयं का मोक्षमार्ग प्रशस्त्र करेंगे। समस्त धर्मप्रेमी समाज इसका भरपूर लाभ लेकर अपना लौकिक जीवन सुख-शान्तिमय जीते हुए लोकोत्तर जीवन की ओर अग्रसर हो – यही मंगल भावना है।

– पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री

कथानुक्रमणिका

क्र.	शीर्षक	पृष्ठ
1.	देखो, परिणामों की विचित्रता	1
2.	भवरोग की दवा	8
3.	आत्मसाधक वीर गजकुमार	9
4.	वनवासी अंजना	11
5.	देखो, व्रत की दृढ़ता	17
6.	राग से वैराग्य की ओर	21
7.	धन्य है उनका वैराग्य	27
8.	बन्दर बना गणधर	33
9.	आप कुछ भी कहो	35
10.	अभागा भरत	41
11.	उच्छिष्ट भोजी	45
12.	जागृत विवेक	49
13.	अक्षम्य अपराध	53
14.	वैराग्य	56
15.	धर्म को न छोड़ दें !	57
16.	वैराग्य और वैराग्य का भ्रम	59
17.	श्रावक ... निःशांकित अंग में....	65
18.	निःकांक्षित अंग में प्रसिद्ध अनन्तमती...	70
19.	निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उद्दायन...	76
20.	अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी...	79
21.	उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनभक्त सेठ...	84
22.	स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री...	87
23.	वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध मुनि विष्णुकुमार	92
24.	प्रभावना अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री...	98
25.	देखो, एक प्रतिज्ञा का फल	105
26.	सत्य की असत्य पर विजय	110
27.	फल तो जरूर मिलता है !	116
28.	शीलवती नीली सुन्दरी	120
29.	दृढ़ता के धनी राजा जय	124
30.	उदित और मुदित	127
31.	पुण्य-पाप की विचित्रता	129
32.	पशु से परमात्मा	143
33.	पश्चाताप के आँसू	145
34.	विराधना का प्रतिकार	151
35.	सौतन की डाह	157
36.	भोगी से योगी	164
37.	वासना विजयी सुदर्शन	171
38.	धन्यकुमार चरित्र	177
39.	दृढ़श्रद्धानी श्री वारिषेण	195
40.	क्षमामूर्ति बालि मुनिराज	202
41.	चलूँ मैं भी धर्मामृत का पान...	219
42.	आर्यिका द्वारा मुनिराज का...	229
43.	चमत्कारी वैराग्य	236
44.	अंगूठी के स्थान पर मणि स्वयं में...	243
45.	द्वारिका कैसे जली ?	251
46.	पानी भी नहीं मिला	259
47.	पाण्डवों का वैराग्य	265
48.	मुनिराज, सुअर और वाघ	276
49.	एक सिंह की आत्मकथा	279
50.	त्रिलोकमण्डन हाथी	282
51.	वज्रघोष हाथी की आत्मकथा	288
52.	बोले तो... क्या बोले !	293
53.	जरा-सा अविवेक	295
54.	विचित्र होनहार	298
55.	आटे के मुर्गे की हिंसा का फल	308
56.	ब्रह्म समाये ब्रह्म में	324
57.	संसार-वृक्ष	337
58.	षट्लेश्या वृक्ष	343
59.	विचित्र घटनाचक्र	348
60.	हृदय परिवर्तन	362
61.	सिंह और बन्दर	379
62.	धर्म नहीं छोड़ा	385
63.	अध्यात्म-युगसृष्टा आचार्यदेव	388

सिंह का वैराग्य

एक सिंह की सुनो कहानी जंगल में वह मस्ती से।
मार-मार कर खाता निश-दिन जीव वहाँ की बस्ती से॥
क्रूर जानवर क्रूर हृदय से क्रूर कर्म में निपुण महान।
जिसके नख ही करते रहते हर-क्षण तलवारों का काम॥
एक दो नहीं पाँच दस नहीं होते चार पैर के बीस।
पकड़े और खाय जीवित ही अलग करे नहिं धड़ से सीस॥
एक समय वह हिरण पकड़ कर खाय रहा था हो निर्भय।
अकस्मात् इक घटना घटती भव्य सुनो उसका निर्णय॥
चारण ऋद्धीधारी मुनिवर जो दोय गगन से उतर रहे।
वे इसको देख नजर इसकी में अपनी नजर मिलाय रहे॥
अब तो वह सिंह सोचता उस क्षण मानों मुझ से बोल रहे।
होता भी ऐसा है सचमुच मुनिवर उसको सम्बोध रहे॥
अय सिंहराज ! क्या सोच रहे हो ये नहिं काम तुम्हारा है।
जिनशासन नायक पद पाने का आया समय तुम्हारा है॥
निज शक्ति का कुछ पता नहीं यातें कुकृत्य अपनाय लिया।
अब भी तू चेत अरे चेतन ! तू सिंह नहीं सुन खोल हिया॥
तब उसने अगले पैर जोड़कर करी वन्दना उसी समय।
अन्दर से फिर वैराग्य जगा मानों कुकृत्य से खाया भय॥
आँखों में आँसू भरकर के स्वीकृत अपना अपराध किया।
अरु पड़ा शान्त चरणों में मानों वह अब माफी माँग रहा॥
कोई उपाय नहिं जीने का ऐसी पर्याय लई मैंने।
अब खाकर माँस रहूँ जीवित फिर क्या कुकृत्य छोड़ा मैंने॥
तातैं भोजन-पानी तजकर लीनी समाधि निज आतम-हित।
तब मरा जान वन जीव सभी निर्भय हो देख रहे दे चित॥
वह भी समाधि से नहीं डिगा निज-आराधन में अडिग हुआ।
तब देह-त्याग सौधर्म स्वर्ग में हरिध्वज नामा देव हुआ॥
दशवें भव में वे महावीर तीर्थंकर भी बन जाते हैं।
पशु से परमातम बने, 'प्रेम' विधि जैनधर्म में पाते हैं॥

इसके रचनाकार कवि श्री प्रेमचन्द जैन 'वत्सल' हैं—साभार

1

देखो, परिणामों की विचित्रता

(दो राजकुमारों की कथा)

महापुरुष रामचन्द्रजी के समय की बात है। सिद्धार्थ नगरी के राजा क्षेमंकर और रानी विमलादेवी के देशभूषण और कुलभूषण नामक दो राजकुमार थे। दोनों भाइयों को एक-दूसरे के प्रति अपार प्रेम था। वे मात्र इसी भव में नहीं, बल्कि पूर्व में अनेक भव से एक-दूसरे के भाई थे। दोनों भाई आत्मा को जाननेवाले थे और पूर्वभव के संस्कारी थे।

राजा ने बाल्यावस्था से ही दोनों को विद्याभ्यास के लिए देशान्तर भेज दिया था। पन्द्रह वर्ष तक दोनों भाई विद्याभ्यास में इतने मग्न रहे कि विद्यागुरु के अलावा किसी और को जानते तक नहीं थे। विद्याभ्यास पूरा करके जिस समय दोनों युवा राजकुमार घर आये, उस समय राजा ने नगरी का श्रृंगार करके उनका भव्य सम्मान किया और उनके विवाह के लिए राजकन्याओं को पसन्द करने की तैयारी की।

दोनों भाइयों की स्वागत यात्रा जब सम्पूर्ण नगरी में घूमती हुई राजमहल के पास आई, तब उन्होंने वहाँ झरोखे में एक अतिसुन्दर राजकन्या को प्रसन्नमुद्रा में खड़ी देखा। उसका अद्भुत रूप देखकर दोनों राजकुमार उसके ऊपर मुग्ध हो गये। वह राजकन्या भी एकटक उनको देख रही थी और उन दोनों का रूप देख-देख कर बहुत प्रसन्न हो रही थी।

अब, एकसाथ उन देशभूषण और कुलभूषण दोनों भाइयों को ऐसा लगा कि यह राजकन्या मेरे लिए ही है...यह मेरे ऊपर प्रसन्न हो रही है, मैं ही इससे विवाह करूँगा, परन्तु दूसरा भाई भी इसी राजकन्या के ऊपर ही नजर रखकर उसे राग से निहार रहा है – यह देखकर दोनों को एक-दूसरे पर द्वेष आया कि यदि मेरा भाई इस कन्या के ऊपर नजर रखेगा तो मैं उसे मारकर इस

राजकन्या से विवाह करूँगा। – ऐसा मन ही मन में वे एक-दूसरे को मारकर भी उस राजकन्या के साथ विवाह करने की सोच रहे थे। दोनों का चित्त एक ही राजकुमारी में एकदम आसक्त था, इस कारण वे एक-दूसरे से कहने लगे – "इस राजकुमारी के साथ मैं विवाह करूँगा, तुम नहीं।"

इस प्रकार मैं-मैं....तू-तू करते-करते दोनों भाई हाथी के ऊपर बैठे-बैठे वाद-विवाद करने लगे। कन्या के मोहवश दोनों भाई एक-दूसरे के प्रति स्नेह भूल गये और द्वेषपूर्ण बर्ताव करने लगे। कन्या की खातिर एक-दूसरे से लड़ने के लिए तैयार हो गये।

अरे विषयासक्ति ! भाई-भाई के स्नेह को भी तोड़ देती है। अरे रे ! चार-चार भव से परम स्नेह रखनेवाले दोनों भाई इस समय विषयासक्तिवश एक-दूसरे को मारने के लिए भी तैयार हो गये।

हृदय-परिवर्तन –

इतने में कुछ शब्द उनके कान में पड़ते ही दोनों भाई चौंक गये...जैसे बिजली ही उनके ऊपर पड़ गई हो, कैसे दोनों स्तब्ध हो गये ?...क्या शब्द थे वे ?

उनके साथ में चल रहे बुद्धिमान मंत्री ने जब दोनों राजकुमारों को लड़ाई करने की तैयारी करते देखा तथा "दोनों की नजर भी राजकुमारी की ओर ही लगी है"– यह देखा, तब उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि "ये दोनों राजकुमारी के लिए ही लड़ रहे हैं...."।

उन्होंने कहा – "देखो, राजकुमारो ! सामने राजमहल के झरोखे में 'तुम्हारी बहिन' खड़ी है, बहुत वर्षों बाद तुम्हें पहली बार देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो रही है कि अहा ! कितने अच्छे लग रहे हैं मेरे भाई ! अतः टकटकी लगाकर तुम्हें निहार रही है। तुम विद्याभ्यास करने गये थे, उसके बाद इसका जन्म हुआ था, यह तुम्हारी बहिन तुम्हें पहली बार देखकर कितनी खुश है ! तुम भी इसे पहली बार देख रहे हो...."

"अरे रे ! इस झरोखे में खड़ी-खड़ी जो हमारे सामने हँस रही है, वह राजकुमारी कोई और नहीं, हमारी ही सगी बहिन है।" – ऐसा जानकर दोनों भाइयों के मन में जबरदस्त झटका लगा। लज्जा से वे वहीं ठहर गये।

वे सोचने लगे – "अरे रे ! यह तो हमारी छोटी बहिन है ! हमने इसे कभी देखा नहीं, जिससे समझ नहीं सके, अज्ञानता के कारण हम अपनी बहिन के ऊपर ही विकार से मोहित हुए ! और एक-दूसरे को मारने का विचार करने लगे ! अरे, विषयांध होकर हम भाई-भाई के स्नेह को भी भूल गये। हाय रे ! हमें यह दुष्ट विचार क्यों आया ?

अरे रे ! ऐसे संसार में क्या रहना ? जहाँ एक भव की स्त्री दूसरे भव में माता या बहिन हो, एक भव की बहिन दूसरे भव में स्त्री आदि हो। अब इस संसार से विराम लेना चाहिये। अनेक दुःखों से भरा हुआ यह संसार, जिसमें दुष्ट मोह, जीव को अनेक प्रकार से नाच नचाता है। हमें धिक्कार है कि मोह के वश होकर हमने अपनी बहिन के ऊपर विकार भाव किया। अरे रे ! अब, माता-पिता को हम क्या मुँह दिखायेंगे ?''

– ऐसा विचार करके उन्हें राजमहल जाने में अत्यन्त शर्म महसूस हुई। इसप्रकार संसार को असार समझकर दोनों भाई अत्यन्त विरक्त हुए और वहाँ से लौट गये तथा जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गये। मुनि देशभूषण और कुलभूषण आत्मसाधना में तत्पर हुए। वे देश-देशान्तर में विचरण करते हुए पृथ्वी को तीर्थरूप बनाने लगे....उनके पिता दोनों पुत्रों के विरह में आहार को त्याग करके, प्राण छोड़कर भवनवासी देवों में गरुडेन्द्र हुए।

मोक्षगामी राजकुमार....और उनका कुटुम्ब –

देशभूषण और कुलभूषण – दोनों राजकुमार भाई जिस समय एकाएक संसार से विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेने के लिए तैयार हुए, उसी समय पुत्रवियोग से व्याकुल माता ने पुत्रों को रोकने हेतु बहुत प्रयत्न किया, उसकी बहिन ने भी मुनिपने में बहुत कष्ट बताते हुए कहा –

''हे बन्धुओ ! वहाँ कोई माता-पिता या परिवार नहीं है, कुटुम्ब के बिना वन में अकेले किस प्रकार रहोगे ?''

तब वैरागी कुमारों ने कहा – ''हे माता ! हे बहिन ! मुनियों के तो महा-आनन्द है। उनका महान चैतन्य परिवार उनके साथ ही है। वहाँ वे कोई अकेले नहीं हैं,'' कहा भी है –

(शार्दूलविक्रीडित छन्द)

''धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननि शान्तिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं सुतरयं दया च भगिनि भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं,
ऐते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे ! कस्मात् भयं योगिनः ॥

धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, अत्यन्त शान्ति जिसकी गृहिणी है, सत्य जिसका पुत्र है, दया जिसकी बहिन है और संयम जिसका भाई है – ऐसा उत्तम वीतरागी परिवार मुनियों को जंगल में आनन्द देता है। फिर **पृथ्वी जिसकी शय्या है, आकाश जिसके वस्त्र**

हैं, ज्ञानामृत जिसका भोजन है – ऐसे योगी को डर किसका ? भय तो इस मोहमयी संसार में है, मोक्ष के साधकों को भय कैसा ?''

ऐसा कहकर देशभूषण-कुलभूषण दोनों कुमार वन में चले गये और दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उनकी बहिन आर्यिका हो गयी। दोनों राजकुमार मुनि होकर चैतन्य के अनन्त गुणों से भरे-पूरे परिवार के साथ अत्यन्त आनन्द के साथ क्रीड़ा करने लगे। शुद्धोपयोग के द्वारा निजगुण के स्व-परिवार के साथ भाव-विभोर होते हुए मोक्ष की साधना करने लगे।

एक बार जब दोनों मुनिराज वंशधर पर्वत की चोटी पर प्रतिमायोग धारण कर उग्र ध्यान में लीन थे, तब पूर्व की द्वेषबुद्धि से प्रेरित होकर दुष्ट अग्निप्रभदेव आकर उन पर घोर उपसर्ग करने लगा। उसी समय अपने चौदह वर्ष के वन प्रवास के समय जब राम-सीता और लक्ष्मण वंशधर पर्वत के समीपस्थ वंशस्थल नगर के पास से होकर जा रहे थे; तब अत्यन्त भयभीत नगरजनों को देखकर राम द्वारा उसका कारण पूछे जाने पर नगरजनों ने कहा–

''यहाँ रोज रात्रि के समय कोई दुष्ट देव भयंकर उपसर्ग करता है, उसकी अत्यन्त कर्कश आवाज से यहाँ के सभी जन भयभीत हैं। पता ही नहीं चलता कि पर्वत के ऊपर पिछले तीन दिन से रात्रि को क्या होता है ? यह सुनकर श्री राम उस पर्वत पर जाने को उद्यत हुए, तब नगरजनों ने कहा – वहाँ बहुत डर है, जिसे तुम बरदाश्त नहीं कर सकते, इसलिए तुम वहाँ मत जाओ और हमारे साथ सुरक्षित स्थान पर चलो।''

ऐसा सुनकर सीता भी भयभीत होकर कहने लगी – ''हे देव ! आप वहाँ मत जाइये। चलो, हम भी इन लोगों के साथ निर्भय स्थान में जाकर ही रात्रि बितायेंगे।''

उस समय राम ने हँसकर कहा – ''हे जानकी ! तुम तो बहुत कमजोर हो। तुम्हें लोगों के साथ जाना हो तो तुम जाओ। मैं तो रात को इसी पर्वत के ऊपर रहूँगा और यहाँ यह सब क्या हो रहा है ? उसे देखूँगा। मुझे कोई डर नहीं है।

तब सीता ने कहा – ''हे नाथ ! तुम्हारा हठ दुर्निवार है। तुम जाओगे तो मैं भी साथ ही आऊँगी। जब आप और लक्ष्मण जैसे वीर मेरे साथ हैं, तब फिर मुझे भी भय कैसा ? – ऐसा कहकर वह भी राम-लक्ष्मण के साथ ही वंशधर पर्वत की ओर चल पड़ी।

लोगों ने उन्हें न जाने के लिए बहुत समझाया; परन्तु राम-लक्ष्मण निर्भयतापूर्वक पर्वत की ओर चले गये, सीता भी उनके साथ गयी। सीता भय से कहीं पर्वत के ऊपर से गिर न जाये

– ऐसा विचार कर राम आगे और लक्ष्मण पीछे, बीच में सीता – इसप्रकार दोनों भाई बहुत सावधानी से सीता को पहाड़ के शिखर तक ले गये।

पहाड़ के ऊपर जाकर उन्होंने अद्भुत आश्चर्यकारी दृश्य देखा। अहो ! अत्यन्त सुकोमल दो युवा मुनिराज देह से भिन्न अपने आत्मा का ध्यान कर रहे हैं। नदी के समान गंभीर उनकी शान्त मुद्रा है – ऐसे वीतरागी मुनि भगवन्तों को देखकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई और भक्ति-भाव से स्तुति की, जिसे सुनकर पर्वत के ऊपर रहनेवाले पशु भी मोहित हो गये और वहाँ आकर शान्ति से बैठ गये। उसके बाद राम-सीता और लक्ष्मण वहीं रुक गये।

फिर रात हुई....और असुर उपद्रव करने वहाँ आ पहुँचा, बड़ा भयंकर सर्प का रूप लेकर जीवों को फुंकारते हुए वह उन मुनिराजों के शरीर से लिपट गया। राम-लक्ष्मण इस उपद्रव को असुर की माया समझकर उस पर अतिशय क्रोधित हुए। सीता तो उसका भयंकर रूप देखकर भय से डर ही गयी.... तब राम ने कहा – "हे देवी ! तुम भय मत करो।"

इसप्रकार सीता को धीरज बँधाकर दोनों भाइयों ने मुनियों के शरीर से सर्प को दूर किया। बलदेव और वासुदेव के पुण्य प्रताप से असुरदेवों की विक्रिया का जोर नहीं चला। उसने अपनी विक्रियाजनित माया समेट ली। इसप्रकार उपसर्ग दूर हुआ समझकर राम-सीता और लक्ष्मण आनन्द पूर्वक मुनिराजों की स्तुति करने लगे –

"हे देव ! आप तो संसार से उदास मोक्ष के साधक हो, आप मंगल हो, आपकी शरण लेकर भव्यजीवों का भवरूपी उपसर्ग दूर हो जाता है और आनन्दमय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। अहो, आप जिनमार्ग के प्रकाशक हो और सम्यक्त्वादि तीन उत्तम रत्नों के द्वारा सुशोभित हो रहे हो, आत्मा की साधना में आप मेरू के समान निश्चल हो। तुच्छ असुरदेव पिछली तीन रातों से घोर उपद्रव करता रहा, फिर भी आप आत्मसाधना से नहीं डिगे, जरा-सा विकल्प भी नहीं किया। धन्य है आपकी वीतरागता ! आपके पास एक नहीं, परन्तु अनेक लब्धियाँ हैं, आप चाहें तो असुरदेव को क्षणमात्र में परास्त कर सकते हो/भगा सकते हो।....परन्तु ऐसे उपसर्ग कर्त्ता के प्रति भी आपको क्रोध नहीं। – ऐसे आप चैतन्य के ध्यान के द्वारा/शुक्लध्यान के द्वारा केवलज्ञान साधने में तत्पर हो।"

इसप्रकार वे उनके चरणों में बैठकर स्तुति करते रहे....; लेकिन वहाँ मध्यरात्रि के समय वह दुष्ट देव फिर से आया और मुनियों के ऊपर पुनः उपसर्ग करने लगा। भयानक रूप धारण करके राक्षस और भूतों के समूह नाचने लगे। विचित्र आवाज कर-करके शरीर में से अग्नि की लपटें

निकालने लगे.......... हाथ में तलवार-भाला लेकर कूदने लगे। उनके उत्पात से पर्वत की शिलाएँ भी काँपने लगीं। मानों कोई भयंकर भूकम्प ही आया हो।

जिस समय बाहर में यह सब कुछ हो रहा था, उसी समय दोनों मुनिवर अन्दर शुक्लध्यान में मग्न होकर आत्मा के अपार आनन्द का अनुभव कर रहे थे। बाहर क्या हो रहा है ? इस पर उनका लक्ष्य नहीं था। सीता यह दृश्य देखकर पुन: भयभीत होने लगी, तब राम ने कहा –

"देवी ! तुम डरो मत, तुम इन मुनिवरों के चरणों में ही बैठी रहो, हम इन दुष्टों को भगा कर आते हैं।" – ऐसा कहकर सीता को मुनिराजों के चरणों में छोड़कर राम-लक्ष्मण ने दुष्ट असुरदेव को ललकारा।

राम के धनुष की टंकार से ऐसा लगा मानों वज्रपात हो गया हो। लक्ष्मण की सिंह-गर्जना सुन करके अग्निप्रभ-देव समझ गया कि ये कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, ये तो महाप्रतापी बलदेव और वासुदेव हैं; अत: राम-लक्ष्मण का पुण्य-प्रताप देखकर वह अग्निप्रभदेव भाग गया और उसकी सब माया भी समाप्त हो गई तथा फिर से उपसर्ग दूर हुआ।

उपसर्ग दूर होते ही ध्यान में लीन देशभूषण और कुलभूषण मुनिराजों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। तब केवलज्ञान उत्सव मनाने के लिए स्वर्ग से देव आये। चारों ओर मंगलनाद होने लगा। रात्रि भी दिव्य प्रकाश से जगमगा उठी। केवलज्ञान के प्रताप से रात और दिन में कोई भेद नहीं रहा। मानों रात्रि की छाया असुरकुमार देव के साथ ही चली गई हो।

अहो, अपने सामने मुनि भगवन्तों को केवलज्ञान होता देखकर राम-सीता और लक्ष्मण को तो अपार आनन्द हुआ। हर्षित होकर उन्होंने सर्वज्ञ भगवन्तों की भक्ति-भाव से परम स्तुति की, दिव्यध्वनि द्वारा भगवान का उपदेश सुना। अहो, प्रभु के श्रीमुख से चैतन्यतत्त्व की कोई परम अद्भुत गम्भीर महिमा सुनकर उनके आनन्द का पार न रहा। देशभूषण-कुलभूषण के पिता जो मरकर गरुडेन्द्र हुए थे, वे भी केवली भगवान के दर्शन करने के लिए आये। यहाँ राम-लक्ष्मण से मिलकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और आदरपूर्वक बोले –

"ये दोनों मुनि हमारे पूर्वभव के पुत्र हैं, तुमने इनकी भक्ति की और इनका उपसर्ग दूर किया – यह देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। इसलिए जो माँगना हो, वह माँगो, मैं तुम्हें वही दूँगा।"

तब राम ने कहा – "जब कभी हम पर संकट आये, तब आप हमारी मदद करें।"

यह वचन प्रमाण करके गरुडेन्द्र ने कहा – "अच्छा, तुम यही समझना कि मैं तुम्हारे पास ही हूँ।"

केवली भगवान की वाणी सुनकर अनेक जीवों ने धर्म प्राप्त किया। राजा और प्रजाजनों ने नगरी में आकर आनन्दपूर्वक उत्सव मनाया। केवलज्ञान के प्रताप से सर्वत्र आनन्द-मंगल छा गया। भगवान की वाणी में ऐसा आया कि रामचन्द्रजी इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

'श्री रामचन्द्रजी बलभद्र हैं, तद्भव मोक्षगामी हैं।' – ऐसा केवली प्रभु की वाणी में सुनकर लोगों ने उनका बहुत सम्मान किया। मुनिवरों को केवलज्ञान उत्पन्न होने से उस भूमि को महा तीर्थरूप समझकर राम-सीता और लक्ष्मण बहुत दिनों तक वहीं रहे और महान उत्सवपूर्वक पर्वत पर अनेक मन्दिर बनवाकर अद्भुत जिन-भक्ति की। उसी समय से यह पर्वत 'रामटेक तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है।

गगनविहारी देशभूषण-कुलभूषण केवली भगवन्त दिव्य-ध्वनि से अनेक देशों के भव्यजीवों को धर्म का प्रतिबोध कराते हुए अयोध्यानगरी में पधारे। तब फिर से उन केवली भगवन्तों के दर्शन करके राम-लक्ष्मण आदि राजा-प्रजा सभी को बहुत हर्ष हुआ। उनका धर्मोपदेश सुनकर भरत ने दीक्षा ली और त्रिलोकमण्डन हाथी ने भी श्रावक व्रत अंगीकार किये। उसके बाद विहार करते हुए वे दोनों केवली भगवन्त कुन्थलगिरी पधारे और वहाँ से मोक्ष प्राप्त कर सिद्धालय में विराजमान हुए। दोनों भाई संसार में अनेक भव साथ रहे और आज मोक्ष में भी साथ-साथ ही विराजमान हैं। उन केवली भगवन्तों को हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र महाराष्ट्र में है, वहाँ से ये देशभूषण तथा कुलभूषण मुनिवर मोक्ष गये हैं। उनकी यादगार के लिये अभी भी पहाड़ के ऊपर उन दो भगवन्तों की सुन्दर प्रतिमायें हैं। सिद्धक्षेत्र बहुत रमणीय स्थान है। देशभूषण-कुलभूषण दोनों चार भव से सगे भाई थे। आप उनकी जीवन कथा पढ़कर अपने जीवन में आत्मसात कर उन जैसे बनने की भावना भाते हुए कल्याण मार्ग पर लगें – यही इस कथा का उद्देश्य है।

2

भवरोग की दवा

जब अतिशय रूपवाले चक्रवर्ती सनतकुमार को मुनिदशा में भयंकर कोढ़ रोग हो गया। तब उनके धैर्य की प्रशंसा सुनकर एक देव, वैद्य का रूप धारण करके आया और कहने लगा– "प्रभो ! आपकी आज्ञा हो तो मेरी औषधि से आपका रोग एक क्षण में मिट सकता है।"

उस समय मुनिराज ने कहा– "हे वत्स ! इस शरीर का कोढ़ रोग मिट जावे – ऐसी ऋद्धि (ताकत) तो मेरे थूक में ही है, परन्तु मुझे देह के रोग की जरा भी चिन्ता नहीं है, मुझे तो अपनी आत्मा को भवरोग से मुक्त करना है। उसकी दवा तुम्हारे पास हो तो भवरोग दूर कर दो।"

तब देव ने कहा- " हे प्रभु ! इस भवरोग को मिटाने की रत्नत्रय औषधि तो आपके पास ही है।" और अन्त में सचमुच मुनिराज ने रत्नत्रयरूपी वीतरागी औषधि से अपना भवरोग मिटाया।

इस दृष्टान्त से श्री गुरु कहते हैं कि – " **हे जीव ! तू देह की चिन्ता मत कर, आत्मा को दुःखी करनेवाले भवरोग को मिटाने का उपाय कर।**

हे जीव ! यदि तुम जन्म-जरा-मरण के रोग को मिटाना चाहते हो और अजर-अमर होना चाहते हो तो धर्मरूपी अमृत का पान करो।" संसार के डाक्टरों ने टी.वी., कैन्सर आदि की दवा का अनुसंधान तो किया, परन्तु जन्म-मरण के रोग की कोई दवा उनके पास नहीं है। उस भवरोग को मिटाने की दवा तो भगवान जिनदेव ने ही खोजी है।

वह कौन-सी औषधि है ? 'वह रत्नत्रय धर्मरूपी रसायन ही उस भवरोग को मिटाने की अचूक दवा है, उसका सेवन करो। धर्म के सेवन से भव-रोग मिट जाता है और मोक्ष प्राप्त होता है। जब शरीर ही नहीं रहा तो फिर रोग कैसा ? जन्म-मरण कैसा ?

धर्मरूपी-औषधि के सेवन से हे भव्य ! तू सिद्धपद प्राप्त कर अजर-अमर हो जा।'

3

आत्मसाधक वीर गजकुमार

(हरिवंश पुराण का एक वैराग्य प्रसंग)

देवकी माता के आठवें पुत्र श्री गजकुमार श्रीकृष्ण के छोटे भाई और श्री नेमिप्रभु के चचेरे भाई थे। उनका रूप अत्यन्त सुन्दर था। लोक में उन्हें जो भी देखता, वही उन पर मुग्ध हो जाता। श्री नेमिनाथ प्रभु केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर रूप में विचरते थे, यह उसी समय की बात है।

श्रीकृष्ण ने अनेक राजकन्याओं के साथ-साथ सोमिल सेठ की पुत्री सोमा के साथ भी गजकुमार के विवाह की तैयारी की थी। इसी समय विहार करते-करते श्री नेमिनाथ तीर्थंकर का समवसरण द्वारिका नगरी आया। जिनराज के पधारने से सभी उनके दर्शन के लिए गये। श्री नेमिप्रभु के दर्शन कर गजकुमार को एक उत्तम भाव जागा, उन्हें – ऐसा भाव जागा कि –

"अहो ! ये मेरे भाई ! तीन लोक के नाथ जिनेश्वर देव ! मानों मुझे मोक्ष ले जाने के लिए ही पधारे हैं।"

ऐसे नेमिनाथ प्रभु के दर्शन से गजकुमार परम प्रसन्न हुए। प्रभु के श्रीमुख से तीर्थंकरादि का पावन चरित्र सुना। अहो ! यह नेमिनाथ की वाणी ! विवाह के समय ही वैराग्य प्राप्त करने वाले श्री नेमिप्रभु की वीतराग रस से सराबोर वाणी में संसार की असारता और आत्मतत्त्व की परम महिमा सुनकर गजकुमार का हृदय वैराग्य से ओत-प्रोत हो गया, वे तत्क्षण विषयों से विरक्त हो गये।

"वे भावना भाने लगे कि – अरे रे ! मैं अभी तक संसार के विषयभोगों में डूबा रहा और अपनी मोक्ष साधना से चूक गया। अब मैं आज ही दीक्षा लेकर उत्तम प्रतिमायोग धारण करके मोक्ष की साधना करूँगा।"

इसप्रकार निश्चय करके उन्होंने तुरन्त ही माता-पिता, राज-पाट तथा राज-कन्याओं को छोड़कर जिनेन्द्रदेव के धर्म की शरण ले ली। संसार से भयभीत मोक्ष के लिए उत्सुक और प्रभु

के परमभक्त ऐसे उन वैरागी गजकुमार ने भगवान नेमिनाथ की आज्ञापूर्वक दिगम्बरी दीक्षा धारण की। उनकी अनन्त आत्मशक्ति जागृत हो गयी। मुनि गजकुमार चैतन्य के ध्यान में तल्लीन होकर महान तप करने लगे। उनके साथ जिनकी सगाई हुई थी, उन राजकन्याओं को उनके माता-पिता ने बहुत समझाया कि अभी तुम्हारा विवाह नहीं हुआ, हम तुम्हारा विवाह दूसरी जगह बड़े ही धूमधाम से करेंगे, लेकिन उन उत्तम संस्कारी कन्याओं ने दृढ़तापूर्वक कहा –

"नहीं, पिताजी ! मन से एकबार जिन्हें पतिरूप स्वीकार किया, उनके अलावा अब कहीं दूसरी जगह हम विवाह नहीं करेंगे। जिस कल्याण मार्ग पर वे गये हैं, उसी कल्याण मार्ग पर हम भी जावेंगे। उनके प्रताप से हमें भी आत्महित करने का यह अपूर्व अवसर मिला।"

इसप्रकार वे कन्याएँ भी संसार से वैराग्य प्राप्त कर दीक्षा लेकर आर्यिका बनीं ! धन्य आर्य संस्कार ! जब मुनिराज गजकुमार श्मशान में जाकर अति उग्र पुरुषार्थ पूर्वक प्रतिमायोग ध्यान कर रहे थे। उसी समय वहाँ सोमिल सेठ आया और "मेरी पुत्री को इसी गजकुमार ने तड़फाया है, इसी ने उसे घर छोड़ने को मजबूर किया है।"– ऐसा विचार कर वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। "साधु होना था तो फिर मेरी पुत्री के साथ सगाई ही क्यों की ? दुष्ट ! तुझे मैं अभी मजा चखाता हूँ।" – इसप्रकार क्रोधपूर्वक उसने गजमुनि के मस्तक पर मिट्टी का पाल बाँधकर उसमें अग्नि जलाई। मुनिराज का मस्तक जलने लगा, साथ ही उनका अत्यन्त कोमल शरीर भी जलने लगा। घोर उपसर्ग हुआ। फिर भी वे तो उग्र ध्यान में ही जमे रहे, मानों शान्ति के पहाड़ हों, ध्यान से डिगे ही नहीं। बाहर में अग्नि से माथा जल रहा था और अन्दर में ध्यानाग्नि से कर्म जल रहे थे।

छिद जाय या भिद जाय अथवा प्रलय को भी प्राप्त हो।
चाहे चला जाये जहाँ पर ये मेरा किंचित् नहीं॥

बाहर में उन मुनिराज को वचनरूपी बाणों से भेदा जा रहा था, परन्तु वे अन्दर आत्मा को मोह-बाण नहीं लगने देते थे। वे गम्भीर मुनिराज तो स्वरूप की मस्ती में मस्त, अडोल प्रतिमायोग धारण किये हुए थे। बाहर में मस्तक भले ही अग्नि में जल रहा था; परन्तु अन्दर आत्मा तो चैतन्य के परम शान्तरस से ओत-प्रोत था। शरीर जल रहा है फिर भी आत्मा स्थिर है, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जड़ और चेतन के भेदविज्ञान द्वारा चैतन्य की शान्ति में स्थित होकर घोर उपसर्ग सहनेवाले मुनिराज अत्यन्त शूरवीर थे, उन्होंने जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों को भस्म कर केवलज्ञान और फिर मोक्ष प्राप्त किया ? "अंत:कृत" केवली हुए, उनके केवलज्ञान और निर्वाण दोनों ही महोत्सव देवों ने एक साथ मनाये।

4

वनवासी अंजना

(वन-गुफा में मुनिदर्शन का महान आनन्द)

(संसार के अत्यंत दु:खमयी प्रसंगों में जब ऊपर आकाश और नीचे पाताल जैसी परिस्थिति हो, तब भी जीव को धर्म और धर्मात्मा कितने अचिंत्य शरणरूप होते हैं – उसकी महिमा बताने वाला सती अंजना के जीवन का एक प्रेरक प्रसंग)

बाईस वर्ष तक पति पवनंजय से बिछुड़ी हुई होने पर भी गर्भवती जानकर सती अंजना को, जिस समय सासु केतुमती ने कलंकिनी समझकर क्रूरतापूर्वक राज्य से निकाल दिया और उसके बाद पिता गृह में भी उसे आश्रय नहीं मिला, उस समय किसी ने भी अंजना को शरण नहीं दी, तब पूरे संसार से उदास हुई वह सती अपनी एक सखी के साथ वन की ओर जाती हुई कहती है – **"चलो सखी अब वहाँ चलें.......जहाँ मुनियों का वास हो।**

हे सखी ! इस संसार में अपना कोई नहीं है। श्री देव-गुरु-धर्म ही अपने सच्चे माता-पिता हैं। उनका ही सदा शरण है।"

वाघ से भयभीत हिरणी के समान अंजना अपनी सखी के साथ वन में जा रही है........वनवासी मुनिराजों को याद करती जा रही है और चलते-चलते जब थक जाती है, तब बैठ जाती है। उसका दु:ख देखकर सखी विचार करती है –

"हाय ! पूर्व के किस पाप के कारण यह राजपुत्री निर्दोष और गर्भवती होने पर भी महान कष्ट पा रही है। संसार में कौन रक्षा करे ? अरे रे ! पति के वियोग से भी अधिक दुःख आज उसे पति के संयोग के कारण हो रहा है; क्योंकि अभी उसके प्रबल पापोदय चल रहा है। अतः सभी सहयोग करनेवाले भी उसे प्रताड़ित ही कर रहे हैं। इसीलिए तो पवनंजय और अंजना के मिलन का समाचार सास-ससुर एवं माता-पिता आदि किसी को भी नहीं मिला। **अत: हमें खोटे कर्म करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि कर्मों का फल तो सभी को भोगना पड़ता है। चाहे वह तद्भव मोक्षगामी हनुमान की माता ही क्यों न हो।** अरे, दुर्भाग्य की इस घड़ी में भी एकमात्र धर्म ही इस शीलवती को शरण है। जब पूर्व कर्म का उदय ही ऐसा हो, तब धैर्यपूर्वक धर्म सेवन ही शरणभूत है, दूसरा कोई शरण नहीं।"

उदास अंजना वन में अत्यंत विलाप कर रही है, साथ ही अंजना की सखी भी रो रही है। अरे ! उस निर्जन वन में अंजना और उसकी सखी का विलाप इतना करुण था कि उन्हें देखकर आस-पास में रहनेवाली हिरणियाँ भी उदास हो गईं।

बहुत देर तक उनका रुदन चलता रहा....अन्त में विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न सखी ने धैर्यपूर्वक अंजना को हृदय से लगाकर कहा –

"हे सखी ! शान्त हो.......रुदन छोड़ो ! अधिक रोने से क्या ? तुम जानती हो कि इस संसार में जीव को कोई शरण नहीं, यहाँ तो **सर्वज्ञ देव, निर्ग्रंथ वीतरागी गुरु और उनके द्वारा कहा गया धर्म – ये ही सच्चे माता-पिता और बाँधव हैं और ये ही शरणभूत हैं, तुम्हारा आत्मा ही तुम्हें शरणभूत है, वह ही सच्चा रक्षक है और इस असार-संसार में अन्य कोई शरणभूत नहीं है। इसलिए हे सखी ! ऐसे धर्म-चिंतन के द्वारा तू चित्त को स्थिर कर....... और शान्त हो।**

हे सखी ! इस संसार में पूर्व कर्म के अनुसार संयोग-वियोग होता ही है, उसमें हर्ष-शोक क्या करना ? जीव सोचता कुछ है और होता कुछ है। संयोग-वियोग इसके आधीन नहीं है......यह तो सब कर्म की विचित्रता है। इसलिए हे सखी ! तू व्यर्थ ही दुःखी न हो, दुःख छोड़कर धैर्य से अपने मन को भेदज्ञान पूर्वक वैराग्य में दृढ़ कर।"

– ऐसा कहकर स्नेहपूर्वक सखी ने अंजना के आँसू पोंछे। सती अंजना का चित्त शान्त हुआ और वह वीतरागी ज्ञायकतत्त्व की भावना भाने लगी –

कर्मोदय के विविध फल, जिनदेव ने जो वर्णये।
वे मुझ स्वभाव से भिन्न हैं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।।

सखी ने अंजना के हितार्थ आगे कहा – "हे देवी ! चलो, इस वन में जहाँ हिंसक प्राणियों का भय न हो – ऐसा स्थान देखकर, किसी गुफा को साफ करके वहाँ रहेंगे; यहाँ सिंह, वाघ और सर्पों का डर है।"

सखी के साथ अंजना जैसे-तैसे चलती है, साधर्मी के स्नेह-बंधन से बँधी हुई सखी उसकी छाया की तरह उसके साथ ही रहती है। अंजना भयानक वन में भय से डर रही थी, उस समय उसका हाथ पकड़कर सखी कहती है – "अरे मेरी बहिन ! तू डर मत........मेरे साथ चल........।"

सखी का मजबूती से हाथ पकड़कर अंजना चलने लगी। थोड़ी दूर पर एक गुफा दिखाई दी।

सखी ने कहा – "वहाँ चलते हैं।"

लेकिन अंजना ने कहा – "हे सखी ! अब मेरे में तो एक कदम भी चलने की हिम्मत नहीं रही....... अब तो मैं थक गई हूँ।"

सखी ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक शब्दों से उसे धैर्य बँधाया और स्नेह से उसका हाथ पकड़कर गुफा के द्वार तक ले गई। दोनों सखी अत्यंत थकी हुई थीं। बिना विचारे ही गुफा के अन्दर जाने में खतरा है – ऐसा विचार करके थोड़ी देर बाहर ही बैठ गयीं, लेकिन जब दोनों ने गुफा में देखा...... तो गुफा का दृश्य देखते ही दोनों सखी आनन्दाविभूत होकर आश्चर्यचकित हो गईं।

उन्होंने गुफा में ऐसा क्या देखा ?

अहो ! उन्होंने देखा कि गुफा के अन्दर एक वीतरागी मुनिराज ध्यान में विराजमान हैं। चारणऋद्धि के धारक इन मुनिराज का शरीर निश्चल है, मुद्रा परमशान्त और समुद्र के समान गंभीर है, आँखें अन्तर में झुकी हुई हैं, आत्मा का जैसा यथार्थ स्वरूप जिन-शासन में कहा है – वैसा ही उनके ध्यान में आ रहा है। पर्वत जैसे अडोल हैं। आकाश जैसे निर्मल हैं और पवन जैसे असंगी हैं, अप्रमत्तभाव में विराज रहे हैं और सिद्ध के समान आत्मिक-आनंद का अनुभव कर रहे हैं।

गुफा में एकाएक ऐसे मुनिराज को देखते ही दोनों की खुशी का पार नहीं रहा। "अहो ! धन्य मुनिराज !" – ऐसा कहती हुईं हर्षपूर्वक वे दोनों सखी मुनिराज के पास गईं। मुनिराज की वीतरागी मुद्रा देखते ही वे जीवन के सर्व दुःखों को भूल गयीं। भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर हाथ जोड़कर नमस्कार किया। ऐसे वन में मुनि जैसे परम बाँधव मिलते ही खुशी के आँसू निकलने लगे...... और नजर मुनिराज के चरणों में रुक गयी। तब वे हाथ जोड़कर गद्‌गद् भाव से मुनिराज की स्तुति करने लगीं।

"हे मुनिवर ! हे कल्याणरूप ! आप संसार को छोड़कर आत्महित की साधना कर रहे हो......जगत के जीवों के भी आप परम हितैषी हो।......अहो, आपके दर्शन से हमारा जीवन सफल हुआ......आप महा क्षमावंत हो, परमशान्ति के धारक हो, आपका विहार जीवों के कल्याण का कारण है।" – ऐसी विनयपूर्वक स्तुति करके, उन मुनिराज के दर्शन से उनका सारा भय एवं दुःख दूर हो गया.....और उनका चित्त अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

ध्यान टूटने पर मुनिराज ने परमशान्त अमृतमयी वचनों से धर्म की महिमा बताकर उनको धर्मसाधना में उत्साहित किया और अवधिज्ञान से मुनिराज ने 'अंजना के उदर में स्थित चरमशरीरी हनुमान के वृत्तान्त सहित पूर्वभव में अंजना द्वारा जिन-प्रतिमा का अनादर करने से इस समय अंजना के ऊपर यह कलंक लगा है'– यह बताते हुए कहा –

"हे पुत्री ! तू भक्ति पूर्वक भगवान जिनेन्द्र और जैनधर्म की आराधना कर.......इस पृथ्वी पर जो सुख है, वह उसके ही प्रताप से तुझे मिलेगा। अतः हे भव्यात्मा ! अपने चित्त में से खेद (दुःख) दूर कर और प्रमाद रहित होकर धर्म में मन लगा।"

अहा ! अंजना को मुनिराज के दर्शन से जो प्रसन्नता हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, आनन्द से उसके नेत्र-पलक झपकना भूल गये...। वे पुनः मुनिराज की स्तुति करती हुई कहने लगीं – अहो ! इस घनघोर वन में हमें धर्मपिता मिले, आपके दर्शन से हमारा दुःख दूर हो गया, आपके वचनों से हमें जो धर्मामृत मिला है, हमें वही परमशरणरूप हो – ऐसा कहकर वे मुनिराज के चरणों में बारम्बार नमस्कार करने लगीं।

निस्पृही मुनिराज तो उन्हें धर्म का उपदेश देकर आकाशमार्ग से विहार कर गये। मुनिराज के ध्यान द्वारा पवित्र हुई इस गुफा को तीर्थ समान समझकर, दोनों सखीं धर्म में सावधान होकर वहाँ रहने लगीं। कभी वे जिनभक्ति करतीं और कभी मुनिराज को याद करके वैराग्य से शुद्धात्मतत्त्व की भावना भातीं......।

इसप्रकार धर्म की साधनापूर्वक समय निकल गया और योग्य काल में (चैत सुदी पूर्णिमा) के दिन अंजना ने एक मोक्षगामी पुत्ररत्न को जन्म दिया...... जो आगे चलकर वीर हनुमान के नाम से विख्यात हुआ।

चरमशरीरी – मोक्षगामी पुत्र के जन्म से वन के वृक्ष भी हर्ष से खिल उठे और हिरन-मोर आदि

पशु-पक्षी भी आनन्द से नाच उठे। पाठको ! आपने भी आनन्द मनाया होगा; क्योंकि जैसे महावीर हमारे भगवान हैं, वैसे ही हनुमान भी हमारे भगवान हैं।

पश्चात् सती अंजना के मामा अचानक ही उस वन में आये और अंजना तथा हनुमान को अपनी नगरी में (नदी के बीच में '**हनुरुह**' नामक द्वीप में) ले गये.....और वहीं सब आनन्द से रहने लगे। देखो, महान पुण्यवान और आत्मज्ञानी ऐसा वह धर्मात्मा बालक '**हनुमान**' आनन्द से बड़ा हो रहा है। अंजना-माता अपने लाडले बालक को उत्तम संस्कार दे रही हैं और बालक की महान चेष्टाओं को देखकर आनन्दित हो रही हैं। ऐसे अद्‌भुत प्रतापी बालक को देखकर जीवन के सभी दुःखों को वे भूल गयी हैं और आनन्द से जिनगुणों में चित्त लगाकर जिनभक्ति करती रहती हैं तथा हमेशा वनवास के समय गुफा में देखे उन मुनिराज को बारम्बार याद करती हैं।

बालक हनुमान भी रोज माता के साथ ही जिनमन्दिर जाता है, वह वहाँ देव-गुरु-शास्त्र की पूजा करना सीख रहा है और मुनियों के संघ को देखकर आनन्दित होता है।

एक बार हनुमान से अंजना पूछती हैं – "बेटा हनुमान ! तुम्हें क्या अच्छा लगता है ?"

हनुमान कहते हैं – " माँ, मुझे तो एक तुम अच्छी लगती हो और दूसरा आत्मा का सुख अच्छा लगता है।"

माँ कहती है – "अरे बेटा ! मुनिराज ने कहा है कि तुम चरमशरीरी हो, इसलिए तुम तो इस भव में ही मोक्ष सुख प्राप्त करोगे और भगवान बनोगे।"

हनुमान कहते हैं – "अहो, धन्य हैं वे मुनिराज ! धन्य हैं !!

हे माता ! जब मुझे तुम्हारे जैसी माता मिली, तब फिर मैं दूसरी माता का क्या करूँगा ? और तुम भी इस भव में आर्यिका व्रत धारण करना और स्त्रीपर्याय को छेद कर शीघ्र ही, अनन्तभवों का अन्त करके मोक्ष प्राप्त करना।"

अंजना कहती है – "वाह बेटा ! तुम्हारी बात सत्य है। सम्यक्त्व के प्रताप से अब फिर कभी यह निंद्य स्त्री पर्याय नहीं मिलेगी, अब तो संसार दुःखों का अंत नजदीक आ गया है। बेटा, तुम्हारा जन्म होने से लौकिक दुःख टल गये और अब संसार-दुःख भी जरूर दूर हो जावेगा।"

हनुमान कहते हैं – "हे माता ! संसार का संयोग-वियोग कितना विचित्र है और जीवों के प्रीति-अप्रीति के परिणाम भी कितने चंचल और अस्थिर हैं। एक क्षण में जो वस्तु प्राणों से भी प्रिय लगती है, दूसरे क्षण में वही वस्तु उतनी ही अप्रिय हो जाती है और बाद में वही वस्तु फिर

से प्रिय लगने लगती है। इसप्रकार दूसरे के प्रति प्रीति-अप्रीति के क्षणभंगुर परिणामों के द्वारा जीव आकुल-व्याकुल होते हैं। मात्र चैतन्य का सहज ज्ञानस्वभाव ही स्थिर और शान्त है। वह प्रीति-अप्रीति से रहित है अतः ज्ञानस्वभाव की आराधना के अलावा अन्यत्र कहीं सुख नहीं है।''

अंजना कहती है – ''वाह बेटा ! तुम्हारी मधुर वाणी सुनकर प्रसन्नता होती है। जिनधर्म के प्रताप से हम भी ऐसी ही आराधना कर रहे हैं। जीवन में सबकुछ देखा, इसीप्रकार दुःखमय संसार को भी जान लिया। बेटा ! अब तो बस ! आनन्द से मोक्ष की ही साधना करना है।'' इसप्रकार माँ-बेटा (अंजना और हनुमान) बहुत बार आनन्द से चर्चा करते और एक-दूसरे के धर्म संस्कारों को पुष्ट करते। इसप्रकार हनुरुह द्वीप में हनुमान, विद्याधरों के राजा प्रतिसूर्य के साथ देव की तरह क्रीड़ा करते हैं और आनन्दकारी चेष्टाओं के द्वारा सबको आनन्दित करते हैं।

धीरे-धीरे हनुमान युवा हो गये, कामदेव होने से उनका रूप सोलह कलाओं से खिल उठा; भेदज्ञान की वीतरागी विद्या तो उनमें थी ही, पर आकाशगामिनी विद्या आदि अनेक पुण्य विद्यायें भी उनको सिद्ध हुईं। वे समस्त जिनशास्त्रों के अभ्यास में निपुण हो गये; उन्हें रत्नत्रय के प्रति परमप्रीति थी, देव-गुरु-शास्त्र की उपासना में वे सदा तत्पर रहते थे।

अन्त में हनुमान ने संसार से उदास होकर दिगम्बर दीक्षा धारण की और स्वरूप मग्न हो केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष लक्ष्मी का वरण कर अनन्त सुखी हो गये।

ऐसे वन गुफा में जन्मे तद्भव मोक्षगामी वीर हनुमान का जीवन चरित्र एवं सती अंजना के जीवन का संसार से वैराग्य कराने वाले प्रेरक प्रसंग पढ़कर हमें भी अपने आत्मकल्याण में संलग्न होना चाहिए।

बहन : हे भाई ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना किसप्रकार से होती है ?

भाई : बहन ! इस रत्नत्रय की आराधना तो मुख्यरूप से मुनिराज करते हैं, वे चैतन्यस्वरूप की लीनता के द्वारा रत्नत्रय की आराधना करते हैं।

बहन : भाई ! रत्नत्रय के मुख्य आराधक मुनिराज हैं तो क्या यह गृहस्थ को भी हो सकती है ?

भाई : हाँ बहन ! एक अंश में रत्नत्रय की आराधना गृहस्थ को भी हो सकती है।

बहन : हमारे जैसे छोटे-छोटे बालक भी क्या रत्नत्रय की आराधना कर सकते हैं?

भाई : हाँ, हाँ, जरूर कर सकते हैं, परन्तु रत्नत्रय का मूल बीज सम्यग्दर्शन हैं। अत: उसकी सबसे पहले आराधना करनी चाहिये।

5

देखो, व्रत की दृढ़ता

(राजा श्रेणिक, रानी चेलना तथा अभयकुमार का पूर्वभव)

एक बार राजा श्रेणिक की राजधानी राजगृही में तीर्थंकर परमात्मा महावीर प्रभु पधारे। उनके समवसरण में आये राजा श्रेणिक ने प्रभु का उपदेश सुनकर गौतमस्वामी से पूछा – "हे देव ! मेरे पूर्वभव की कथा कहिये।"

गौतमस्वामी ने अपने दिव्यज्ञान के द्वारा जानकर कहा – "हे श्रेणिक ! सुनो ! दो भव पूर्व में तुम भीलराजा थे, उस समय तुमने माँस-त्याग की एक प्रतिज्ञा ली थी, उसके फल में तुम स्वर्ग में देव हुये, फिर यहाँ के राजा हुये हो।

पूर्वभव में तुम विंध्याचल में "वादिरसार' नाम के भील थे, वहाँ तुम शिकार करते और माँस खाते। एकबार महाभाग्य से तुम्हें वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिराज के दर्शन हुए।"

मुनिराज ने कहा – "माँसाहार महापाप है, उसे तुम छोड़ दो।"

तुमने भद्रभाव से कहा – "प्रभो ! माँस का तो हमारा धन्धा है, उसे मैं सर्वथा नहीं छोड़ सकता। फिर भी हे स्वामी ! आपके बहुमानपूर्वक मैं कौए के माँस को छोड़ता हूँ। भले ही प्राणान्त क्यों न हो जाये, पर मैं कौए का माँस कभी नहीं खाऊँगा।" श्री मुनिराज ने उसे भव्य जानकर यह प्रतिज्ञा दे दी।

हे श्रेणिक ! उसके बाद कुछ ही समय में ऐसी घटना घटी कि उसी वादिरसार भील को कोई महा भयंकर विचित्र रोग हुआ, औषधि द्वारा अनेक उपाय करने पर भी वह रोग दूर न हुआ।

"औषधि के रूप में यदि कौए का माँस खाओगे, तो रोग मिट जायेगा।" – ऐसा एक मूर्ख वैद्य ने कहा, लेकिन वादिरसार भील अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ था।

उसने कहा– "मरण हो तो भले ही हो जावे, परन्तु मैं कौए का माँस कभी नहीं खाऊँगा।"

वादिरसार के एक मित्र अभयकुमार के जीव ने यह बात सुनी और वह उसे समझाने के लिए वादिरसार के पास आ रहा था। इसीसमय रास्ते में उसने एक यक्षदेवी को उदासचित्त बैठे देखा। तब उस मित्र ने उसकी उदासी का कारण पूछा।

यक्षदेवी (रानी चेलना के जीव) ने कहा – "हे भाई ! तुम अपने मित्र वादिरसार के पास जा रहे हो, उसे कौए के माँस का त्याग है; लेकिन यदि तुम जाकर उसे दवा के रूप में कौए का माँस खाने के लिए कहोगे और कदाचित् वह प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर मरण से बचने के लिए कौए का माँस खावेगा तो मरकर नरक में जावेगा, अत: उसकी दशा का विचार करके मैं दु:खी हूँ।"

उसने कहा – तुम चिन्ता मत करो, मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा।" – इसप्रकार उसे आश्वासन देकर, वह कुशल मित्र वादिरसार भील के पास आया और उसकी परीक्षा लेने के लिए कहा – "कौए का माँस खाओगे तो तुम्हारा रोग मिट जावेगा। दूसरी कोई दवा उपयोगी नहीं है।" जब वह नहीं माना, तब उसने और भी दृढ़ता के साथ कहा –

"भाई ! हठ छोड़ दो, व्यर्थ ही मरण हो जायेगा। एक बार औषधि के रूप में कौए का माँस खा लो, अच्छे हो जाने पर फिर व्रत ले लेना।"

तब भील ने मित्र को समझाते हुए कहा – "मैंने अपने जीवन में कोई सत्कार्य नहीं किया, जैसे-तैसे एक छोटा-व्रत लिया है और मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ कि उसे भी छोड़ दूँ। जिसे धर्म से किंचित् भी स्नेह होगा, वह मरण अवस्था में भी व्रत को नहीं छोड़ेगा।" – इसप्रकार वह अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहा। उसकी दृढ़ता देखकर उसका मित्र प्रसन्न हुआ और रास्ते में यक्षदेवी के साथ हुई सब बात उसने वादिरसार को बताई कि तुम्हारी इस प्रतिज्ञा के कारण तुम देव होओगे।

उससमय मात्र कौए का माँस छोड़ने का भी ऐसा महान फल जानकर, हे श्रेणिक ! उस भील राजा को उन दिगम्बर जैन मुनिराज के ऊपर विशेष श्रद्धा हो गयी और अहिंसा धर्म में उत्साह बढ़ा, जिससे जैनधर्म के स्वीकार पूर्वक उसने माँसादि का सर्वथा त्याग करके अहिंसादि पाँच अणुव्रत धारण किये और पंचपरमेष्ठी की भक्तिपूर्वक शान्ति से प्राण त्याग कर, व्रत के प्रभाव से उसका आत्मा सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।"

गौतमस्वामी आगे कहते हैं – "हे श्रेणिक ! वह भील तुम ही हो – फिर उस देवपर्याय से च्युत होकर तुम इस राजगृही में **श्रेणिक राजा** हुए हो और एक भव के बाद तुम तीर्थंकर होओगे।"

भील के व्रतों का ऐसा उत्तम फल देखकर वहाँ उसके मित्र ने भी अणुव्रत धारण किये, वह मित्र भी वहाँ से मरकर ब्राह्मण का अवतार लेकर अर्हद्दास सेठ से जैन संस्कार प्राप्त करके स्वर्ग गया और वहाँ से मरकर अब वह तुम्हारा पुत्र अभयकुमार हुआ है, वह तो इसी भव में दिगम्बरी दीक्षा धारण करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

श्रेणिक ने पूछा – "हे स्वामी ! फिर उस यक्षदेवी का क्या हुआ ?"

गौतमस्वामी ने कहा – "हे राजन् ! वह यक्षदेवी उसके बाद कितने ही भव धारण करके अनुक्रम से वैशाली के चेटक राजा की पुत्री **चेलना** हुई, जो अभी तुम्हारी पटरानी है।"

अपने पूर्वभव की बात सुनकर राजा श्रेणिक को यथार्थ बोध हुआ, तीर्थंकर प्रभु के समीप विशेष आत्मशुद्धि पूर्वक क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट किया। इतना ही नहीं, धर्म की उत्तम भावना के द्वारा उन्हें तीर्थंकर नामकर्म बँधना भी शुरू हुआ और भगवान महावीर के 84000 वर्ष बाद वे इस भरत-क्षेत्र में महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होंगे।

हे भव्यजीवो ! जिस वीतरागता और अहिंसा का उपदेश जैनधर्म देता है, उसका थोड़ा-सा पालन करने से ही जब ऐसा महान फल प्राप्त होता है, तो सम्पूर्ण वीतरागभावरूप अहिंसा का फल कितना महान होगा, उसे समझना चाहिये। अतः हे बन्धुओ ! शूरवीर होकर वीर भगवान के अहिंसा धर्म का पालन करना, उसे पालन करने में कायर मत होना। मद्य, माँस और अण्डे के खाने में भी पंच-इन्द्रिय जीवों का घात है। ऐसे खान-पान वाले होटल आदि स्थानों पर सज्जनों को तो कभी जाना ही नहीं चाहिए और जैनधर्म की वीतरागता के उत्तम संस्कार आत्मा में विकसित करना चाहिये, जिससे राजा श्रेणिक के समान हमारा भी महान कल्याण होवे।

अहो ! यह है विचित्र संसार के बीच भी अलिप्त ज्ञानचेतना राजा श्रेणिक की।

श्री गौतम गणधर के श्रीमुख से अपने भूतकाल के भवों का वर्णन सुनकर, श्रेणिक राजा वैराग्यपूर्वक अपने भविष्य के भवों के बारे में भी जानने की जिज्ञासा प्रगट की।

तब गौतमस्वामी ने कहा – "हे श्रेणिक ! पहले अज्ञानदशा में मिथ्यात्वादि पापों के सेवन से और जैनमुनि के ऊपर उपसर्ग करने से जो पाप तुमने बाँधे थे, उससे तुम पहले नरक में जाओगे; लेकिन वहाँ भी क्षायिक सम्यक्त्व होने से तुम कभी भी अपने आत्मा को विस्मृत नहीं करोगे और सोलहकारणभावना भाते हुए दूसरे भव में तुम इस भरतक्षेत्र में महापद्म नामक त्रिलोकपूज्य प्रथम तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे।"

"अहो, एक ही जीव ! एक ही भव में एक बार में नरक के कर्म बाँधता है और फिर उस ही भव में तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति का कर्म बाँधता है। देखो तो जरा, जीव की परिणति की विचित्रता।"

– इसप्रकार क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक ने अपने बारे में एक साथ दो बातें सुनी।

1. आगामी भव में नरक जाना और 2. उसके बाद के भव में तीर्थंकर बनना। 'नरक में जाना और तीर्थंकर होना' – दोनों बातें एक साथ सुनकर उसे कैसा लग रहा होगा ? खुशी हुई होगी ? या खेद हुआ होगा ? कहाँ हजारों वर्ष तक नरक के घोरातिघोर अत्यन्त दुःखों की वेदना ! और कहाँ त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर पदवी !

अहो ! **कैसा विचित्र संयोग है। एक ओर नरक गति का खेद और दूसरी और तीर्थंकर पदवी का हर्ष। लेकिन हे भव्यजीवो ! तुम राजा श्रेणिक में ऐसा हर्ष या खेद ही नहीं देखना ; इन दोनों के अलावा एक तीसरी अत्यन्त सुन्दर वस्तु उस ही समय श्रेणिक राजा में वर्त रही है, उसे तुम देखना, तब ही तुम धर्मात्मा श्रेणिक को समझोगे, अन्यथा तुमसे राजा श्रेणिक का यथार्थ स्वरूप समझने में भूल हो जायेगी।**

क्या है यह तीसरी वस्तु ! यह है ज्ञानचेतना, जो हर्ष-शोक दोनों से सर्वथा अलिप्त, परम शान्त वर्त रही है। यह ज्ञानचेतना ना तो नरक के कर्मों को वेदती है और ना ही तीर्थंकर प्रकृति के कर्म को वेदती है – दोनों कर्मों से भिन्न नैष्कर्म्य भाव से कर्मों से छूट कर परमशान्ति से मोक्षपथ को साध रही है। यह है श्रेणिक का सच्चा स्वरूप ! उसे समझना चाहिये। तभी श्रेणिक की नरक दशा या तीर्थंकर दशा – दोनों को सुनकर तुम भी राग-द्वेष से भिन्न परमशुद्ध शान्त-ज्ञानचेतना रूप में रह सकोगे और मोक्षपथ की साधना कर सकोगे।

हर्ष-खेद से पार है, सुन्दर ज्ञानस्वभाव।
उस स्वभाव को साधकर, मोक्षदशा प्रगटाव॥

6

राग से वैराग्य की ओर

भगवान ऋषभदेव के इक्ष्वाकु वंश में, ऋषभदेव से लेकर मुनिसुव्रत तीर्थंकर तक के काल में असंख्य राजा मुनि होकर मोक्षगामी हुए। उनमें मल्लिनाथ भगवान के मोक्षगमन के बाद अयोध्या नगरी में विजय नाम के राजा हुए, उनके पौत्र वज्रबाहु कुमार की हस्तिनापुर की राजपुत्री मनोदया के साथ शादी हुई, शादी के थोड़े ही दिन बाद कन्या का भाई उदयसुन्दर अपनी बहिन को लेने के लिए आया। जब मनोदया ने अपने भाई के साथ पीहर के लिए प्रस्थान किया, तब वज्रबाहु भी मनोदया के प्रति तीव्र प्रेमवश उन्हीं के साथ ससुराल चल दिए।

उदयसुन्दर, मनोदया, वज्रबाहु आदि सभी आनन्द पूर्वक अयोध्या से हस्तिनापुर की ओर जा रहे थे। साथ में उनके 26 राजकुमार मित्र और उनकी रानियाँ भी पर्वतों और वनों की रमणीय शोभा देखते हुए चल रहे थे। तभी युवा राजकुमार वज्रबाहु की नजर एकाएक रुक गयी......। वे सोचने लगे –

अरे, यहाँ दूर कोई अद्भुत सुन्दरता दिखाई दे रही है। वह क्या है ? या तो यह कोई वृक्ष का तना है, या कोई सोने का स्तंभ है या कोई मनुष्य है। जब पास आकर देखा तो राजकुमार वज्रबाहु आश्चर्य चकित रह गये।

अहो ! नग्न दिगम्बर मुनिराज ध्यान में खड़े हैं; आँखें बन्द और लटकते हुए हाथ, संसार को भूलकर आत्मा में अन्दर-अन्दर गहराई में उतर कर कोई अद्भुत मोक्षसुख का वेदन कर रहे हैं।.......शान्तरस की मस्ती में मस्त हैं, तप के द्वारा शरीर दुर्बल हो गया है, तो भी चैतन्य के तेज का प्रताप सर्वांग से सुशोभित हो रहा है......हिरण और सर्प शान्त होकर उनके पास बैठे हैं। अरे, उनकी शान्त मुद्रा वन के पशुओं को भी ऐसी प्रिय लग रही है कि वे भी शान्त होकर बैठ गये हैं। उन मुनिराज को देखकर कुमार वज्रबाहु विचार करते हैं–

"वाह ! धन्य है मुनिराज का जीवन ! वे स्वयं से ही मोक्ष की रचना कर रहे हैं और मैं संसार के कीचड़ में फँसा हूँ, विषय-भोगों में डूब रहा हूँ, इन भोगों से हटकर मैं भी अब ऐसी योगदशा धारण करूँगा, तभी मेरा जन्म सफल होगा। इससमय सम्यक् आत्मभान होने पर भी, जैसे कोई चंदनवृक्ष जहरीले सर्प से लिपटा हो – ऐसा मैं विषय-भोगों के पापों से घिरा हुआ हूँ। जैसे कोई

मूर्ख पर्वत के शिखर पर चढ़ कर ऊँघे.....वैसे ही मैं पाँच इन्द्रियों के भोगरूपी पर्वत के भयंकर शिखर पर सो रहा हूँ। हाय ! हाय !! मेरा क्या होगा ? धिक्कार है....धिक्कार है......भवभ्रमण करानेवाले इन विषय-भोगों को।

अरे, मैं एक स्त्री में आसक्त होकर मोक्षसुन्दरी को साधने में प्रमादी हो रहा हूँ...लेकिन क्षणभंगुर जीवन का क्या भरोसा ? मुझे अब प्रमाद छोड़कर यह मुनिदशा धारण करके मोक्ष साधना में लग जाना चाहिये.....।''

इसप्रकार से वस्तुस्वरूप का विचार करते-करते वज्रबाहु की नजर मुनिराज के ऊपर स्थिर हो गई, वे मुनि बनने की भावना में ऐसे लीन हो गये कि आस-पास उदयसुन्दर और मनोदया खड़े हैं, उनका ख्याल ही नहीं रहा। बस ! मात्र मुनिराज की ओर ही देखते रहे.....और उनके समान बनने की भावना भाते रहे।

यह देखकर, उनका साला उदयसुन्दर हँसता हुआ मजाक करते हुए बोला– ''कुंवरजी ! आप निश्चल नेत्रों से मुनिराज की ओर क्या देख रहे हो ? अरे, आप भी ऐसी मुनिदशा धारण क्यों नहीं कर लेते ?''

वज्रबाहु तो मुनिदशा की भावना भा ही रहे थे। उसने तुरन्त ही कहा– ''वाह भाई ! तुमने अच्छी बात कही, मेरे मन में जो भाव था, उसे ही तुमने प्रकट किया, अब तुम्हारा भाव क्या है, उसे भी कहो।''

उदयसुन्दर ने उस बात को मजाक समझकर कहा– ''कुंवरजी ! जैसा तुम्हारा भाव, वैसा ही मेरा भाव ! यदि तुम मुनि हुए तो मैं भी तुम्हारे साथ मुनि होने के लिए तैयार हूँ; परन्तु देखो, तुम मुकर न जाना !''

(उदयसुन्दर तो मन में अभी ऐसा ही समझ रहे थे कि वज्रबाहु को तो मनोदया के प्रति तीव्र राग है– ये क्या दीक्षा लेंगे ? अथवा उसने तो हँसी-हँसी में यह बात कही थी......''शगुन के शब्द पहले'' इस उक्ति के अनुसार वज्रबाहु के उत्तम भवितव्य से प्रेरित होकर वैराग्य जागृत करने में उदयसुन्दर के ये शब्द भी निमित्त हो गये......।)

उदयसुन्दर की बात सुनते ही निकटभव्य मुमुक्षु वीर वज्रबाहु के मुख से वज्रवाणी निकली – ''बस अब मैं तैयार हूँ...... इसीसमय मैं इन मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा अंगीकार करूँगा।

वज्रबाहु आगे कहते हैं– ''इस संसार और भोगों से उदास होकर मेरा मन अब मोक्ष में उद्यत

हुआ है....संसार या सांसारिक भाव अब मुझे अच्छे नहीं लगते...मैं तो अब मुनि होकर यहीं वन में रहूँगा और मोक्षपथ की साधना करूँगा।''

पर्वत के ऊपर जैसे वज्र गिरता है, वैसे ही वज्रबाहु के शब्दों को सुनते ही उदयसुन्दर के ऊपर मानों वज्र ही गिर पड़ा हो, वह तो डर ही गया। अरे....यह क्या हो गया ?

वज्रबाहु तो प्रसन्नचित्त होकर विवाह के वस्त्राभूषण उतार कर वैराग्यपूर्वक मुनिराज की ओर जाने लगे।

मनोदया ने कहा– ''अरे स्वामी ! यह आप क्या कर रहे हो ?''

उदयसुन्दर ने भी अश्रुभीनी आँखों से कहा– ''अरे कुंवरजी ! मैं तो हँसते-हँसते मजाक में कह रहा था, लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो ? मजाक करने में मेरी गलती हुई है, अतः मुझे क्षमा करो ? आप दीक्षा मत लो......।''

उसी समय वैरागी वज्रबाहु मधुर शब्दों में कहने लगे–

''हे उदयसुन्दर ! तुम तो मेरे कल्याण के कारण बने हो। मुझे जागृत करके तुमने मुझ पर महान उपकार किया है। इसलिए मोह त्यागो, विकल्प छोड़ो। मैं तो संसाररूपी कुएँ में पड़ा था, उससे तुमने मुझे बचाया, तुम ही मेरे सच्चे मित्र हो और तुम भी इसी मार्ग पर मेरे साथ चलो।''

वैरागी वज्रबाहु आगे कहने लगे– ''जीव जन्म-मरण करते करते अनादि से संसार में भ्रमण कर रहा है। जब स्वर्ग के दिव्य विषयों में भी कहीं सुख नहीं मिलता, तब अन्य विषयों की क्या बात ? अरे ! संसार, शरीर और भोग– ये सब बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर हैं। जीवन मिलने पर भी यदि आत्महित न किया तो यह अवसर चला जावेगा। विवेकी पुरुषों को क्षणिक एवं दुःख स्वरूप इन सांसारिक सुखों में मोहित होना योग्य नहीं है।

हे मित्र ! तुम्हारी मजाक भी मेरे आत्मकल्याण का कारण बन गयी है। प्रसन्न होकर औषधि सेवन करने से क्या वह रोग नहीं हरती ? अपितु हरती ही है। तुमने हँसते-हँसते जिस मुनिदशा की बात की है, वह मुनिदशा भवरोग को हरनेवाली और आत्म-कल्याण करनेवाली है, इसलिए मैं अवश्य ही मुनिदशा अंगीकार करूँगा और तुम्हारी जैसी इच्छा हो, तुम वैसा करो।''

उदयसुन्दर समझ गया कि अब वज्रबाहु को रोकना मुश्किल है....अब वह दीक्षा लेंगे ही, फिर भी शायद मनोदया का प्रेम उन्हें रोक ले – ऐसा सोचकर उसने अन्तिम बात कही–

"कुमार ! आप मनोदया की खातिर ही रुक जाओ। तुम्हारे बिना मेरी बहन अनाथ हो जायेगी। इसलिए उसके ऊपर कृपा करके आप रुक जाइये, आप दीक्षा मत लीजिए।"

परन्तु, मनोदया भी वीरपुत्री थी.... वह रोने नहीं बैठी.... बल्कि उसने तो प्रसन्नचित होकर कहा– 'हे बन्धु ! तुम मेरी चिंता मत करो। वे जिस मार्ग पर जा रहे हैं, मैं भी उस ही मार्ग पर जाऊँगी। वे विषय-भोगों से छूटकर आत्मकल्याण करेंगे, तो क्या मैं विषयों में डूबकर मरूँगी? नहीं, मैं भी उनके साथ ही गृहस्थदशा छोड़कर अर्जिका-दीक्षा लूँगी और आत्म-कल्याण करूँगी। धन्य है मेरा भाग्य !! अरे ! मुझे भी आत्महित करने का सुन्दर अवसर मिला। रोको मत भाई ! तुम किसी को भी मत रोको ! जो भी कल्याण के मार्ग पर चलना चाहता है, उसे जाने दो और संसार के मार्ग में मत फँसाओ ! तुम भी हमारे साथ उस ही मार्ग में आ जाओ।"

अपनी बहिन की दृढ़ता को देखकर, अब उदयसुन्दर के भावों में भी एकाएक परिवर्तन होने लगा, उसने देखा कि मजाक सत्यता का रूप ले रहा है। अत: उसने कहा –

वाह....वज्रबाहु ! और वाह.....मनोदया बहिन ! धन्य है तुम्हारी उत्तम भावनाओं को ? तुम दोनों यहाँ दीक्षा लोगे तो क्या मैं तुम्हें मोक्ष डगर पर चलता हुआ देखकर भी संसार का राज्य करने जाऊँगा ? नहीं, मैं भी तुम्हारे साथ चलकर मुनिदीक्षा ही लूँगा।"

वहाँ पर सभी की बातचीत सुन रहे 26 राजकुमार भी एक साथ बोल उठे– "हम भी वज्रबाहु के साथ ही दीक्षा लेंगे !"

दूसरी ओर से महिलाओं के समूह में से राजरानियों की भी आवाज आई– "हम सब भी मनोदया के साथ अर्जिका के व्रत लेंगे।"

बस, चारों ओर...गंभीर वैराग्य का वातावरण फैल गया। राजसेवक तो यह आश्चर्यकारी दृश्य देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ दशा को प्राप्त हो गये। वे सोचने लगे कि इन सबको क्या हो गया है ? इन सब राजकुमारों और राजरानियों को यहाँ छोड़कर हम राज्य में किसप्रकार जावें ? वहाँ जाकर इन राजकुमारों के माता-पिताओं को क्या जवाब देंगे ?

बहुत सोच-विचार करने के बाद एक मंत्री ने राजपुत्रों से कहा– "हे कुमारो ! तुम्हारी वैराग्य भावना धन्य है....लेकिन हमें मुश्किल में मत डालो......तुम हमारे साथ घर चलो और माता-पिता की आज्ञा लेकर फिर दीक्षा ले लेना.....।"

तब वज्रबाहु बोले– "अरे, संसार बंधन से छूटने का अवसर आया, यहाँ माता-पिता को पूछने के लिए कौन रुकेगा ? हमें यहाँ आने के लिए माता-पिता मोह के वश होकर रोकेंगे, इसलिए तुम सब जाओ और माता-पिता को यह समाचार सुना देना कि आपके पुत्र मोक्ष को साधने के लिए गये हैं, इसलिए आप दुःखी मत होना।"

तब मंत्री ने कहा– "कुमारो ! तुम हमारे साथ भले ही न चलो, परन्तु जब तक हम माता-पिता को खबर दें, तब तक यहीं रुक जाओ।"

"अरे ! हमें एक क्षण के लिए भी यह संसार नहीं चाहिये......जैसे प्राण निकलने के बाद फिर शरीर शोभा नहीं देता, उसीप्रकार जिससे हमारा मोह छूट गया, ऐसे इस संसार में अब क्षणमात्र के लिए भी हमें अच्छा नहीं लगता।"

– ऐसा कहकर वज्रबाहु एवं उदयसुन्दर के साथ सब कुमार चलने लगे.....और वहाँ ध्यान में खड़े गुणसागर मुनिराज के पास आये...... और हाथ जोड़कर अतिविनय पूर्वक नमस्कार कर कहने लगे – "हे स्वामी ! हमारा मन संसार से बहुत भयभीत है, आपके दर्शन से हमारा मन पवित्र हुआ है। अब, भवसागर को पार करनेवाली ऐसी भगवती दीक्षा अंगीकार कर संसार कीचड़ में से बाहर निकलने की हमारी इच्छा है, इसलिए हे प्रभु ! हमें दीक्षा दीजिए।"

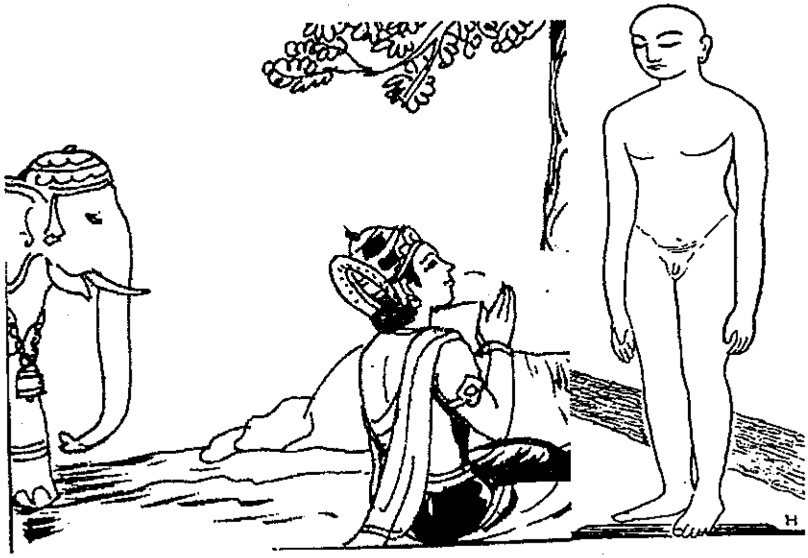

जो चैतन्य साधना में मग्न है और अभी-अभी सातवें से छठवें गुणस्थान में आये हैं, ऐसे उन मुनिराज ने राजकुमारों की उत्तम भावना को जानकर कहा–

"हे भव्यो ! यह मोक्ष के कारणरूप भगवती जिनदीक्षा तुम अवश्य धारण करो, तुम सभी अत्यन्त निकटभव्य हो, जो तुम्हें मुनिव्रत धारण करने की भावना जागृत हुई है" – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने वज्रबाहु सहित 26 राजकुमारों को मुनिदीक्षा देकर अनुगृहीत किया।

राजकुमारों ने मस्तक के कोमल केशों (बालों) को अपने हाथों से लोंच करके पंच महाव्रत

धारण किये। राजपुत्री और रागपरिणति दोनों को त्याग दिया, देह का मोह छोड़कर चैतन्यधाम में स्थिर हुए और शुद्धोपयोगी होकर आत्म-चिंतन में एकाग्र हुए। धन्य है उन मुनिवरों को।

दूसरी और मनोदया ने भी पति और भाई के समान सांसारिक मोह छोड़कर आभूषण त्याग कर वैराग्यपूर्वक आर्यिका के व्रत धारण किये। साथ ही अनेक अन्य रानियाँ भी आर्यिका हुईं और मात्र एक सफेद वस्त्र को धारण करके देह में चैतन्य की साधना के द्वारा सुशोभित होने लगीं।

मुनि और आर्यिका के व्रत में दीक्षित सभी आत्मायें स्फटिकमणि समान शुद्धोपयोग के आभूषण से सुशोभित हो उठीं।

धन्य है उन राजपुत्रों को ! और धन्य है उन राजरानियों को !!

जिस समय वज्रबाहु आदि की दीक्षा का समाचार अयोध्या में पहुँचा, उसीसमय उनके पिता सुरेन्द्रमन्यु तथा दादा विजय महाराज भी संसार से विरक्त हुए। अरे, अभी नवपरिणीत युवा-पौत्र संसार छोड़कर मुनि हो गये और मैंने वृद्ध होते हुए भी अभी तक संसार के विषयों को नहीं छोड़ा। अहो ! इन राजकुमारों ने संसार भोगों को तृणवत् समझकर छोड़ दिया और मोक्ष के अर्थ शान्तभाव में चित्त को स्थिर किया। हम भी अब भगवती दीक्षा अंगीकार कर अपना कल्याण करेंगे।

अरे ! ऊपर से सुन्दर लगनेवाले विषयों का फल बहुत कटु होता है, यौवन दशा में शरीर का जो सुन्दर रूप था, वह भी वृद्धावस्था में कुरूप हो जाता है। शरीर और विषय क्षणभंगुर हैं, ऐसा जानते हुए भी यदि हम विषय-भोगरूपी कुएँ में डूबे रहे, तब हम जैसा मूर्ख कौन होगा ? ऐसा विचार करके वैराग्य भावना भायी, सब जीवों के प्रति क्षमाभाव पूर्वक विजय महाराज तथा उनके अन्य पुत्र भी जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए। अरे... पौत्र के मार्ग पर दादा ने गमन किया। धन्य है जैनमार्ग ! धन्य है मुनिमार्ग और धन्य हैं उस मार्ग पर चलनेवाले जीव !!!

विजय महाराज ने दीक्षा लेने के पूर्व वज्रबाहु के भाई पुरन्दर को राज्य सोंपा। पुरन्दर राजा ने अपने पुत्र कीर्तिधर को राज्य सौंपकर दीक्षा ली। बाद में कीर्तिधर ने भी पन्द्रह दिन के पुत्र सुकौशल का राजतिलक करके जिनदीक्षा ले ली और बाद में सुकौशलकुमार ने भी गर्भस्थ बालक का राजतिलक करके अपने पिता के पास जिनदीक्षा अंगीकार की।... इतना ही नहीं, उनकी माँ ने वाघिन होकर उन्हें खाया, फिर भी वे आत्मध्यान से नहीं डिगे और केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष प्राप्त किया। इसी वंश में दशरथ, रामचन्द्र आदि और भी अनेकों राजा हुए, तथा उन्होंने भी जिनदीक्षा अंगीकार कर मोक्ष प्राप्त किया। उन सब मोक्षगामी जीवों की जय हो।

7

धन्य है उनका वैराग्य

इस कथा के पूर्व आपने जिनके वैराग्य की कथा पढ़ी, उन वज्रबाहु के छोटे भाई पुरंदर अयोध्या के राजा थे। उन्होंने अपने पुत्र कीर्तिधर को राज्य सौंप कर मुनिदीक्षा ले ली।

राजा कीर्तिधर का मन संसार-भोगों से विरक्त था, वे धर्मात्मा राजपाट के बीच में भी संसार-भोगों की असारता का विचार करते हुए निरन्तर मुनिदशा की भावना भाते थे।

एक दिन दोपहर के समय आकाश में सूर्यग्रहण देखकर उनका मन उदास हो गया और वे संसार की अनित्यता का विचार करने लगे। अरे, जब यह सूर्य भी राहु के द्वारा ढक जाता है, तब इस संसार के क्षण-भंगुर भोगों की क्या बात ? ये तो एक क्षण में विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए इनका मोह छोड़कर मैं आत्महित करने के लिए जिनदीक्षा अंगीकार करूँगा। ऐसा पक्का निर्णय करके राजा कीर्तिधर ने अपने वैराग्य का विचार अपने मंत्रियों के सामने रखा।

मंत्रियों ने कहा– "महाराज ! आपके बिना अयोध्या नगरी का राज्य कौन संभालेगा ? अभी आप जवान हो......फिर भी जैसे आपके पिता ने आपको राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ली थी, वैसे ही आप भी अपने पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षा ले लेना।" – इसप्रकार मंत्रियों के विनयपूर्वक आग्रह करने पर राजा ने ऐसी प्रतिज्ञा ली कि पुत्र के जन्म का समाचार सुनते ही उस ही दिन उसका राज्याभिषेक करके मैं मुनिव्रत धारण करूँगा।

थोड़े समय बाद, कीर्तिधर राजा की रानी सहदेवी ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया.....उसका नाम सुकौशल रखा गया। यही सुकौशल कुमार अपनी इस कथा के कथानायक हैं।

"पुत्र जन्म की बात सुनते ही राजा दीक्षा ले लेंगे।"– इस भय से रानी सहदेवी ने यह बात गुप्त रखी। कुछ दिन तक तो यह बात राजा से गुप्त रही, परन्तु सूर्य-उदय कब तक छिपा रह सकता है ? उनके पुत्र जन्म की खुशखबरी पूरी अयोध्या नगरी में फैल गयी.... और जब नगरवासी राजा को बधाई देने आये, तब राजा ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने आभूषण भेंट किये...... और अपने वैराग्य का विचार प्रकट किया तथा कहा कि –"बस, अब मैं राजपुत्र को राज्य सौंपकर इस संसार-बंधन से छूटूँगा" और तदनुसार राजा कीर्तिधर ने माता की गोद में ही पंद्रह दिन की आयु

के राजकुमार सुकौशल को राजतिलक करके जिनदीक्षा धारण कर ली.....और आत्म-साधना में तत्पर होकर वन में विचरण करने लगे।

कीर्तिधर राजा मुनि हो गये, जिससे उनकी रानी सहदेवी को बहुत ही आघात हुआ, वह सोचने लगी कि कहीं इसीप्रकार मेरा पुत्र भी दीक्षा लेकर न चला जाय ? तभी किसी भविष्यवेत्ता ने घोषणा की, कि – ''जिस दिन यह राजकुमार अपने पिता को मुनि अवस्था में देखेगा, उसी दिन यह दीक्षा ले लेगा।''

कोई मुनि राजकुमार की नजर में न आ जाए, इसलिए रानी ने ऐसा आदेश निकाल दिया कि ''किसी निर्ग्रंथ-मुनि को राजमहल के पास नहीं आने दिया जावे !''

अरे रे, पुत्र मोह से उसको मुनियों के प्रति द्वेष हो गया।

राजकुमार सुकौशल वैराग्यवंत धर्मात्मा थे, राजवैभव के सुखों में उनका मन नहीं रमता था। वे सदा आत्मस्वरूप की भावना में लीन रहते थे। युवा होते ही माता ने उनका विवाह कर दिया।

एक दिन सुकौशल राजमहल की छत पर खड़े होकर अयोध्या नगरी की सुन्दरता देख रहे थे। उनकी माता सहदेवी और धायमाता भी वहीं थी।

इसी समय एकाएक नगरी के बाहर नजर पड़ते ही राजकुमार को कोई महातेजस्वी मुनिराज नगरी की ओर आते दिखे; लेकिन राज्य के सिपाहियों ने उन्हें दरवाजे के बाहर ही रोक दिया, वह समझ नहीं पाया कि वे आनेवाले महापुरुष कौन हैं और पहरेदार उन्हें क्यों रोक रहे हैं ?

दूसरी ओर सहदेवी ने भी उन मुनिराज को देखा...... वे कोई दूसरे नहीं, महाराज कीर्तिधर ही थे, जिन्होंने 15 दिन के सुकौशल को छोड़कर जिनदीक्षा ले ली थी। उनको देखते ही रानी को डर लगा कि अरे, उनके वैराग्य उपदेश से मेरा पुत्र भी कहीं संसार छोड़कर न चला जावे, इसलिए रानी सहदेवी ने सेवकों को आज्ञा दी कि – ''यहाँ कोई मैले-कुचैले नग्न तनधारी पुरुष नगरी में आये हैं और वे हमारे पुत्र सुकौशल को भ्रमित करके ले जावेंगे, इसलिए उन्हें नगरी में प्रवेश नहीं करने देवें। इसीप्रकार नगरी में कोई दूसरे नग्न साधु आवें तो उनको भी न आने देवें, जिससे मेरा पुत्र उन्हें न देख पावे।''

''मेरे पति कीर्तिधर पंद्रह दिन के छोटे बालक को छोड़कर चले गये थे, तब उन्हें दया भी नहीं आयी थी।'' – ऐसा विचार कर सहदेवी ने साधु बने अपने पति के प्रति ऐसे अनादरपूर्ण वचनों से कई बार तिरस्कार किया.....।

"अरे रे ! यह दुष्ट रानी साधु बने अपने स्वामी का अपमान करती है।" – यह देखकर धायमाता की आँखों से आँसू गिरने लगे।

राजकुमार सुकौशल का कोमल हृदय यह दृश्य न देख सका, उसने तुरन्त धायमाता से पूछा– "माँ, यह सब क्या है ? वे महापुरुष कौन हैं ? उन्हें नगरी में क्यों नहीं आने देते ? और उन्हें देखकर तू क्यों रो रही है ?"

राजकुमार के प्रश्न को सुनते ही धायमाता का हृदय एकदम भर आया और रोते-रोते उसने कहा– "बेटा ! ये महापुरुष और कोई नहीं, तुम्हारे पिताजी हैं। वे इस अयोध्या नगरी के महाराजा कीर्तिधर स्वयं हैं और साधु हो गये हैं। अरे, जो कभी स्वयं इस राज्य के स्वामी थे, आज उन्हें उनके ही सेवक, उनके ही राज्य में, उन्हीं का अनादर कर रहे हैं। इस अयोध्या नगरी के राजमहल में कभी किसी साधु का अनादर नहीं हुआ, किन्तु आज साधु हुए महाराज का अनादर राजमाता द्वारा ही हो रहा है, राजमाता अपने स्वामी और नग्न दिगम्बर साधु को मैला-कुचैला भिखारी जैसा कहकर तिरस्कार कर रही हैं।"

धायमाता ने सुकौशल से आगे कहा– "बेटा ! जब तू छोटा-सा बालक था, तभी वैराग्य धारण करके तुम्हारे पिता जैन साधु हो गये थे। वे साधु महात्मा ही इससमय नगरी में पधारे हैं.... आहार के लिए पधारे कोई भी मुनिराज अपने आँगन से कभी वापिस नहीं गये।

पुत्र को राज्य सौंप कर और दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करने की परम्परा तो असंख्यात पीढियों से अपने वंश में चली आ रही है और उसी के अनुसार तुम्हारे पिता ने भी तुम्हें राज्य सौंप कर जिनदीक्षा धारण की थी।"

धायमाता के द्वारा यथार्थ सत्य सुनते ही सुकौशलकुमार को अत्यन्त आश्चर्य मिश्रित खेद हुआ। "अरे रे ! यह मेरे पिताजी हैं, भिखारी नहीं, ये तो महान सन्त महापुरुष हैं। महाभाग्य से आज मुझे इनके दर्शन हुए।"

ऐसा कहते हुए राजकुमार सिर पर मुकुट और पैर में जूते पहने बिना ही नंगे सिर और नंगे पैर ही नगर के बाहर मुनिराज (पिता) की ओर दौड़ पड़े....अर्थात् उनके पास से धर्म की विरासत लेने के लिए चल दिए.....वे उस समय – ऐसे लग रहे थे मानों जैसे संसार के बंधन तोड़कर मुक्ति की ओर ही दौड़ रहे हों ?

इसप्रकार वे मुनिराज के पास पहुँचे....और उनके चरणों में नमन किया....आँख में से आँसू की धारा बहने लगी।

"मुनिवर ! क्षमा करो..... क्षमा करो प्रभो ! मैंने आपको पहचाना नहीं। मैं अब इस संसार के बंधन से मुक्त होना चाहता हूँ......।"

श्री कीर्तिधर मुनिराज बोले– "हे वत्स ! इस संसार में सब संयोग क्षणभंगुर हैं। उनके भरोसे क्या रहना ? यह सारभूत आत्मतत्त्व ही आनन्द से भरपूर है, उसकी साधना के बिना अन्य कोई शरण नहीं है.......।" – इसप्रकार श्री कीर्तिधर महाराज ने वैराग्य से भरपूर धर्मोपदेश दिया। धर्मपिता महाराज कीर्तिधर से उपदेश सुनकर राजकुमार सुकौशल का हृदय बहुत तृप्त हुआ....और असार-संसार से उनका मन विरक्त हो गया... तब उन्होंने शान्तचित्त से विनयपूर्वक हाथ जोड़कर इसप्रकार प्रार्थना की –

"प्रभो ! मुझे भी जिनदीक्षा देकर अपने जैसा बना लीजिये, मैं तो मोहनिद्रा में सो रहा था, आपने मुझे जगाया.....आप जिस मोक्ष-साम्राज्य की साधना कर रहे हो ....मुझे भी वैसा ही मोक्ष-साम्राज्य चाहिये। इसप्रकार राजकुमार सुकौशल उसी समय दीक्षा लेने हेतु तत्पर हो गये।

राजमाता सहदेवी और राजकुमार सुकौशल की गर्भवती रानी विचित्रमाला को जब यह समाचार मिला तो वे भी अपने मंत्री आदि सभी के साथ वहाँ आ पहुँचीं।

उन्होंने राजकुमार से कहा – "हे राजकुमार ! भले ही तुम दीक्षा ले लेना.....हम नहीं रोकेंगे। लेकिन तुम्हारे वंश में ऐसा रिवाज है कि पुत्र बड़ा होने पर, उसे राज्य सौंपकर राजा दीक्षा लेता है.... इसलिए आप भी रानी विचित्रमाला के बालक को जन्म लेकर बड़ा हो जाने दें, तब उसे राज्य सौंपकर दीक्षा ले लेना....।"

राजकुमार ने कहा– "जब वैराग्यदशा जागी, तब उसे संसार का कोई बंधन रोक नहीं सकता; फिर भी, देवी विचित्रमाला के गर्भ में जो बालक है, उसका राजतिलक करके मैं उसको राज्य सौंपता हूँ।"

ऐसा कहकर वहीं के वहीं गर्भस्थ बालक को अयोध्या का राज्य सौंपकर, सुकौशल कुमार ने अपने पिता कीर्तिधर मुनिराज के पास जिनदीक्षा ले ली...... पिता के साथ ही पुत्र भी संसार के बंधन तोड़कर मोक्षपथ में चलने लगा। कल का राजकुमार राजवैभव छोड़कर मोक्षरूपी आत्मवैभव को साधने लगा। क्षणभर पहले का राजकुमार अब मुनि होकर आत्मध्यान से सुशोभित होने लगा।

धन्य है उनका आत्मज्ञान..... धन्य है उनका वैराग्य !

वाघिन का वैराग्य –

राजकुमार सुकौशल ने जब कीर्तिधर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली, तब सुकौशल की माता सहदेवी को बहुत आघात लगा। पिता और पुत्र दोनों मुनि हो गये, इससे तीव्र मोह को लेकर सहदेवी ने उस मुनिधर्म की निंदा की..... धर्मात्माओं का अनादर किया.... और क्रूर परिणाम करके आर्त्तध्यान करते-करते वह मर गई और मरकर वाघिन हुई.....।

अरे, जिसका पति मोक्षगामी, जिसका पुत्र भी मोक्षगामी – ऐसी वह सहदेवी, धर्म और धर्मात्मा के तिरस्कार करने से वाघिन हुई.....। अत: बन्धुओ ! जीवन में कभी धर्म या धर्मात्मा के प्रति अनादर नहीं करना, उनकी निंदा नहीं करना।

अब वाघिन हुई वह राजमाता एक जंगल में रहती थी, वह जंगल के जीवों की हिंसा करती और अत्यन्त दु:खी रहती....उसे कहीं भी चैन नहीं पड़ती।

एकबार जिस जंगल में वह वाघिन रह रही थी, उस ही जंगल में मुनिराज कीर्तिधर तथा सुकौशल आकर शान्ति से आत्मा के ध्यान में बैठ गये....। वे वीतरागी शान्ति का महा-आनन्द लेने लगे।

वाघिन ने दोनों को देखा ..... देखते ही क्रूर भाव से गर्जना की और सुकौशल मुनिराज के ऊपर छलांग मारकर उन्हें खाने लगी....।

उस समय कीर्तिधर मुनिराज और सुकौशल मुनिराज दोनों तो आत्मा के ध्यान में थे और वाघिन मुनिराज को खा रही थी, वे मुनि आत्मा के ध्यान में ऐसे लीन हो गये कि शरीर का क्या हो रहा है – उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। आत्मा का अनुभव करते-करते उस ही समय सुकौशल मुनिराज ने तो केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष प्राप्त किया तथा कीर्तिधर मुनिराज ध्यान में ही मग्न रहे।

अहा ! धन्य है उन मुनिराजों को, उनके जीवन को !

इधर सुकौशल मुनि के शरीर को खाते-खाते वाघिन की नजर उनके हाथ के ऊपर पड़ी...... हाथ में एक चिन्ह देखते ही वह आश्चर्यचकित रह गयी। उसके मन में विचार आया कि यह हाथ मैंने कहीं देखा है.... और तुरन्त ही उसे पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ।

"अरे, यह तो मेरा पुत्र ! मैं इसकी माता। अरे रे, अपने पुत्र को ही मैंने खा लिया।" – इसप्रकार के पश्चाताप के भाव से वह वाघिन रोने लगी, उसकी आँखों में से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसी समय कीर्तिधर मुनिराज का ध्यान टूटा और उन्होंने वाघिन को उपदेश दिया – "अरे वाघिन ! (सहदेवी) पुत्र के प्रति विशेष प्रेम के कारण ही तेरी मृत्यु हुई, उस ही पुत्र के शरीर का तूने भक्षण किया ? अरे रे, इस मोह को धिक्कार है। अब तुम इस अज्ञान को छोड़ो और क्रूर भावों को त्यागकर आत्मा को समझकर अपना कल्याण करो !"

मुनिराज के उपदेश को सुनकर तुरन्त ही उस वाघिन ने धर्म प्राप्त किया, आत्मा को समझकर उसने माँस-भक्षण छोड़ दिया, फिर वैराग्यपूर्वक संन्यास धारण किया और मरकर देवलोक में गई। यहाँ श्री कीर्तिधर मुनि भी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गये।

राजा रघु और राम आदि महापुरुष भी कीर्तिधर राजा के वंश में ही हुए हैं।

हे भव्यजीवो ! धर्मात्मा-ज्ञानियों के जीवन में वैराग्य समाहित होता है। आत्मा को समझकर ऐसा वैरागी-जीवन जीने की भावना करनी चाहिये। तुम भी मिथ्यात्व आदि समस्त प्रकार के पापभाव छोड़कर आत्मज्ञान प्राप्त करो।

सबसे......पहले.....धर्म

"जब वृद्धावस्था होगी, तब धर्म करूँगा" –ऐसा कहते-कहते अनेक जड़बुद्धि (मूर्ख) धर्म किये बिना ही मर गये। अरे, धर्म करने के लिए वृद्धावस्था की राह क्यों देखना ? मुमुक्षु के जीवन में पहला स्थान धर्म का होता है। सबसे पहला क्षण धर्म का......सबसे पहला काम धर्म का।

भरत राजा के पास एक साथ तीन शुभ-संदेश आये थे। जिनमें पुत्ररत्न और चक्ररत्न की प्राप्ति– ये दोनों को गौण करके उन्होंने सबसे पहले भगवान आदिनाथ को केवलज्ञान-प्राप्ति के शुभ-सन्देश को मुख्य करके उनकी पूजा की थी। इस घटना से भरत चक्रवर्ती के जीवन में धर्म की प्रधानता थी – इसका पता चलता है। भाई ! यदि तुम्हें भी दुःख से छूटना हो तो वर्तमान में तुम्हारे पास जो मौजूद है, उसका सदुपयोग कर लो। फिर कभी....फिर कभी के भरोसे प्रमादी होकर बैठे रहे तो अन्त में पछताना पड़ेगा।

धर्म के संस्कार वृद्धावस्था में भी तुझे ऐसा सुन्दर सहारा देंगे कि अन्य सहारों की तुझे जरूरत ही नहीं पड़ेगी। अतः हे जीव ! तू आज से ही सचेत हो जा !!

8

बन्दर बना गणधर

एक बंदर था, वह पूर्वभव में मनुष्य था; परन्तु उस समय उसने अपनी आत्मा को ना समझकर बहुत छल-कपट किया, अतः वहाँ से मरकर बंदर हुआ।

वह बंदर एक वन में रहता, वन में रहकर खूब फल-फूल खाता। एक झाड़ से दूसरे झाड़ पर उछल-कूद करता। ऊँची-ऊँची छलाँग मारकर हूआ-हूआ करके दूसरों को डराता।

उस वन में जब मुनिराज आते और झाड़ के नीचे ध्यान में बैठते, तब मुनिराज को देखकर वह बंदर बहुत खुश होता और तब वह उस झाड़ के ऊपर ऊधम नहीं मचाता। एक बार उस वन में एक राजा और रानी आये। राजा का नाम वज्रजंघ था और रानी का नाम श्रीमती। तभी उन राजा के दो पुत्र जो मुनि हो गये थे, वे मुनि उस वन में आ पहुँचे। तब राजा-रानी ने उन दोनों मुनिवरों को भक्ति-भाव से आहारदान दिया।

बंदर वृक्ष के ऊपर बैठा-बैठा यह सब देख रहा था। यह सब देखकर उसे ऐसी भावना जागी कि यदि मैं मनुष्य होता तो मैं भी इन राजा की तरह मुनियों की सेवा करता, परन्तु अरे रे ! मैं तो पशु हूँ.... मेरा ऐसा भाग्य कहाँ....कि मैं मुनिराज को आहार दे सकूँ। आहार दान के बाद वे मुनि उपदेश देने के लिए बैठे। राजा-रानी के साथ वह बंदर भी वहाँ बैठा-बैठा उनका उपदेश सुन रहा था....और दोनों हाथ जोड़कर मुनिराजों की वन्दना कर रहा था। बंदर को इस प्रकार व्यवहार करते देख राजा बहुत खुश हुये और उन्हें बंदर के ऊपर प्रेम उमड़ा।

तब राजा ने मुनिराज से पूछा – प्रभो ! "यह बंदर कौन है ?" उसी समय मुनिराज ने कहा – "हे राजन् ! यह बंदर पूर्वभव में नागदत्त नाम का बनिया था, उस समय बहुत कपट भाव करने के कारण यह बंदर हुआ है; परन्तु अब इसे उत्कृष्ट भाव जागा है, इसे धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न

हुआ है। धर्म उपदेश सुनने से यह बंदर बहुत खुश हुआ है, उसे पूर्वभव का स्मरण हुआ है अब वह संसार से उदास हो गया है।'' मुनिराज के मुख से बंदर का वृत्तांत सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए।

फिर मुनिराज ने कहा – हे राजन्! जिसप्रकार इस भव में हम तुम्हारे पुत्र थे, उसीप्रकार यह बंदर भविष्य में तुम्हारा पुत्र होगा। जब तुम ऋषभदेव तीर्थंकर होओगे, तब यह जीव तुम्हारा गणधर होगा और फिर मोक्ष प्राप्त करेगा। अहा! मुनिराज के मुख से यह बात सुनकर बंदर बहुत ही खुश हुआ और भावविभोर होकर मुनि के चरणों की वन्दना करके आनंद से नाचने लगा।

अपने मोक्ष की बात सुनकर किसे आनंद नहीं होगा? बंदर भाई के तो आनंद का पार न रहा, वह प्रतिदिन उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भावना भाने लगा....जैसे कोई मनुष्य हो....और मोक्ष प्राप्त करने वाला हो। अन्त में वह बंदर मरकर मनुष्य हुआ और भोग-भूमि में जन्मा, राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती के जीव भी वहीं जन्मे।

एक बार वे सभी बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे। तभी आकाश से दो मुनिराज वहाँ उतरे....और अनेक प्रकार से धर्म का उपदेश दिया और आत्मा का स्वरूप समझाया। मुनिराज के उपदेश को सुनकर उन सभी जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया....अर्थात् मोक्षमार्ग में चलने लगे।

फिर वे सभी जीव वहाँ से आयु पूर्ण करके स्वर्ग गये और चार भव बाद राजा का जीव ऋषभदेव तीर्थंकर हुआ, उसी समय बंदर का जीव उनका पुत्र हुआ, उसका नाम गुणसेन था। वे भगवान से दीक्षित होकर ऋषमदेव भगवान के गणधर हुये, अंत में केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष प्राप्त किया। अहो! जो कभी बंदर था, आज वह भी आत्मा को समझकर भगवान बन गया। वह जीव धन्य है।

भाइयो! सच्चे वीतरागी मुनि की भक्ति से और आत्मा को समझने से, एक बंदर का जीव भगवान बन गया। हम सब भी अपनी आत्मा को समझकर श्री देव-शास्त्र-गुरु को अपना आदर्श बनाकर उनकी सेवा-भक्ति करते हुए उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर अपना आत्मकल्याण करने में संलग्न हों।

(कहानी संख्या 1 से 8 के लेखक ब्र. हरिलाल जैन हैं। - आभार)

9

आप कुछ भी कहो

"**नमोऽस्तु**" की विनम्र ध्वनि ने ऋषिराज का ध्यान भग्न किया तो उनके मुखारबिन्द से सहज ही मंगल आशीर्वाद प्रस्फुटित हुआ – "**धर्मवृद्धिरस्तु**"

विनत राजश्रेष्ठी का म्लान मुख देखकर ऋषिराज बोले – "बोलो, क्या बात है ?"

अन्तर के भावों को छिपाते हुए श्रेष्ठीराज कहने लगे –

"कुछ नहीं, बस, आपके दर्शन करने ही चला आया हूँ।"

"असमय में आगमन एवं म्लान मुख सब-कुछ कह रहा है; छिपाने का प्रयत्न व्यर्थ है, आवश्यक भी नहीं।"

"महाराज छुपाने की तो कुछ बात नहीं, पर....।"

"पर संकोच किस बात का ? जब...."

"महाराज ! आपकी यह पीड़ा देखी नहीं जाती, सही नहीं जाती; दिगम्बरत्व का अपमान बरदाश्त नहीं होता।"

"हमें कैसी पीड़ा ? हम तो अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न रहते हैं।"

"आपका सम्पूर्ण शरीर कुष्ठ से गल रहा है।"

"यह तो जड़ पुद्गल का परिणमन है। इससे हमारा क्या लेना-देना ? जब तक संयोग है, तब तक रहेगा। पुण्य-पाप के अनुसार इसका जैसा परिणमन होना होगा, होता रहेगा। हम तो इससे भिन्न ज्ञान के घनपिण्ड आनन्द के कन्द चेतनतत्त्व हैं, सो उसमें ही मग्न हैं।"

"यह सब तो ठीक है, अध्यात्म की बातें हैं; पर आपको इसके लिए भी कुछ करना चाहिए – यही हमारा नम्र निवेदन है।"

"हम इसका क्या कर सकते हैं ?"

"आप क्या नहीं कर सकते हैं ? आप कुवादियों का मद मर्दन करने वाले वादिराज हैं। आपकी वाणी में वह शक्ति है कि जो उसमें प्रस्फुटित हो जावे, वह होकर ही रहता है। इसका परिचय इस जगत को कई बार प्राप्त हो चुका है। आपके शब्द ही मंत्र हैं, उनका जादू जैसा प्रभाव

हम कई बार देख चुके हैं। यदि आप चाहें तो यह कुष्ठ एक समय भी नहीं रह सकता।''

''बहुत भ्रम में हो श्रेष्ठीराज ! ऐसा कुछ भी नहीं है। **किसी का चाहा कुछ भी नहीं होता। उसी भव से मोक्ष जाने वाले सनतकुमार चक्रवर्ती को भी मुनि-अवस्था में सात सौ वर्ष तक यह कुष्ठ व्याधि रही थी, तो हमारी क्या बात है ?**

दूसरे, इसने क्या बिगाड़ा है हमारा, जो हम इसका अभाव चाहने लगें। हमनें कुछ चाहने के लिए घर नहीं छोड़ा है, चाहना छोड़ने के लिए ही हम दिगम्बर हुए हैं। हमें इन विकल्पों में न उलझाओ।

शास्त्रों में ठीक ही कहा है कि गृहस्थों की अधिक संगति ठीक नहीं। वे व्यर्थ की बातों में ही उलझाते हैं, उनसे अन्तर की प्रेरणा मिलना तो सम्भव है नहीं।''

''आप अपने लिए न सही, पर हमारे लिए तो कुछ करो। हमसे यह दुःख देखा नहीं जाता, दिगम्बरत्व का यह अपमान....''

वे अपनी बात पूरी ही न कर पाये थे कि वादिराज बोले –

''कोई किसी के लिए कुछ नहीं कर सकता। पर इसमें दिगम्बरत्व के अपमान की बात कहाँ से आ गई ? **दिगम्बर धर्म आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। शरीर के विकृत होने से दिगम्बर धर्म का अपमान कैसे हो सकता है ?**''

ऋषिराज वादिराज बोले जा रहे थे, पर श्रेष्ठीराज कुछ नहीं सुन रहे थे, उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। वे अत्यन्त भावुक हो गये थे।

जब ऋषिराज का ध्यान उनकी ओर गया तो वे बोले –

''तुम्हारी इस व्याकुलता का कारण अगम्य है। सब-कुछ साफ-साफ कहो, बात क्या है?''

गद्‌गद् स्वर में श्रेष्ठीराज कहने लगे –

''कल राजसभा में जबकि दरबार खचाखच भरा था, दिगम्बर धर्म की हँसी उड़ाते हुए कुछ विरोधियों ने जब यह कहा कि दिगम्बर साधु कोढ़ी होते हैं, उनमें इतनी भी क्षमता नहीं कि अपने शरीर को स्वस्थ रख लें, तो वे दूसरों का क्या भला करेंगे ?

दिगम्बरत्व का यह अपमान मुझसे न सहा गया और मैंने कहा कि – यह सफेद झूठ है, दिगम्बर साधु कोढ़ी नहीं होते। वे सब कुछ कर सकते हैं।

उस समय जोश में मुझे कुछ होश न रहा और मैं यह सब कह गया। पर जब उन लोगों ने कहा कि हमने आज ही नगर में कोढ़ी दिगम्बर साधु देखे हैं तो मुझे आपका ध्यान आया, पर....।

उन लोगों ने महाराजा साहब को बहुत उकसाया तो वे कहने लगे – हम स्वयं कल दिगम्बर मुनिराज के दर्शन करने चलेंगे।"

शान्त गम्भीर ऋषिराज बोले –

"श्रेष्ठीवर, इतना धर्मानुराग भी ठीक नहीं कि उसके आवेग में आप सत्य का भी ध्यान न रखें। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता – यह दिगम्बर धर्म का अपमान नहीं, सर्वोत्कृष्ट सम्मान है; क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। यह जन-जन की ही नहीं, बल्कि कण-कण की स्वतंत्र सत्ता का महान उद्घोष है।"

ऋषिराज बहुत देर तक वस्तु का सत्य स्वरूप समझाते रहे, प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र सत्ता एवं उसके स्वाधीन परिणमन की सम्यक् स्थिति का परिज्ञान कराते रहे, पर श्रेष्ठीराज की व्याकुलता कम नहीं हुई।

यद्यपि वे कुछ कह न सके, पर उनकी आँखें तो अन्तर को स्पष्ट कर ही रही थीं। उन्होंने जबान से तो कुछ नहीं कहा, पर अश्रुपूरित नेत्रों एवं अवरुद्ध गले से सब-कुछ कह दिया। वे अनिमेष नेत्रों से ऋषिराज को देख रहे थे। वे ऋषिराज के करुणा-विगलित मानस से कुछ आश्वस्त होना चाहते थे, पर उनमें उन्हें असंग वीतरागता के अतिरिक्त कुछ भी न दीखा।

(2)

नगर के निकटस्थ गिरि-गुफा में विराजमान नग्न दिगम्बर सन्त वादिराज के दर्शनार्थ नगरनिवासी उमड़ रहे थे, क्योंकि आज सम्राट भी अपने दरबार के साथ उनके दर्शनार्थ आने वाले थे। जब गुफा के बाहर बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई तो कोलाहल सुन ऋषिराज बाहर पधारे।

उगते हुए सूर्य के समान दैदीप्यमान कंचनवर्णी काया, अतीन्द्रियानन्द से तृप्त, शान्त, गुरुगम्भीर तेजोद्दीप्त मुखमण्डल, नवजात शिशु के समान निर्विकार नग्न दिगम्बर वीतरागी निर्भय मुद्रा के धारी ऋषिराज के दर्शन कर प्रजा के साथ सम्राट भी जय-जयकार कर उठे।

सब आश्चर्यचकित एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। श्रेष्ठीराज की आँखों से अब भी अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, पर ये अश्रु आनन्द के थे। मुनि निन्दा करने वालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, पर कोई कुछ बोल नहीं रहा था।

समीपस्थ स्वच्छ शिलाखण्ड पर ऋषिराज के विराजमान होने के बाद नतमस्तक सम्राट भी अपने परिकर के साथ वहीं जमीन पर बैठ गये। जनता भी धीरे-धीरे यथास्थान बैठने लगी। कुछ ही क्षणों में जिसको जहाँ स्थान मिला, वह वहीं बैठ गया।

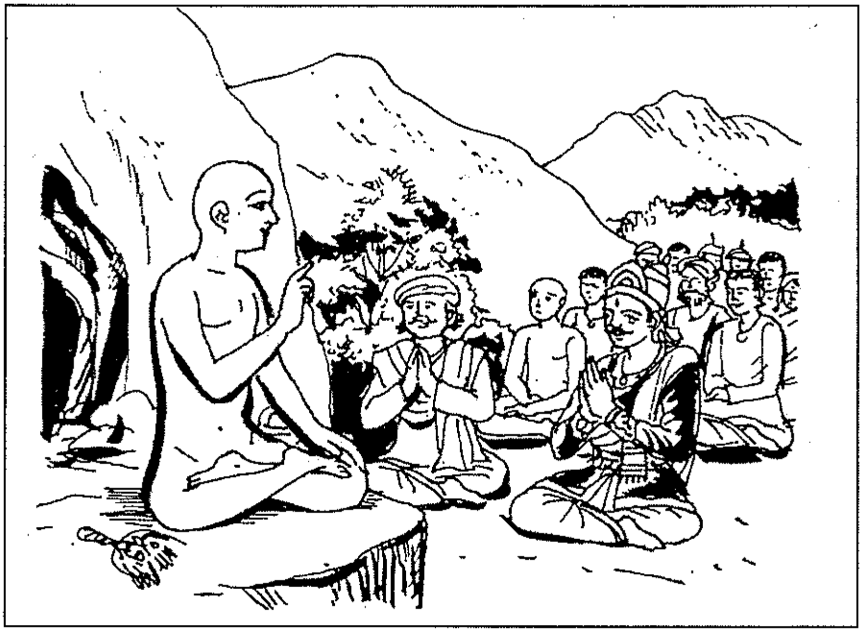

जनता की मूक याचना से द्रवित हो ऋषिराज की दिव्य देशना प्रवाहित होने लगी। ऋषिराज कह रहे थे –

"सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं होते। स्वभाव से तो सभी आत्मायें स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन-हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं, और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं।"

जब सभी परमात्मा हैं तो फिर कौन छोटा, कौन बड़ा ? सभी समान ही हैं। अपने भले-बुरे का उत्तरदायित्व प्रत्येक आत्मा का स्वयं का है। कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता, पर के भला-बुरा करने का भाव करके यह आत्मा स्वयं ही पुण्य-पाप के चक्कर में उलझ जाता है, बँध जाता है। पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन के कारण हैं। पाप यदि लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की – बेड़ियाँ दोनों ही हैं, बेड़ियाँ बन्धन ही हैं।

धर्म तो वस्तु के स्वभाव का नाम है, उसमें फेरफार करने की बुद्धि ही मिथ्या है, अहंकार है, दुःख का कारण है, दुःख स्वरूप ही है। **जगत के क्रमनियत परिणमन को ज्ञाता-दृष्टा भाव से स्वीकार कर लेना ही सम्यग्ज्ञान का कार्य है; उसमें हर्ष-विषाद उचित नहीं, आवश्यक भी नहीं।**

भगवान जगत के ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं। जो जगत को साक्षीभाव से अप्रभावित रहकर देख सके, जान सके; वस्तुतः वही भगवान है। **भगवान बनने का उपाय भी जगत से अलिप्त रहकर साक्षीभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहना ही है।**

सभी आत्मायें अपने को जानें, पहिचानें; उसी में जम जावें, रम जावें और अनन्त सुखी हों।"

उपदेशामृत से तृप्त सम्राट खड़े हो गये और हाथ जोड़कर विनम्र भाषा में कहने लगे –

"हमारी यह भूमि आपके पदार्पण से धन्य हो गई। जब आपके दर्शन ही भवतापहारी हैं तो वचनामृतों का तो कहना ही क्या ?"

ऋषिराज किंचित् मुस्कराये, फिर बोले –

"**किसकी भूमि ? भूमि भूमि की है, यह आज तक न किसी की हुई है और न होगी। भवताप का अभाव तो स्वयं के आत्मा के दर्शन से होता है। दूसरों के दर्शन से आज तक कोई भवमुक्त नहीं हुआ और न कभी होगा। भवतापहारी तो पर और पर्याय से भिन्न निज परमात्मतत्व ही है। उसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है, उसके परिज्ञान का नाम ही सम्यग्ज्ञान है और उसका ध्यान ही सम्यक्चारित्र है। अतः उसका जानना, मानना और ध्यान करना ही भव का अभाव करने वाला है।**"

मस्तक झुकाकर सम्राट ने ऋषिराज की बात को सम्मान दिया और अपनी आन्तरिक उत्सुकता न दबा पाने के कारण उनके मुख से सहज ही निकला –

"**हमने तो आपके बारे में सुना था कि आप कुष्ठ....**"

उनकी बात पूरी ही न हो पाई थी कि ऋषिराज बोल उठे –

"हम नहीं; हमारी यह देह अवश्य कोढ़ी थी। हम तो देह-देवल (देवालय) में विराजमान भगवान आत्मा हैं, आप भी देह-देवल में विराजमान भगवान आत्मा ही हैं। **मन्दिर के विकृत हो जाने से उसमें विराजमान देवता विकृत नहीं हो जाते।**"

"यह तो ठीक, पर यह देह-देवालय ठीक कैसे हुआ ?"

"हम नहीं जानते, हम तो यह भी नहीं जानते कि यह विकृत भी कब और कैसे हुआ ? पुण्य-पाप के उदयानुसार यह सब तो अपने-अपने क्रमानुसार होता ही रहता है; हम किस-किस को जानें, किस-किस की चिन्ता करें, हम तो अपने में ही तृप्त हैं।"

"क्या आपने इसके लिए कुछ भी नहीं किया ?"

"पर के परिणमन में हम कर भी क्या सकते थे, आवश्यकता भी क्या थी ?"

"भक्ति, मंत्र, तंत्र....?"

"भक्ति, जिनभक्ति तो हमारा दैनिक कर्तव्य है, आवश्यक कर्तव्य है, उससे इसका क्या लेना-देना ?

देह सम्बन्धी मिथ्या विकल्पों में उलझना ऋषियों का कार्य नहीं। विकल्पों से होता भी क्या है ? पर में कर्तृत्व के सभी विकल्प नपुंसक ही होते हैं, उनसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, यदि उनका मेल कभी जगत में सहज परिणमन से सहज ही हो जावे तो अनादिकालीन मिथ्या मान्यतायें और भी पुष्ट हो जाती हैं।"

"तो इसमें आपने कुछ भी नहीं किया ?"

"तत्सम्बन्धी विकल्प भी नहीं; **यदि मुझे ऐसा विकल्प भी होता तो वह मेरे साधुत्व के लिए अभिशाप ही होता।** फिर यह देखिये मेरी कनिष्ठा अंगुली में अब भी कुष्ठ शेष है। यदि मेरे मिटाने से मिटता तो मैं इसे शेष क्यों रखता ?"

इस सम्पूर्ण संवाद को सुन रही सम्पूर्ण जनता के मुख से एक साथ निकला –

"धन्य हैं, धन्य हैं; सच्ची साधुता इसे कहते हैं।"

सम्राट सहित सबके हृदय गद्गद् हो गये। आलोचकों के हृदय भी बदल गये। उनमें से एक बोला –

"नकली साधु होता तो सहज सम्पन्न इस प्रसंग से अपने को महान् सिद्ध करने का लोभ संवरण नहीं कर पाता चाहे उससे मूल जिनधर्म की हत्या ही क्यों न हो जाती ?"

दूसरा कहने लगा – "आप सत्य कहते हैं, यश के लोभियों ने ही धर्म की मूल भावना को विकृत कर रखा है।"

तीसरा कहने लगा – "ऋषिराज ने कुछ भी कहा हो, पर यह मूर्ख जगत उनके नाम से इसे चमत्कार के रूप में ही प्रसारित करेगा।"

बाद की बात तो बहुत दूर, उसी समय एक अन्य भगत ने उठकर ऋषिराज के चरण छुए और ऊँचे स्वर में कहा –

"आप कुछ भी कहो, पर हम तो इसे आपका चमत्कार ही मानेंगे।"

10

अभागा भरत

भरताधिपति सम्राट भरत के दरबार में जब एक के बाद एक तीन शुभ समाचार आये तो सम्पूर्ण दरबार आनन्दातिरेक से झूम उठा, आनन्द-सागर में डूब गया; पर सम्राट भरत जल से भिन्न कमलवत् अलिप्त ही बने रहे।

यह बात नहीं है कि आदितीर्थंकर ऋषभदेव को सर्वज्ञता की प्राप्ति के शुभ समाचार ने उन्हें प्रफुल्लित नहीं किया था; अवश्य किया था, इससे तो वे रोमांचित हो उठे थे।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पुत्ररत्न की प्राप्ति के समाचार की कुछ भी प्रतिक्रिया उनके वदनाम्बुज पर लक्षित नहीं की जा सकी थी; किन्तु जब चक्ररत्न की प्राप्ति का समाचार मिला, तब तो वे एकदम गम्भीर हो उठे, उनका आनन्दातिरेक कपूर की भाँति काफूर हो गया।

मुखमण्डल पर प्रतिबिम्बित भरत के अन्तरंग से अपरिचित सम्पूर्ण दरबार यद्यपि आनन्दमग्न था, तथापि तीव्रतम निरीक्षण शक्ति से सम्पन्न महामात्य से कुछ भी छिपा न रह सका। **जगत में ऐसा कौन-सा प्रमेय है, तो सतर्क प्रज्ञा को अगम्य हो।**

दरबार की समाप्ति पर एकान्त पाकर महामात्य ने कहा –

''आह्लाद के अवसर पर सम्राट की गम्भीरता का रहस्य क्या यह क्षुद्र सेवक भी जान सकता है ?''

''क्या महामात्य को भी हृदय का रहस्य वाणी से बताना होगा ?''

''सम्राट के इस विश्वास को यह अनुचर अपनी अनुपम निधि समझता है, पर **पर्यायों के क्रमनियत परिणमन को कौन टाल सकता है ?** सम्राट को इस महासत्य पर भी विचार करना चाहिए। **अपने नियतक्रम में घटनेवाली घटनाओं को साक्षीभाव से स्वीकार करना ही दृष्टिवन्त का कर्त्तृत्व है।**''

''**श्रद्धास्पद सत्य को स्वीकार करने के लिए राग बाध्य नहीं होता** – इस पर्यायगत सत्य को भी तो टाला नहीं जा सकता। निरन्तर प्राप्त होने वाली भाग्योदय की बधाइयाँ स्वीकार करते-करते अब यह अभागा भरत ऊब गया है।''

"**रुचि की प्रतिकूलता में सद्भाग्य भी दुर्भाग्यवत् फलते हैं।** जिस चक्ररत्न की प्राप्ति को जगत बड़ा भारी भाग्योदय समझता है, **जिनध्वनि श्रवण में अन्तरायस्वरूप होने से उसी की उपलब्धि ने आज राजाधिराज को आन्दोलित कर दिया है** – यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ; पर सागर को अपनी गम्भीरता को पहिचानना होगा। इससे अधिक कुछ कहना अनुचर उचित नहीं समझता है, क्योंकि वह अपनी सीमाओं से अपरिचित नहीं है।"

"महामात्य की समयोचित सलाह के लिए भरत आभारी है।"

(2)

दिग्विजय के लिए प्रस्थान के अवसर पर मंगल-तिलकोपरान्त जब भरत राजमाता यशस्वती नन्दा के चरणों की वन्दना कर रहे थे, तब उनकी आँखों से प्रवाहित अश्रुधारा ने राजमाता के चरण पखार दिये।

मंगल प्रस्थान के अवसर पर प्रवाहित अश्रुधारा में राजमाता को ससम्मान दिग्विजय में कुछ अमंगल प्रतीत हुआ।

अपने को सँभालते हुए वे गरजकर बोलीं –

"भरतक्षेत्र के भावी भाग्यविधाता, आद्य चक्रवर्ती सम्राट, नन्दा के दुग्ध से पुष्ट, भाग्यशाली ऋषभपुत्र की इस कातरता का कारण राजमाता जानना चाहती है, क्योंकि उन्हें यह इष्ट प्रतीत नहीं होती।"

"भरत को और चाहे जो कुछ कहें, पर भाग्यशाली नहीं। आज इस अभागे भरत को अपने सौ भाइयों एवं उन नागरिकों के भाग्य से ईर्ष्या हो रही है, जिन्हें आज से ही प्रतिदिन दिन में तीन-तीन बार छह-छह घड़ी भगवान ऋषभदेव की दिव्यध्वनि सुनने का अवसर प्राप्त होगा, और उसी समय तुम्हारा यह अभागा भरत साम-दाम-दण्ड-भेद की राजनीति में उलझा होगा, युद्ध का संचालन कर रहा होगा।"

भरत के अन्तर्द्वन्द्व ने राजमाता को आन्दोलित कर दिया। वे एकदम गम्भीर हो गईं, पर कुछ बोली नहीं। उनके गम्भीर मौन ने जो कुछ कहा, उसके उत्तर में भरत कहने लगे –

"हो सकता है यशस्वती राजमाता के गौरव को मेरा यह स्पष्टीकरण स्वीकृत न हो, पर भरत की वात्सल्यमयी माँ को तो...."

– भरत अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि राजमाता का शौर्य भी विगलित हो उठा और वे बोलीं –

"बेटा, मैं तेरी वेदना जानती हूँ, पर भरत का भारत अखण्ड होना चाहिए, छह खण्डों में विभाजित नहीं।"

"भरत अपना कर्तव्य पहिचानता है। **कर्तव्य की ठोकर बुद्धि ही बर्दाश्त कर सकती है, हृदय नहीं।**"

"चक्रवर्ती की आँखों में आँसू शोभा नहीं देते।"

"माँ के सामने भी ?"

"बात माँ की नहीं, राजमाता की है।"

(3)

जनभावना जानने के लिए सम्राट भरत के गुप्तचर सम्पूर्ण आर्यावर्त में निरन्तर सक्रिय थे। जहाँ भी सेना का पड़ाव होता, रात्रि में गुप्तचरों से प्राप्त सूचनाओं पर उच्चस्तरीय मन्त्रणा चला करती थी।

गुप्तचर विभाग के अध्यक्ष ने आज का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा –

"जो कार्य वर्षों के घमासान युद्धों से सम्भव न हो सका, वह कल की घटना से सम्पन्न हो गया है। आज सारा आर्यावर्त सम्राट भरत के भाग्य की सराहना कर रहा है, उनके सौभाग्य से अभिभूत है।"

"कल ऐसा क्या घटा ?"

"आप अर्द्धरात्रि में भगवान ऋषभदेव के दर्शन करने जो पधारे थे। उस अवसर पर आपके निमित्त से भगवान की दिव्यध्वनि भी असमय में प्रसारित हुई थी।"

"इससे राजनीति का क्या लेना-देना ? यह तो मेरी व्यक्तिगत रुचि का कार्य है।"

"**राजनीति अपना रस सब जगह से ग्रहण करती है। देश की अखण्डता के लिए मात्र**

जमीन ही जीतना जरूरी नहीं होता, जनता का दिल भी जीतना होता है। धर्मप्राण जनता धार्मिक सद्भाग्य से ही समर्पित होती है – सम्राट को यह नहीं भूलना चाहिए।''

''नहीं, मैं अपनी व्यक्तिगत भक्ति का राजनैतिक लाभ नहीं उठाना चाहता।''

''यह आपकी महानता है, पर **आपके चाहने न चाहने से क्या होता है ? सौभाग्य का उदय हो तो लाभ मिलता ही है।''**

''मैं नहीं चाहता कि भविष्य का इतिहास यह कहे कि भरत का जिनेन्द्र-दर्शन भी राजनैतिक कार्य था।''

''**चाह आज तक किसी की पूरी नहीं हुई।** आज का कण-कण आपके सौभाग्य की महिमा से गुंजायमान हो रहा है।''

''**भीड़ की मनोवृत्ति भी क्या गजब की होती है, प्रतिदिन दिन में तीन-तीन बार भगवान की दिव्यध्वनि का लाभ लेने वाले भाग्यशाली लोग भी अपने को अभागा और जीवन में अब तक एकाध बार ही लाभ लेने वाले मुझ जैसे अभागे को भाग्यवान मान रहे हैं** – इसे मैं क्या कहूँ ?

बदलिये इस विषय को – इसकी चर्चामात्र मुझे आन्दोलित कर देती है, **भगवान की वाणी का विरह और भी तीव्र हो जाता है।**

जब-जब जनता मुझे भाग्यशाली होने की बधाइयाँ देती है, तब-तब यह अभागा भरत उन्हें प्रसन्नता से स्वीकार भी नहीं कर पाता है – क्या इसी का नाम सद्भाग्य है ?

लक्ष्मण को सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति

रामचन्द्रजी के वन प्रवास के समय एकबार लक्ष्मण जब वन की शोभा देख रहे थे, तब उन्हें वहाँ एक आश्चर्यकारी सुगंध आई....जहाँ से सुगंध आ रही थी, उन्होंने जब वहाँ जाकर देखा तो उन्हें वहाँ एक अद्भुत 'सूर्यहास' तलवार दिखाई दी, जिसे रावण की बहन चन्द्रनखा के पुत्र शंबुक ने बाँस के बीड़े में 12 वर्ष की विद्या साधना द्वारा सिद्ध की थी, परन्तु यह सिद्ध हुई कि इतने में ही लक्ष्मण ने आकर उसे हाथ में लेकर उसकी तीक्ष्ण धार को देखने हेतु उसे उसी बाँस के बीड़े (समूह) के ऊपर चलाया, जिससे उस बाँस के बीड़े (समूह) के बीच में स्थित शंबुक का शिर भी छिद गया।

अरे देव ! विद्या द्वारा तलवार साधी किसी ने, हाथ में आई किसी दूसरे के। बारह वर्ष की तपस्या द्वारा सिद्ध हुई तलवार स्वयं के ही घात का कारण बनी.....। अरे ! **तलवार को साधने के बदले आत्मा को साधा होता तो मोक्षरूपी उत्तम फल प्राप्त होता।** – पद्मपुराण से साभार

11

उच्छिष्ट भोजी

यशस्वती माँ नन्दा आज आनन्दातिरेक में झूम रही थीं। क्यों न झूमतीं, आखिर उनका बेटा छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर घर वापस आ रहा था। विश्वविजेता राजाधिराज चक्रवर्ती सम्राट भरत की जय के नारों से आकाश गूँज रहा था। ससैन्य भरत ने अभी अयोध्या में प्रवेश नहीं किया था, तथापि उनके जयघोषों की ध्वनि राजमहल की अट्टालिकाओं में स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

यद्यपि उनकी दिग्विजय की सफलता के समाचार समय-समय पर राजमाता को प्राप्त होते रहे थे, **तथापि माँ का हृदय समाचारों से कब तृप्त हुआ है ? उसे तो सम्मिलन से ही सन्तोष होता है।**

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के नमन के भार से भरित गुरु-गम्भीर भरत ने जब राजमहल में प्रवेश किया तो स्वागत के लिए परिजनों से घिरी हुई राजमाता को मंगल कलश लिए सिंहद्वार पर उपस्थित पाया।

भरत माँ के चरणों में पूर्णतः झुक ही न पाये थे कि राजमाता ने उन्हें आलिंगनबद्ध कर लिया; किन्तु दिग्विजयी सम्राट के भाल पर जो गर्व तथा व्यवहार में जो उत्साह एवं उत्तेजना देखी जानी चाहिए, राजमाता को भरत में वह कुछ दिखाई नहीं दिया; अपितु एक गहरे अवसाद तथा उत्तरदायित्व के भार से भरित गम्भीरता के दर्शन हुए।

राजमाता का उत्साह कुछ ठण्डा पड़ा, पर वे अपने को सँभालती हुई बोलीं – "भरत ! यह क्या है ?"

"कुछ नहीं, राजमाता की आज्ञा का पालन हो चुका है। आज भरत का भारत अखण्ड है।"

"पर सम्राट का चित्त विभाजित...."

"चित्त कोई जमीन नहीं; जिसे बल से, वैभव से, पुण्य-प्रताप से जीत लिया जाये। चित्त को जीत लेने वालों को छह खण्डों की नहीं अखण्ड आत्मा की प्राप्ति होती है।"

"तुम्हें क्या हो गया है ? ये कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हो ?"

"मुझे क्या हुआ ? कुछ भी तो नहीं हुआ। ये बातें मात्र बहक नहीं हैं, परमसत्य हैं माँ ! **अखण्ड आत्मा की उपलब्धि ही जीवन की सार्थकता है।"**

"तुम्हें पता है, तुम छह खण्डों को भोगने वाले प्रथम चक्रवर्ती सम्राट हो ?"

" नहीं माँ नहीं, मुझे भी भ्रम था; पर जब मैं दिग्विजय के अवसर पर जगप्रसिद्ध शिला पर अपना नाम लिखने गया तो वह शिला उन चक्रवर्तियों के नामों से भरी पड़ी थी, जिन्होंने अब तक इस भरत के छह खण्डों को भोगा था। मुझे एक चक्रवर्ती का नाम मिटाकर अपना नाम लिखना पड़ा। तब मुझे पता चला कि मैं जिस वसुधा को अभुक्त समझ रहा था, वह उच्छिष्ट है; मैं अभुक्त भोजी नहीं, उच्छिष्ट भोजी हूँ।

नाम की अमरता की नश्वरता का ज्ञान भी मुझे उस समय ही हुआ। मैंने सोचा – क्या मेरा नाम यहाँ सदा ही लिखा रहेगा ?

नहीं, कदापि नहीं; भविष्य का कोई चक्रवर्ती इसीप्रकार आयेगा और मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिख जायेगा।

"माँ ! मैं उच्छिष्ट भोजी हूँ, उच्छिष्ट भोजी।"

राजमाता ने दृढ़ता से कहा – "नहीं, कदापि नहीं; मेरा भरत उच्छिष्ट भोजी नहीं हो सकता।"

भरत समझाते हुए बोले – "माँ, **भावुकता से तथ्य नहीं बदला करते।** मेरे प्रति स्नेह से अभिभूत आपका हृदय यह सत्य स्वीकार नहीं कर पा रहा है। **सत्यासत्य का निर्णय हृदय से नहीं, बुद्धि से विवेक से होता है।**"

"भरत की माँ भावुक हो सकती है, पर राजमाता नहीं। उच्छिष्ट की परिभाषा राजमाता अच्छी तरह जानती है।"

"क्या वह परिभाषा भरत भी जान सकता है ?"

''क्यों नहीं ? उच्छिष्ट भोग भीख में प्राप्त होते हैं, भुजबल से नहीं। भरत को यह साम्राज्य भीख में नहीं मिला, उसने इसे भुजबल से प्राप्त किया है, अतः इसे उच्छिष्ट नहीं कहा जा सकता।''

''उच्छिष्ट भोजन के लिए भी तो प्राणी लड़ते देखे जाते हैं। अन्ततः जो जीतता है, उच्छिष्ट भोजन भी उसे भुजबल से ही प्राप्त होता है।''

''नहीं, नहीं; यह तुम्हारे पुण्य का प्रताप है, पुण्य का फल है।''

''उच्छिष्ट भोजन भी पुण्य के बिना नहीं मिलता। वह भी सबको सहज कहाँ उपलब्ध रहता है ?''

''तुम तो बहस करते हो ?''

''माँ ! बात बहस की नहीं, सत्य समझने की है। फिर यह मेरे भुजबल का फल भी तो नहीं, भुजबल से तो इसे भुजबली ने अर्जित किया था। आपके न्यायबल से तो यह साम्राज्य उसी का है, बाहुबली का ही है। कहाँ वह सौभाग्यशाली बाहुबली, जिसने इस भूमि को जीतकर भी छोड़ दिया और कहाँ मैं, जो उसकी छोड़ी हुई उच्छिष्ट भूमि का उपभोग करने को तैयार हूँ ?

क्या मैं अब भी तुम्हारी परिभाषा में उच्छिष्ट भोजी नहीं हूँ ?''

''धन्य है, धन्य है; बेटा ! तेरा वैराग्य धन्य है। यह जगत तेरी यह वैराग्य परिणति देखकर जबतक पृथ्वी पर चाँद और सूरज रहेंगे, तबतक तेरी धवलकीर्ति यह कहकर गायेगा कि –

भरतजी घर में ही वैरागी, वे तो अन्न धन सबके त्यागी ।।टेक।।

कोड़ अठारह तुरंग हैं जाके, कोड़ चौरासी पागी।
लाख चौरासी गजरथ सोहैं, तो भी भये नहिं रागी ।।भरतजी.।।

तीन करोड़ गोकुल घर सोहैं, एक करोड़ हल साजैं।
नव निधि रत्न चौदह घर जाके, मन वांछा सब भागी ।।भरतजी.।।

चार कोड़ मण नाज उठै नित, लोण लाख दश लागै।
कोड़ थाल कंचन मणि सोहैं, नाहीं भया सोई रागी ।।भरतजी.।।

ज्यों जल बीच कमल अन्तःपुर, नाहिं भये वे रागी।
भविजन होय सोई उर धारो, सोई पुरुष बड़भागी ।।भरतजी.।।

''पर माँ ! क्या यह भी सत्य होगा ?''

"क्यों नहीं ?"

"क्या इसी का नाम वैराग्य है ? क्या भरत का यह वैराग्य बाहुबली एवं वृषभसेन जैसे ऋषभपुत्रों के वैराग्य की टक्कर में ठहर सकेगा ? बता माँ, तू ही बता ! तेरी कोख से जन्मा वृषभसेन क्या इस भरत से कम भाग्यशाली और वैरागी है, जो पूज्य पिताश्री भगवान ऋषभदेव से दीक्षित होकर उनका प्रथम गणधर हो गया है।

माँ यशस्वती नन्दा के बेटे वृषभसेन एवं सुनन्दा के बेटे बाहुबली के सौभाग्य एवं वैराग्य की टक्कर में यह अभागा उच्छिष्ट भोजी भरत कहीं ठहर सकेगा क्या ?"

"बेटा....."

"माँ, तेरे भरत का राग चाहे उसके वश की बात न हो; पर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान-विवेक धोखा नहीं खा सकता। भले ही भरत इस चक्रवर्तित्व को छोड़ न सके, पर इसमें रहकर गर्व अनुभव नहीं कर सकता, इसमें रम नहीं सकता।

चक्रवर्तित्व भरत का गौरव नहीं; मजबूरी है, मजबूरी.....।"

सिद्धात्मा का सुख

जैसे जल का स्वभाव शीतल है और अग्नि के निमित्त से उष्ण होता है, सो उष्ण होने पर (पर्याय में) अपना शीतल गुण भी खो देता है, स्वयं उष्णरूप होकर परिणमता है तथा औरों को भी आताप उत्पन्न करता है। पीछे काल पाकर जैसे-जैसे अग्नि का संयोग मिटता है, वैसे-वैसे जल का (पर्याय) स्वभाव शीतल होता जाता है तथा औरों को भी आंनदकारी होता है।

उसी भाँति इस आत्मा का स्वभाव सुख है और कषाय के निमित्त से आकुल-व्याकुल होकर परिणमन करता (पर्याय में) है। सर्व निराकुलित गुण जाता रहता है, तब अनिष्टरूप लगता है। पुन: जैसे-जैसे कषाय का निमित्त मिटता जाता है, वैसे-वैसे निराकुलित गुण प्रकट होता जाता है, तब वह इष्टरूप लगता है।

सो किंचित् कषाय के मिटने पर भी ऐसा शांतस्वरूप सुख प्रकट होता है, तो न जाने परमात्मा देव के, सम्पूर्ण कषाय मिटने पर, जिनके अनन्त चतुष्टय प्रकट हुआ है, उनका वह सुख कैसा होगा ? सो थोड़े से निराकुलित स्वभाव को जानने से सम्पूर्ण निराकुलित स्वभाव की प्रतीति आती है तो सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा कितना (बेहद) निराकुलित स्वभाव का होगा ? ऐसा अनुभव मुझे भलीभाँति आता है।

– ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृष्ठ 203-204

12

जागृत विवेक

बात लगभग दो हजार वर्ष पुरानी है। गिरि गिरनार की गहरी गुफा में अन्तर्मग्न आचार्य धरसेन का ध्यान रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब भग्न हुआ तो वे श्रुत परम्परा की सुरक्षा में चिन्तामग्न हो गये। वे सोचने लगे –

"मैं अब बूढ़ा होता जा रहा हूँ, होता क्या जा रहा हूँ, हो ही गया हूँ; पर अभी तक कोई ऐसा पात्र शिष्य दिखाई नहीं दिया, जो गुरु परम्परा से प्राप्त भगवान महावीर की श्रुत परम्परा को मुझसे पूर्णतः ग्रहण कर सके। लगता है बुद्धि की हीनता के कारण अब केवल श्रुत के आधार पर सिद्धान्त की सुरक्षा सम्भव नहीं है, अब उसे लिखितरूप से भी सुरक्षित किया जाना चाहिये; पर समझ में नहीं आता कि यह सब सम्भव कैसे होगा ? क्योंकि अब मेरा जीवन ही कितना रहा है ? यदि योग्य शिष्य मिल जावे तो उन्हें सब-कुछ सिखाकर लिपिबद्ध करने का आदेश देकर निश्चिन्त हो जाऊँ। **पर मेरे सोचने से क्या होता है ? होगा तो वही, जो होना है।**"

सोचते-सोचते वे कुछ निद्रित हुए तो स्वप्न में देखते हैं कि जवान, बलिष्ठ, कर्मठ, शुभ्र वृषभों का एक नम्रीभूत धुरन्धर युगल उनकी ओर चला आ रहा है; आ ही नहीं रहा, आ ही गया है और उनके पावन चरणों में नतमस्तक है।

वे एकदम जागृत हो गये। **विकल्पों की निरर्थकता को गहराई से जानने वाले आचार्यश्री को लगा कि यह स्वप्न तो मेरे विकल्प को सार्थक सूचित करता-सा प्रतीत होता है।**

(2)

ध्यानमग्न आचार्य धरसेन ने जब नासाग्र पलकों को ऊपर उठाया तो दो उत्साही युवा मुनिराजों को चरणों में नतमस्तक पाया। समागत मुनिराज विनम्र शब्दों में कह रहे थे –

"द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विशेषज्ञ आचार्यश्री धरसेन के पवित्र चरण कमलों में सिद्धान्तामृत के पिपासु यतियों का बारम्बार वन्दन नमन स्वीकृत हो।"

अन्तर में मृदु एवं बाहर से कठोर आचार्य धरसेन कहने लगे –

"यदि पात्रता हो तो कुछ भी अलभ्य नहीं, पुरुषार्थियों की पिपासा तृप्त होती ही है; पर सब कुछ अन्तर की लगन पर निर्भर करता है।"

आचार्यश्री के संकेत को अवधारणा करते हुए वे बोले –

"लगन की कमी और पुरुषार्थ की उपेक्षा तो अन्तेवासियों से कभी होगी नहीं, पर पात्रता का निर्णय तो आचार्यश्री को ही करना होगा।"

"हमें तुमसे यही उत्तर उपेक्षित था।"

"आचार्यश्री की कृपा के लिए अनुचर अनुगृहीत हैं।"

दोनों को दो मंत्र देते हुए आचार्यश्री बोले –

"जाओ, सामने की चोटी पर स्थित गुफा में इन मंत्रों की आराधना करो। मंत्र सिद्ध होने पर सर्वांग सुन्दर देवांगनाओं के दर्शन होंगे।"

दोनों मुनिराज हतप्रभ हो गये। वे सोचने लगे –

"**देवांगनाओं के दर्शन....हमें देवांगनाओं से क्या लेना-देना ?** आचार्यश्री ने हमें यह...."

उनके अन्तर के मन्थन से परिचित आचार्यश्री बोले –

"विकल्पों में न उलझो, समय बर्बाद मत करो; जो कहा गया है, उसका पालन करो। जाओ, जाओ....।

रुको, जरा रुको; एक बात ध्यान से सुन लो। यदि कोई शंका उत्पन्न हो तो मेरे पास दौड़े मत चले आना। '**तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है**' – इस महामंत्र को याद रखना। अब जाओ, देर न करो...."

(3)

साधना के पक्के ऋषिराजों के समक्ष देवांगनाओं की उपस्थिति में देर न लगी, पर वे सर्वांग सुन्दर न थीं। एक के दाँत सामने को निकल रहे थे तो दूसरी एकाक्षी थी। उन्हें देख ऋषि युगल संकोच में पड़ गया। वे सोचने लगे –

"आचार्यश्री ने तो कहा कि सर्वांगसुन्दर देवांगनाओं के दर्शन होंगे, पर....। कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। क्यों न चलकर गुरुदेवश्री से ही जान लें ? नहीं, नहीं; उन्होंने आते समय कहा

था कि कहीं कुछ शंका पड़े तो मेरे पास भागे-भागे मत आना। 'तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है' – इस महामंत्र को याद रखना; अतः स्वयं ही इसके कारण की खोज करना चाहिए।''

उन्होंने अपने-अपने मंत्रों का गहराई से निरीक्षण किया तो पाया कि एक मंत्र में एक अक्षर की कमी है और दूसरे में एक अक्षर अधिक है। वे एक बार फिर संकोच में पड़ गये। उनका अन्तर दुविधा में उलझ गया। वे सोचने लगे –

''क्या इन मंत्रों को अपने विवेक के आधार पर ठीक कर लिया जाय ? **वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध, गुरु परम्परा से प्राप्त समृद्ध श्रुत परम्परा के धनी आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त मंत्रों में सुधार करने का साहस यौवन से उत्पन्न दुस्साहस तो नहीं होगा ?**''

गहरे विचार-मंथन के बाद दोनों ही युवा ऋषि स्वतंत्ररूप से स्वविवेकानुसार मंत्रों को शुद्ध कर लेने के निर्णय पर पहुँचे और ध्यानमग्न हो गये।

सफलता विवेक के धनी कर्मठ बुद्धिमानों के चरण चूमती है। सर्वांगसुन्दर देवांगनाएँ उपस्थित हो कहने लगीं –

''हम आपकी क्या सेवा कर सकती हैं ?''

''कुछ नहीं; **सेवकों का संग्रह और सेवा हमें अभीष्ट नहीं। हमारी आराधना का अभीष्ट तो आचार्यश्री की आज्ञा का पालन मात्र था।**''

(4)

दोनों युवाऋषि आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुए। नमन करते हुये युवा ऋषियों को मंगल आशीर्वाद देते हुए आचार्यश्री बोले –

''पुष्पों के समान दन्तपंक्ति के धनी पुष्पदन्त और अभूतपूर्व बल के धनी भूतबली को पाकर आचार्य धरसेन कृतकृत्य है।''

अपने नये नाम सुनकर युवा ऋषि चकराये, पर देह में समागत परिवर्तन को लक्ष्य कर सब-कुछ समझ गये। अत्यन्त विनम्र पुष्पदन्त और भूतबली आचार्यश्री से मंत्रों के शुद्ध कर लेने के अपराध के लिए क्षमायाचना के साथ जो कुछ घटा था, उसे सुनाने लगे तो गुरु गम्भीर गिरा से आचार्यश्री कहने लगे –

''यह सब सुनाने की आवश्यकता नहीं है, हमारे लिए कुछ भी अगम्य नहीं है। हमें ऐसे ही विनयशील, विवेक के धनी और प्रतिभाशाली अन्तेवासियों की आवश्यकता है; जिन्हें पूर्वजों से प्राप्त श्रुतसम्पत्ति समर्पित की जा सके। **विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है; पर विवेक और प्रतिभा भी अनिवार्य है, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए; अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।**

समागत समस्याओं का समुचित समाधान तो स्व-विवेक से ही सम्भव है, क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा सर्वत्र सम्भव नहीं। परम्पराएँ भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकती; क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती, दूसरे, परिस्थितियाँ भी तो बदलती रहती हैं।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु यह विनय और मर्यादा को भंग करने वाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकरण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वांग सावधानी अनिवार्य है।

हमारी प्रसन्नता का कारण यह है कि तुमने स्व-विवेक से मंत्रों में सुधार तो किया, पर विनय और मर्यादा को भंग नहीं किया। मंत्रों के सुधारने के पहले बहुत कुछ सोचा, पर मेरे प्रभाव से आतंकित न हुए और सुधार सत्य सिद्ध हो जाने पर भी अहंकार में नहीं चढ़े। **सदाचारी, सन्तुलित-विवेक और विनयशील मर्यादाओं से समृद्ध शिष्यों की ही कामना मुझे थी।**

अब मैं तुम्हें गुरुपरम्परा से प्राप्त सम्पूर्ण श्रुत ही नहीं, आचार्यपद भी यथासमय समर्पित कर निश्चिन्त हो जाने के लिए कृतसंकल्प हूँ।''

तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है

13

अक्षम्य अपराध

अगाध पाण्डित्य के धनी मुनिराज श्रुतसागर ने जब बलि आदि मंत्रियों से हुए विवाद का समाचार सुनाया तो आचार्य अकम्पन एकदम गम्भीर हो गये। जगत की प्रवृत्तियों से भली-भाँति परिचित आचार्यश्री के मुखमण्डल पर अनिष्ट की आशंका के चिह्न छिपे न रह सके। यद्यपि जबान से उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, तथापि उनका मनोगत अव्यक्त नहीं रहा। **सहज सरलता के धनी महात्माओं का कुछ भी तो गुप्त नहीं होता।**

यद्यपि कोई कुछ बोल नहीं रहा था, तथापि गम्भीर मौन पूरी तरह मुखरित था। **शब्दों की भाषा से मौन की भाषा किसी भी रूप में कमजोर नहीं होती, बस उसे समझने वाले चाहिये।**

चेहरे के भावों से ही मनोगत पढ़ लेने वाले श्रुतज्ञ श्रुतसागर को स्थिति की गम्भीरता समझते देर न लगी। आचार्यश्री के चिन्तित मुखमण्डल ने उन्हें भीतर से मथ डाला था; अतः वे अधिक देर तक चुप न रह सके।

"अपराध क्षमा हो पूज्यपाद ! अविवेकी अपराधी के लिए क्या प्रायश्चित है ? आज्ञा कीजिये।"

"बात प्रायश्चित की नहीं, संघ की सुरक्षा की है। **ऐसा कौनसा दुष्कर्म है, जो अपमानित मानियों के लिए अकृत्य हो।** जब मार्दव धर्म के धनी श्रुतसागर से भी दिगम्बरत्व का अपमान न सहा गया तो फिर मार्दव धर्म का नाम भी न जानने वालों से क्या अपेक्षा की जा सकती है ?

मानभंग की पीड़ा उन्हें चैन न लेने देगी। **अपमानित मानी, क्रोधित भुजंग एवं क्षुधातुर मृगराज से भी अधिक दुःसाहसी हो जाता है। आज संघ खतरे में है।**"

– कहते-कहते आचार्यश्री और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आचार्य अकम्पन की गुरुतर गम्भीरता देख श्रुतसागर अन्दर से हिल गये। वे जिसे अपनी विजय समझ रहे थे, वह अकम्पन को भी कंपा देने वाला अक्षम्य अपराध था – इसका अहसास उन्हें गहराई से हो रहा था। वे स्पष्ट अनुभव कर रहे थे कि आचार्यश्री का अन्तर प्रतिदिन की भाँति प्रायश्चित निश्चित करने में व्यस्त नहीं, अपितु संघ की सुरक्षा की करुणा में विगलित हो

रहा है। प्रत्युत्पन्नमति श्रुतसागर को निर्णय पर पहुँचने में देर न लगी, और वे आचार्यश्री के चरणों में नतमस्तक हो बोले –

"इस नादान के अविवेक का परिणाम संघ नहीं भोगेगा। मैं आज उसी स्थान पर रात्रि बिताऊँगा, जहाँ बलि आदि मंत्रियों से मेरा विवाद हुआ था – इसके लिए आचार्यश्री की आज्ञा चाहता हूँ।"

"नहीं, यह सम्भव नहीं। परिणाम की दृष्टि से यह अपराध कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर इसमें तुम्हारा धर्मप्रेम ही कारण रहा है। दिगम्बरत्व के अपमान ने तुम्हें उद्वेलित कर दिया और फिर तुम्हें हमारी उस आज्ञा का पता भी तो नहीं था; जिसमें सभी संघ को मौन रहने का आदेश था, विशेषकर मंत्रियों से किसी भी प्रकार की चर्चा करने का निषेध था। अतः तुम्हें इतना कठोर प्रायश्चित देना मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता।"

"पूज्यवर ! सवाल प्रायश्चित का नहीं, संघ की सुरक्षा का है। आपने ही तो हमें सिखाया है कि **अनुशासन-प्रशासन हृदय से नहीं, बुद्धि से चलते हैं।**"

"श्रुतसागर के जीवन का मूल्य मैं अच्छी तरह जानता हूँ।"

"कोई भी इतना मूल्यवान नहीं हो सकता कि जिस पर संघ को न्यौछावर किया जा सके। हम आपके इस आप्तवाक्य को कैसे भूल सकते हैं कि **अपराधी को दण्ड देते समय न्यायाधीश को उसके गुणों और उपयोगिता पर ध्यान नहीं देना चाहिए।**"

"जानते हो ? श्रुतसागर लाखों में एक होता है। समाज को उसका मूल्य आँकना चाहिये।"

"साधु सामाजिक मर्यादाओं से परे होते हैं। **साधु को श्रुत के सागर से संयम का सागर होना अधिक आवश्यक है।** मैंने वाणी के संयम को तोड़ा है। मौनव्रती साधकों की महानता को वाचाल साधक नहीं पहुँच सकता। मैंने आपकी आज्ञा को भंग किया है। मेरा अपराध अक्षम्य है।"

"पर तुम्हें मेरी आज्ञा का पता ही कहाँ था ?"

"पर श्रुत के सागर को **इतना विवेक तो होना ही चाहिये था कि राह चलते लोगों से व्यर्थ के विवाद में न उलझे।** मेरा यह अविवेक तो युग के अन्त तक याद किया ही जायेगा, पर मुझे यह सह्य नहीं है कि इतिहास यह भी कहे कि प्रियतम शिष्य के व्यामोह ने आचार्य अकम्पन को भी अकम्पन न रहने दिया था।

मुझसे जो कुछ भी हुआ सो हुआ, पर मैं अपने गुरु की गुरुता को खण्डित नहीं होने दूँगा।

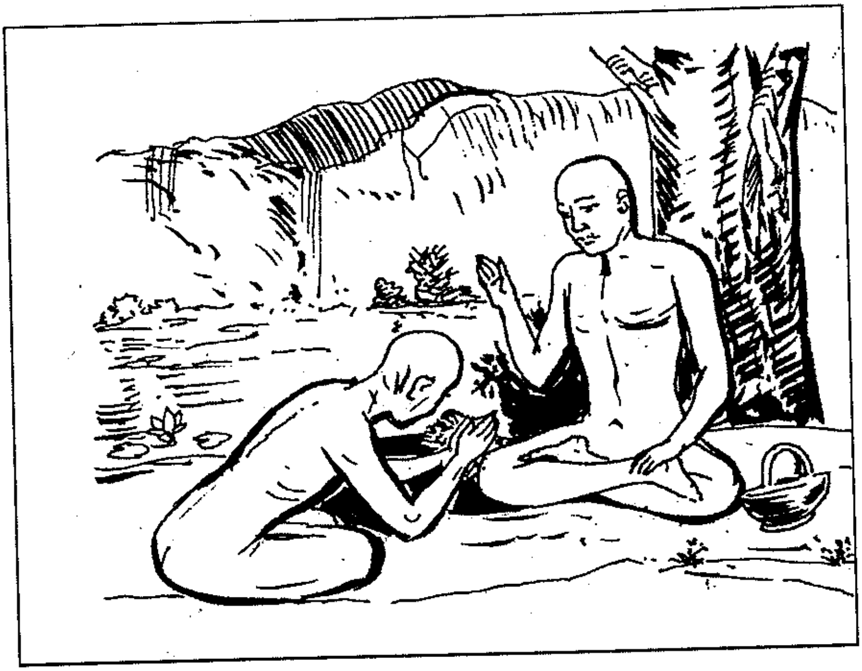

आचार्यश्री को मेरे इस हठ को पूरा करना ही होगा।''

आचार्य अकम्पन और भी गम्भीर हो गये। उनके गम्भीर मौन को सम्मति का लक्षण जानकर श्रुतसागर उनके चरणों में झुके, नमोऽस्तु किया और मंगल आशीर्वाद की मौन याचना करने लगे।

आचार्य अकम्पन ने काँपते हुए हाथ से श्रुतसागर को आशीर्वाद देते हुए कहा –

''मैंने यह सोचा भी न था कि जिसे मैंने एक दिन सम्पूर्ण संघ के समक्ष 'श्रुतसागर' की उपाधि से अलंकृत किया था, उसे किसी दिन इतना कठोर प्रायश्चित देना होगा।

प्रिय श्रुतसागर ! तुम ज्ञान की परीक्षा में तो अनेक बार उत्तीर्ण हुए हो, आज तुम्हारे ध्यान की परीक्षा है। जीवन का रहना न रहना तो क्रमबद्ध के अनुसार ही होगा, पर मैं तुम्हारे आत्मध्यान की स्थिरता की मंगल कामना करता हूँ।

दूसरों को तो तुमने अनेक बार जीता है। जाओ, अब एक बार अपने को भी जीतो।''

– कहते-कहते आचार्य अकम्पन और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आज्ञा शिरोधार्य कर जाते हुए श्रुतसागर को वे तबतक देखते रहे, जबतक वे दृष्टि से ओझल न हो गये।

(कहानी संख्या 9 से 13 के लेखक डा. हुकमचन्द भारिल्ल हैं। - आभार)

अनुशासन-प्रशासन हृदय से नहीं, बुद्धि से चलते हैं।
अपराधी को दण्ड देते समय न्यायाधीश को उसके गुणों और उपयोगिता पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

14

वैराग्य

षट्खण्डाधिपति सर्वप्रभुतासम्पन्न चक्रवर्ती सम्राट भरत वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो एक बार जब राजसिंहासन पर विराजमान थे। तब उनके दोनों हाथों की सभी उंगलियों में रत्नजड़ित अंगूठियाँ सुशोभित हो रही थीं। अचानक एक उंगली में से अंगूठी निकल गई। जब चक्रवर्ती भरत का ध्यान खाली उंगली पर गया तो अन्य उंगलियों की तुलना में वह उंगली उन्हें शोभाहीन लगी।

कुछ क्षण सोच-विचार करने पर उन्होंने अन्य सभी अंगूठियाँ उतार दीं। यद्यपि अब उनकी सभी उंगलियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगी थी, तथापि चक्रवर्ती भरत को अब भान हो गया कि **"ये अलंकार वास्तविक अलंकार नहीं हैं। जो अलंकार क्षणभर में शोभाहीन बना दें, वे मेरे अलंकार नहीं हो सकते। ये तो जड़, अचेतन, विनाशीक हैं; अचेतन शरीर की ही शोभा बढ़ाते हैं। मैं तो चेतन, अविनाशी अनन्त गुणालंकारों से सुशोभित आत्मा हूँ। रत्नत्रय ही मेरे सच्चे अलंकार हैं; जो एक बार प्राप्त होने पर; धारण करने पर कभी उतरते नहीं है। मेरी सुन्दरता व शोभा तो रत्नत्रय के पवित्र आभूषणों से ही हैं, अतः अब इन जड़ अलंकारों को पुनः धारण नहीं करूँगा। जड़ अलंकारों से चेतन की शोभा कैसी ? ये मूर्तिक पुद्गल-प्रदेशों के पुँज विनाशीक जड़ अचेतन हैं और मैं अमूर्तिक अनन्तगुणों का धारी अविनाशी चेतनस्वरूप सुख का पिण्ड आत्मा हूँ; मेरा व इनका कैसा मेल ?"**

—ऐसा विचारते-विचारते राजराजेश्वर भरत के चित्त में वैराग्य का सागर हिलोरें लेने लगा। फिर क्या था ? उसी क्षण चक्रवर्ती का वैभव, राजपाट, समस्त भोगविलास की सामग्री सहित छियानवें हजार रानियों से मुँह मोड़कर चक्रवर्ती भरत ने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली तथा अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के बल से केवलज्ञानरूपी परमपद को प्राप्त कर लिया।

15

धर्म को न छोड़ दें !

"तीर्थयात्रा के बहाने सीता को रथ में बैठाकर ले जाओ; तीर्थयात्रा कराकर वापिस आते हुए सिंहाटवी जंगल में अकेले छोड़कर तुम वापिस लौट आना।" – महाराज राम ने सेनापति को आदेश दिया।

"महाराज ! पवित्र सीता माता को यह सजा किस अपराध की दी जा रही है ?" सेनापति कृतान्तवक्र ने दुःखी मन से पूछा।

"सेनापति ! लोकापवाद के कारण सीता को वन भेजना ही पड़ेगा। अधिक बहस न करो। शीघ्र जाकर इस कार्य को पूर्ण करो।"

इच्छा न होते हुए भी स्वामी के आदेश का पालन करना जरूरी हो गया। तीर्थयात्रा के बहाने वह महासती सीता को रथ में बिठाता है। महाराज राम के कहे अनुसार सभी तीर्थों की यात्रा कराके वापिस आते हुए जब मार्ग में एक सघन जंगल मिला तो सेनापति ने वहीं रथ रोक लिया।

धीरे-धीरे करुण स्वर में वह कहता है – "हे महारानी ! हो सके तो मुझे माफ कर देना; अब आपको इसी जंगल में रहना होगा।" सरल स्वभावी सीता सेनापति के मन के यथार्थ भावों से अनभिज्ञ थी, अतः बड़े ही सरल भाव से कहती है – "हे कृतान्तवक्र ! क्या हो गया तुम्हें ? यह तुम क्या रहे हो ? इस भयानक जंगल में मेरे रहने का क्या कारण है ? क्या यहाँ भी कोई तीर्थ क्षेत्र है ?"

पवित्र हृदयी सीता के कोमल शब्द सुनकर सेनापति का हृदय भर उठा, आँखों से अश्रुधारा बह निकली; काया की दशा कुछ विलक्षण हो गई। पर वह क्या कर सकता था, स्वामी का आदेश जो था उसके सामने ?

नीचे मुख करते हुए सेनापति ने कहा – "हे महारानी ! लोकापवाद के कारण आपको इस सघन जंगल में छोड़ने की आज्ञा महाराजश्री ने दी है और दुर्भाग्य कहो कि यह पाप मुझे ही करना पड़ रहा है।"

चारों तरफ के भयानक जंगल को देख गर्भवती सीता एक समय को तो काँप उठी, परन्तु तुरन्त ही उसका विवेक जाग्रत हो गया।

ज्ञानी पुरुष प्रतिकूलताओं में घबराते नहीं, वरन् धैर्य रखते हुए विवेक से काम लेते हैं। 'ज्ञान सर्व समाधान कारक है' – इस उक्ति के अनुसार, आपतित जटिल समस्या का समाधन सीता के सम्यग्ज्ञान ने सहज कर लिया।

वे स्वयं जाग्रत होकर बोलीं – "**हे सेनापति ! इसमें किसी का दोष नहीं, सभी जीव अपने पूर्वकृत कर्मों का ही फल भोगते हैं; कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता है; जीव स्वयं अपने भले-बुरे परिणामों से सुखी और दुःखी होता है। अतः परिणाम सुधारने का उपाय करना चाहिए और परिणाम बिगड़ने का भय रखना चाहिये।**"

विवेकी सीता द्वारा यह विचार सुनकर जब सेनापति जाने लगा तो जाते हुए सीता से कहने लगा – "हे माता ! महाराजश्री को आपका कोई संदेश...."

"हाँ ! एक संदेश स्वामिन् से अवश्य कहना है।" बीच में ही बात काटते हुए गम्भीर मुद्रा में सीता बोली – "**हे सेनापति ! मेरे त्याग की तो कोई बात नहीं; पर एक बात अवश्य ध्यान रखें कि जैसे लोकापवाद के भय से बिना विचारे उन्होंने मुझे छोड़ दिया; वैसे ही अन्य किसी संसारी मोही प्राणियों के कहने में आकर अपने धर्म को न छोड़ दें।**" महारानी सीता के इस महान कटुसत्य को बार-बार मन में दोहराते हुए सेनापति आगे बढ़ गया।

सीता के इस सुन्दर समाधान को किसी कवि ने इस रूप में प्रस्तुत किया है –

अरे हो वीरा ! रामजी सुं कहियो यूं बात,
लोकनिंदावश हमको छांड़ी, धर्म न छोड़ो गात।
पाप कमाये सो हम पाये, तुम सुखी रहो दिन-रात॥

(कहानी संख्या 14 से15 के लेखक पं. विनोद जैन 'चिन्मय' हैं। - आभार)

16

वैराग्य और वैराग्य का भ्रम

(शुभचन्द्राचार्य तथा भर्तृहरि का एक प्रसंग)

यह 'ज्ञानार्णव' नामक महान ज्ञान-वैराग्य दर्शक ग्रन्थ के प्रणेता के बारे में कथा है। जो परम वीर थे, जिनको चैतन्यस्वरूप में विश्रान्ति द्वारा मुनिपद सुखरूप था, कायर को मिथ्या प्रतिभास वश जैन मुनि का पद कठिन दु:खदाता भासित होता है; किन्तु अक्षय-अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष एवं मोक्षमार्ग कभी भी दु:खरूप एवं दु:खदाता नहीं हो सकता।

वैराग्य कई प्रकार के होते हैं –

1. राग-गर्भित, 2. द्वेष-गर्भित, 3. मोह – दु:ख-गर्भित और 4. **नित्यभूतार्थ ज्ञायक स्वभावाश्रित ज्ञान-गर्भित। ज्ञान-गर्भित वैराग्य को हमारा नित्य नमस्कार हो।**

अब यहाँ ऐसे ही ज्ञान-गर्भित वैराग्य सम्पन्न महा-मुनिराज शुभचन्द्राचार्य की संक्षिप्त कथा का वर्णन करते हैं। वे दो भाई थे। शुभचन्द्र बड़े भाई थे और भर्तृहरि छोटे भाई।

उनके पिता को अपनी नव-परणीता पत्नी तथा उसका पुत्र अत्यधिक प्रिय था, किन्तु यह पुत्र इतना शूरवीर नहीं था, फिर भी उनकी इच्छा उसी पुत्र को राज्य देकर रानी को सन्तुष्ट करने की थी। इस कारण वे निरन्तर इस चिन्ता में रहते थे कि ये दोनों पुत्र परम पराक्रमशाली, तेजस्वी, शूरवीर हैं, अत: इनके होते हुए उस तीसरे पुत्र को राज्य कैसे दिया जा सकता है ?

एक दिन ऐसा प्रसंग बना कि राजपुत्र शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि खेल रहे थे, मण्डप में लगे लोहे के स्तम्भ को उन्होंने गन्ने के समान मोड़ दिया। अतिशय शरीर बलधारी पुत्रों का यह कृत्य देखकर राजा को भय लगा कि ये दोनों पुत्रों का अस्तित्व भविष्य में मेरी इच्छापूर्ति में बाधक हो सकता है। अत: उस राजा ने मंत्री को आज्ञा दी कि इन दोनों बड़े राज पुत्रों को जंगल में ले जाकर मार डालो। मंत्री ने राजा को बहुत समझाया, परन्तु राजा ने मंत्री की कोई बात नहीं मानी और कहा कि राज्य की नीति में ऐसा होता है। मंत्री इस अनुचित बात को मन में धिक्कारते हुए बड़े दु:खी होकर राजपुत्रों को संसार की विषमता समझाते हैं कि भैया ! आप तो बड़े समझदार एवं शूरवीर हैं, किन्तु धिक्कार है इस मोह को, जो आपके पिता आपकी महानता-शूरवीरता को देखकर स्वार्थी हो जल रहे हैं, अत: उन्होंने आपकी हत्या करने की मुझे आज्ञा दी है; किन्तु मेरे द्वारा ऐसा

नहीं होगा, अतः आप शीघ्र कहीं दूर चले जाओ और गुप्त भेष में ही रहना।

संसार की विषमता का अनुभव करते ही दोनों भाइयों को वैराग्य हो गया, दोनों भाई अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सुख की शोध-खोज में अलग-अलग निकल पड़े।

शुभचन्द्र को तो लोकोत्तर और पवित्र संयमित जीवन ही प्रिय था, किसी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को इष्ट-अनिष्ट मानना या किसी से भय या आशा रखना उन्हें जरा भी अच्छा नहीं लगता था, वे तो निरन्तर-नित्य निरंजन ज्ञानमय निजरूप के आदर/आश्रय चिन्तन सहित सोचते जा रहे थे। वे अपने त्रैकालिकतत्त्व को ही दृष्टिपथ में रखकर संसार की विषमता, अस्थिरता जानकर संसार से उदास और मोक्षस्वरूप सच्चे सुख के अभिलाषी एकत्व-विभक्त जिन-आत्मा को ही मंगल, उत्तम और शरणभूत मानते थे।

अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित जैन मुनियों में तो भेदविज्ञान की प्रवीणता से प्राप्त नित्य ज्ञानानन्दमयी अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्य-स्वभाव के अवलम्बन से जितेन्द्रियता और अतीन्द्रिय आत्मिक सुख ही होता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में शुद्धोपयोगरूप—साधकदशारूप मुनिधर्म कहते हैं।

"स्वयंभू अपनी आत्मा" – इसप्रकार सच्चे सुख के शोधक शुभचन्द्र की निजशक्ति के बल से इतनी तैयारी हो चुकी थी कि उन्होंने यथाजातरूपधर जिनमुद्राधारी निस्पृह जिन-मुनि को पा लिया। एकाकी आत्मरूप में मग्न दिगम्बर जैनमुनि को देखा तो हृदय गद्‌गद् आनन्द विभोर हो गया। जैसे तृषातुर को पवित्र जल की प्राप्ति, मोती बनने योग्य सीप को स्वाति नक्षत्र में जलवर्षा मिल गई हो, उसीप्रकार शुभचन्द्र को एक निर्जंतु स्थान पर ध्यानमुद्रा में स्थित वासना-विजयी, तत्त्वज्ञानी और विवेकमूर्ति जैन साधु मिल गये। जिन का नाम था वन्दनीय श्रुतसागर।

शुभचन्द्र की आध्यात्मिकता को एक मौका मिल गया, उन्होंने एक विवेकी बुद्धिमान की तरह गुरु-उपासना द्वारा आत्मार्थी बनकर निज आत्महित का भरपूर लाभ उठाया।

शुभचन्द्र ने श्रीगुरु के समीप श्रद्धा, ज्ञान और आचरण का बल विशेष प्रगट करने के लिये प्रार्थना की, भगवान ! मुझे सब विषमताओं को नष्ट करने वाली निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा देने का अनुग्रह कीजिये....फिर थोड़े ही समय में शुभचन्द्र राजपुत्र न रहकर, परमशान्त, वैराग्य-मण्डित, निर्लिप्त, निर्ग्रन्थ साधु परमेष्ठी की श्रेणी में जा बैठे।

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तः तपस्वी सः प्रशस्यते ॥"

बस, अब अखण्ड ज्ञान-चेतना के स्वामित्व उपरान्त स्वरूप में विश्रान्ति रूप विशेष स्वरूपाचरण चारित्र के धारक हमारे आराध्य योगिराज शुभचन्द्र अखण्ड प्रतापवंत ज्ञान-वैराग्यमय उज्ज्वल आराधना में लवलीन रहते, उन्हें कितनी ही ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं; परन्तु उन्होंने उन ऋद्धियों का कभी उपयोग नहीं किया।

रिद्धि-सिद्धियाँ दासी हो रहीं
ब्रह्मानन्द हृदय न समाय, जीवन धन्य उन्हीं का।
प्रतिबन्ध रहित मुनिराज हैं,
नहिं कायर का काम, जीवन धन्य उन्हीं का॥

इसप्रकार शुभचन्द्रजी तो अब स्वरूप सम्पदा से सम्पन्न ऋद्धिधारक दिगम्बर जैन मुनि थे। और भर्तृहरि जिसको अनित्य मोह-गर्भित वैराग्य था। वह दुनियाँ के अरुचिकर-संघर्षमय विषयों में इष्ट-अनिष्ट प्रतिभास और विषादमय घटनाओं के बारे में सोचता-विचारता बहुत जगह घूमा। खान-पान, थकान, स्नान, आराम, विश्राम को याद करने लगा, देह के प्रति ममता विशेषरूप से जाग उठी, क्षुधा आदि के प्रश्न हल करने में व्यथित हो उठा, कन्दमूल-फल जो हाथ लगे उनका भक्षण करने लगा, अनछना पानी जो जल-जन्तुओं से परिपूर्ण होता है पीने लगा, फिर भी तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रही।

एक दिन सघन वन में घूमते हुए भर्तृहरि ने मस्तक पर बड़ी-बड़ी जटाओं को धारण करने वाले एक तापसी को देखा, जो चारों ओर आग जलाकर बीच में बैठा हुआ पंचाग्नि-तप तप रहा था। भर्तृहरि ने उसे नमस्कार करके आश्रय देने की प्रार्थना की, तापसी ने भी राजकुमार है ऐसा जानकर प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार किया।

कई वर्षों के पश्चात् भर्तृहरि यंत्र-मंत्रादि वनस्पति रसायन विद्या का जानकार होकर गुरु से पृथक् हो गया और सुवर्ण बनाने की रसकुप्पी तैयार की, जनरंजन के लिये भक्त समाज जुट गया।

एक दिन अपने भ्राता श्री शुभचन्द्र की याद आई तो उनकी खोज करने के लिए अपने शिष्यों को भेजा, बहुत खोज के पश्चात् समाचार आया कि भैया तो नग्न दिगम्बर ही हैं। घोर दरिद्रता दिख रही है, वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं है, भोजन के भी कोई साधन नहीं हैं, भक्तगण भी उनकी व्यवस्था में नहीं हैं। बड़े कष्ट में हैं शिष्य ने आकर इत्यादि प्रकार से भर्तृहरि को बताया और कहा कि मैं उनकी यह दशा प्रत्यक्ष देखकर आया हूँ।

देखो ! संयोग में, निमित्त में एकत्वबुद्धि से जीव देह और आत्मा को एक मान रहे हैं, उसे

निर्ग्रन्थ वीतरागता क्या होती है, इसका जरा भी पता नहीं होता। जैन मुनि अशरण, अनाथ, दु:खी कभी नहीं होते हैं, इच्छा ही दु:ख है, इच्छा का अभाव ही सुख है, मुनिराज को तो अपने अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता के बल से परम अतीन्द्रिय सुख है, जो अन्तर्दृष्टि ग्राह्य है, अज्ञानी ऐसा न मानकर अपनी देह में आत्मबुद्धि द्वारा बाह्य वस्तु के संयोग-वियोग में इष्ट-अनिष्ट मानकर अपने को सुखी-दु:खी मानता है, अत: उसका यह मिथ्या प्रतिभास ही संसार है, दु:ख है।

जब भर्तृहरि ने अपने शिष्य के द्वारा ऐसा समाचार सुना कि शुभचन्द्र बहुत दु:खद-दशा में है, तब भर्तृहरि ने उनका दु:ख दारिद्र मिटाने के लिये अपने द्वारा सिद्ध किया गया स्वर्णरस आधी तुम्बी उनके पास भेज दिया और कहा कि भैया को दे आना, समझाना कि यह दुर्लभ वस्तु है, स्पर्श मात्र से ताँबा सोना बन जाता है। आपकी दरिद्रता को देखकर सुखी करने के लिये आपके लघु बन्धु ने यह कठिन साध्य वस्तु आपके लिये भेजी है, इसका उपयोग करके सुख सुविधा में रहें....!

देखो, यह जीव संयोग में एकताबुद्धि से सुख-दु:ख मानता है, मनवाना चाहता है, सबको अपनी देहाश्रित ममता दृष्टि से देखता है, वह मिथ्या प्रतिभास ही सबसे बड़ा पाप है; दु:ख है, संसार है।

जो निरन्तर आत्मिक सुख में तृप्त हैं, सुखी ही हैं – ऐसे शुभचन्द्राचार्य के पास पहुँचकर शिष्य ने वह रस-तुम्बी उनके सामने रखकर भर्तृहरि के बताये अनुसार निवेदन किया, उन्होंने उसे उपेक्षाबुद्धि से देखा और जवाब दिया कि इसे पत्थर पर पटको....शिष्य दुविधा में पड़ गया, अरे....कितनी वनस्पति-धातुओं का कष्टसाध्य रस पत्थर पर कैसे पटका जाय ? शुभचन्द्र ने फिर कहा – त्याग की हुई वस्तु के प्रति इतना ममत्व क्या ? पटक दो....दु:ख के साथ आज्ञा का पालन किया और लौटकर भर्तृहरि को यह सब हाल सुनाया कि बड़े भाई ने ऐसा कहा, उनकी आज्ञानुसार वह सिद्ध किया गया रसायन मैंने पत्थर पर फैंक दिया।

भर्तृहरि को जितना मोह अपने शरीर के प्रति था, उतना ही मोह सुवर्णसिद्धि रस के ऊपर था, समाचार सुनकर सन्न हो गया, हृदय में बहुत बड़ा आघातरूप वेदना का अनुभव करने लगा। रातभर चिन्तित रहा, हाय मैंने गलती की, कहीं इतनी बहुमूल्य वस्तु यों भेजी जाती है ? अब मैं स्वयं ही जाकर उन्हें समझाऊँगा, पुन: ऐसी भूल नहीं होने दूँगा – इत्यादि संकल्प-विकल्परूप आर्तध्यान करता रहा और सोचता रहा कि हो सकता है शिष्य ने मेरे भैया को इस दुर्लभ रसायन

रस की ठीक-ठीक महत्ता ही न बताई हो। इसप्रकार अनेक चिन्ताओं में चिन्तित हो बिस्तर पर पड़ा रहा, रातभर सो नहीं पाया।

सुबह उठा और अपनी इच्छापूर्ति हेतु जो आधी रसकुप्पी स्वयं के लिये बचा कर रखी थी, उसे लेकर चल पड़ा भैया को देखने के लिये।

संयोगदृष्टि तो थी ही, दूर से देखा, चमड़े को कि ओह....भैया का शरीर कृश है, एकाकी असहाय हैं, अनाथ हैं। "तपोबल से उद्दीप्त शान्त सौम्यमुद्रा से दृढ़ पद्मासन पर आसीन हैं" ऐसे उनके अन्तरंग स्वरूप ज्ञानानन्दमय तत्त्व को न पहिचानकर चर्मचक्षु द्वारा बाह्य देह को ही देखा – "कि अहो ! यही मेरा बड़ा भैया है" और वह गद्गद् हो उठा, चरणों में गिरकर अभिवादन किया – "सप्रेम वन्दना....!"

सच्चे योगिराज शुभचन्द्र तो उत्तम क्षमा, सन्तोष, अकिंचन भावना से अलंकृत थे, सहज अपनी आत्मलक्ष्मी से सदा तृप्त ही थे। कोई खड़ा है, नजर उठाकर देखा तो भर्तृहरि....गेरूआ वस्त्र, माला, जटा आदि से मण्डित, मृगचर्म सहित परिग्रहधारी छोटा भैया था....धर्मवृद्धि दी।

भर्तृहरि बोला – "भैया ! जैसे ही सुना कि तुम अनाथ हो, संकट में हो, आधी तूँबी कंचन रस भेज दिया था, लेकिन व्यर्थ गया। अब शेष आधी तूम्बी भी लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।"

"हाँ भैया ! सोना बनाया जाता है इससे, बड़ी बेशकीमती चीज है यह।

'सोना; शुभचन्द्र ने पूछा और तूम्बी उठाकर पत्थर पर पटक दी। यह देख भर्तृहरि सन्न रह गया।

शुभचन्द्र बोले – कहाँ हुआ सोना ?

रुँधे हुए गले से कहा – भैया ! पत्थर नहीं, ताँबा सोना बनता है। तुमने यह क्या किया....? उफ ! बारह वर्ष गुरु की सेवा करने पर इसे पा सका था मैं। ओह ! यह अतिदुर्लभ वस्तु न तुम्हारे काम आई, न मेरी रही।

शुभचन्द्र मुस्कराये – भर्तृहरि की सरलता और भोलेपन पर, फिर बोले – भर्तृहरि तुम घर छोड़कर विराग के लिये यहाँ आये थे; धन, दौलत, मान-सम्मान और राज्यलक्ष्मी को ठुकराकर। मैं देख रहा हूँ सोने के लोभ को, यहाँ आकर भी तुम नहीं छोड़ सके हो इन सबको, आज भी तुम में कलंक बाकी है। इतने वर्ष बिताकर भी मिथ्या प्रतिभास – अज्ञानता के वश में रहे, इसे

विराग नहीं, दम्भ कहते हैं। भोले प्राणी धर्म के नाम पर अनन्त भव में ऐसे कई ढ़ोंग कर चुके....!

पवित्र होने का उपाय अपूर्व है.... जैसे सूर्य सदा प्रकाशमय ही है, वह कभी भी अन्धकार का ग्रहण या त्याग कर सकता है ? नहीं। उसीप्रकार यह आत्मा चाहे अशुद्धरूप परिणमे या शुद्धरूप, किन्तु परद्रव्य को किसी भी प्रकार ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। हाँ ! रागी जीव अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार ये करना, ये न करना – ऐसा रागभाव अवश्य करता रहता है; परन्तु यदि वह चाहे तो अपने त्रैकालिक निर्मल पूर्ण विज्ञानघन स्वतत्त्व के अवलम्बन के बल द्वारा भेदविज्ञान की प्रवीणता रूप स्वसन्मुख ज्ञाता बनकर अपूर्व धैर्य को धारण कर सकता है।

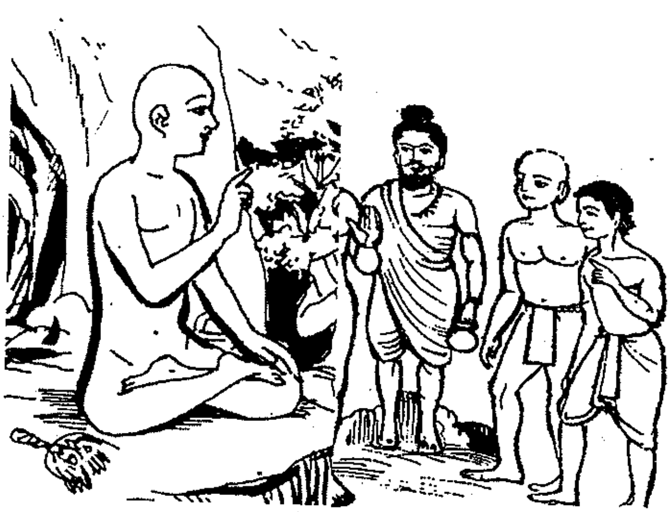

स्वाधीनता को छोड़ना, पराधीनता मोल लेना कहाँ तक ठीक है ? प्रथम तो सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है। तथा सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को और निजरूप को विपरीततारहित और भाव भासन सहित जानना ही तत्त्वविचार के उद्यमरूप प्रथम नम्बर का धर्म है। वीतरागता रूप चारित्र धर्म ऊँचे नम्बर का धर्म है, जो सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही हो सकता है। कुछ समझे !

भर्तृहरि टकटकी लगाकर सुन रहा था, उसे यह सब बातें अपूर्व और सच्चे सुख को देनेवाली भासित तो हो रही थीं; परन्तु अभी भी मन में दुविधा का दुःख दूर नहीं हुआ था।

शुभचन्द्र आगे बोले – भर्तृहरि ! यदि आपको सुवर्ण की ही चाह है ? तो लो कितना सोना चाहते हो ? विशाल पर्वत पर अपनी चरणरज उठाकर फैंक दी, आश्चर्य....! तपोबल की पवित्रता और पुण्य की अचिन्त्य शक्ति, वह सम्पूर्ण पर्वत शिलाखण्ड सोना बन गया। भर्तृहरि आँखें फाड़े देखता भर रह गया, अचम्भित-सा।

हृदय भर आया उसका, भैया की सम्यक् रत्नत्रयरूप तपस्या ने मोह लिया उसे। पैरों में गिरकर बोला – 'मुझ डूबते को उबारिए महाराज ! मैं अपने को आपके चरण-शरण में अर्पण करता हूँ।'

चाह गई चिन्ता गई, मनुवा बेपरवाह।
जिन्हें कछू न चाहिए, सो शाहनपति शाह॥

श्रावक की धर्मसाधना

(सम्यग्दर्शन के आठ अंग)

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति सहित आठ अंगों का पालन होता है। सकलकीर्ति श्रावकाचार एवं प्रथमानुयोग के आधार पर आधुनिक भाषा में लिखी उन आठ अंगों में प्रसिद्ध आठ महापुरुषों की कथाओं को यहाँ दिया जा रहा है। उनके प्रसिद्ध चरित्र-नायकों के नाम इसप्रकार हैं –

अंजन निरंजन हुए जिनने, नहीं शंका चित धरी।
प्रसिद्ध अनंतमती सती ने, विषय-आशा परिहरी ॥
सज्जन उद्दायन नृपति वर ने, ग्लानि जीती भाव से।
सत्-असत् का किया निर्णय, रेवती ने चाव से ॥

जिनभक्तजी ने चोर का वह, महा दूषण ढक दिया।
जय वारिषेण मुनीश जिनने, चपलचित को थिर किया ॥
श्री विष्णुकुमार कृपालु मुनि ने, संघ की रक्षा करी।
जय वज्रमुनि जयवन्त तुमसे, धर्म महिमा विस्तरी ॥

रत्नत्रय की पूजा के अन्तर्गत सम्यग्दर्शन पूजा की जयमाला के अन्त में आता है कि हे जीवो ! सम्यग्दर्शन के आठ गुणों की आराधना से सिद्धदशा के आठ महागुण प्राप्त करो....जिससे इस संसार में पुनः अवतरण न हो। वह मूल पंक्ति इसप्रकार है –

गुण आठ सौं गुण आठ लहिकैं, इहाँ फेर ने आवना ॥

सिद्धदशा की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे ज्ञान और चारित्र भी नहीं होते; इसलिए हे भव्यजीवो ! अब तुम सर्वप्रथम बहुमानपूर्वक इसकी आराधना करो। छहढ़ाला में कहा भी है – **मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी या बिन ज्ञान-चरित्रा।**

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में कहा है –

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिल यत्नेन।

17

नि:शांकित अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर की कहानी

तत्त्व यही है ऐसा ही है, नहीं और नहिं और प्रकार।
जिनकी सन्मारग में रुचि हो, ऐसी मानो खड्ग की धार॥
है सम्यक्त्व अंग यह पहला, 'नि:शांकित' है इसका नाम।
इसके धारण करने से ही, 'अंजन चोर' हुआ सुख धाम॥

अंजन चोर, वह कोई मूल में चोर नहीं था, वह तो उसी भव में मोक्ष पाने वाला एक राजकुमार था और उसका नाम ललित कुमार था। अभी तो वे निरंजन-भगवान हैं, लेकिन लोक में उन्हें अंजन चोर के नाम से पहचानते हैं। आइये, आगे पढ़ते हैं, उनकी कहानी।

उस राजकुमार ललित को राजा ने दुराचारी जानकर राज्य से बाहर निकाल दिया। उसने एक ऐसे अंजन (काजल) को सिद्ध कर लिया, जिसके लगाने से वह अदृश्य हो जाता था। वह काजल उसे चोरी करने में सहायक होता था, इसलिए वह अंजन चोर नाम से प्रसिद्ध हो गया। चोरी करने के उपरान्त वह जुआ और वेश्या-सेवन जैसे अन्य महापाप भी करने लगा।

एक बार उसकी प्रेमिका ने रानी के गले में सुन्दर रत्न-हार देखा और उसे पहनने की उसके मन में तीव्र इच्छा हुई। जब अंजन चोर उसके पास आया तो उसने उससे कहा – "हे अंजन ! अगर तुम्हारा मुझ पर सच्चा प्रेम है तो रानी के गले का रत्नहार मुझे लाकर दो।"

अंजन ने कहा – "देवी ! यह बात तो मेरे लिए बहुत ही आसान है।" –ऐसा कहकर वह चतुर्दशी की अन्धेरी रात में राजमहल में गया और रानी के गले का हार चुराकर भागने लगा। रानी का अमूल्य रत्नहार चोरी होने से चारों ओर शोर मच गया। सिपाही दौड़े, उन्हें चोर तो दिखाई नहीं देता, लेकिन उसके हाथ में पकड़ा हुआ हार अन्धेरे में जगमगाता हुआ दिखाई देता, जिसे देखकर सिपाही उसे पकड़ने के लिए पीछे भागे। पकड़े जाने के भय से हार दूर फेंक कर अंजन चोर भाग गया और श्मशान में जा पहुँचा। थक जाने के कारण वह एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया, वहाँ उसने एक आश्चर्यकारी घटना देखी।

उसने देखा कि – एक मनुष्य एक पेड़ के ऊपर एक सींका बाँध कर उसमें चढ़-उतर रहा है, जो कुछ बोल भी रहा है। "कौन है वह मनुष्य ? और इतनी अन्धेरी रात में यहाँ क्या कर रहा है ?" इत्यादि प्रश्नों को लिए हुए अंजन चोर उसे एकटक देखने लगा, पश्चात् उसके नजदीक

जाकर उससे पूछने लगा कि यह क्या करते हो ? क्यों करते हो ? तब उस सोमदत्त माली ने सेठ जिनदत्तजी की कहानी सुनाई, जो इसप्रकार है –

अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नाम के दो देव पूर्व भव में मित्र थे। अमितप्रभ तो जैनधर्म का भक्त था और विद्युत्प्रभ कुधर्म को मानता था। एक बार वे दोनों धर्म की परीक्षा करने निकले।

रास्तें में एक अज्ञानी तपस्वी को तप करते हुए देखकर उन्होंने उसकी परीक्षा करनी चाही। उस तपस्वी को विद्युत्प्रभ ने कहा – "अरे बाबा ! पुत्र के बिना सद्गति नहीं होती – ऐसा शास्त्र में कहा है।" यह सुनकर वह तपस्वी तो झूठे धर्म की श्रद्धा से उत्पन्न हुआ वैराग्य छोड़ कर संसार-भोग भोगने चला गया। यह देखकर विद्युत्प्रभ की कुगुरुओं के प्रति श्रद्धा तो छूट गई। अतः उसने कहा – "अब जैन गुरु की परीक्षा करेंगे।"

तब अमितप्रभ ने उसे कहा – "हे मित्र ! जैन साधु तो परम वीतरागी होते हैं, उनकी तो बात ही क्या करें। अरे ! उनकी परीक्षा तो दूर रही, देखो ! सामने यह जिनदत्त नामक एक श्रावक सामायिक की प्रतिज्ञा करके अन्धेरी रात में यहाँ श्मशान में अकेला ध्यान कर रहा है, तुम इसी की परीक्षा करके देख लो।'

तब उस देव ने अनेक प्रकार से उपद्रव किया, परन्तु जिनदत्त सेठ तो सामायिक में पर्वत के समान अटल रहे, अपनी आत्मा की शान्ति से जरा भी डगमगाये नहीं। अनेक प्रकार के भोग-विलास बताये, तो भी वे लालायित नहीं हुए। एक जैन श्रावक की ऐसी दृढ़ता देखकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ। बाद में सेठजी ने उसे जैनधर्म की महिमा समझायी – "हे देव ! आत्मा से देह भिन्न है। आत्मा के अवलम्बन से ही जीव अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है और उसी के अवलम्बन से वह मुक्ति पाता है।"

यह सुनकर उस देव को भी जैनधर्म की श्रद्धा हुई। उसने सेठजी का उपकार माना और उन्हें आकाशगामिनी विद्या प्रदान की।

आकाशगामिनी विद्या के बल से जिनदत्त सेठ प्रतिदिन मेरु पर्वत पर जाते और वहाँ के अद्भुत रत्नमय जिनबिम्बों के तथा चारणऋद्धिधारी मुनिवरों के दर्शन करते, जिससे उन्हें बहुत आनन्द आता।

एक बार मैंने (सोमदत्त नामक माली) सेठजी से पूछा – "सेठजी आपने आकाशगामिनी विद्या सम्बन्धी बहुत-सी बातें कहीं और रत्नमय जिनबिम्बों का बहुत वर्णन किया, उसे सुनकर

मुझे भी वहाँ के दर्शन करने की भावना जागी है। आप मुझे आकाशगामिनी विद्या सिखाइये। जिससे मैं भी वहाँ के दर्शन कर सकूँ।''

सेठजी ने मुझे वह विद्या प्राप्त करने की विधि सिखाई। सेठजी के बताये अनुसार ही मैंने अन्धेरी चतुर्दशी की रात के समय एकान्त श्मशान में पेड़ पर सींका लटकाया और नीचे जमीन पर तीक्ष्ण नोंकदार भाले लगाये। आकाशगामिनी विद्या की साधना करने के लिए सींके में बैठकर, पंच णमोकार मन्त्र बोलते हुए सींके की रस्सी काटनी थी, परन्तु नीचे लगे भालों को देखकर मुझे डर लगता है और मन्त्र में शंका हो जाती है कि कदाचित् मन्त्र सच्चा नहीं हुआ और मैं नीचे गिर पड़ा तो मेरा शरीर छिद जायेगा। ऐसी शंका से मैं नीचे उतर आता हूँ, थोड़ी देर पश्चात् फिर ऐसा विचार आता कि सेठजी ने जो कहा था, वह सच्चा होगा तो ? अतः फिर सींके में जा बैठता हूँ।

अहो ! जिसप्रकार चैतन्यभाव की निःशंकता बिना शुद्ध-अशुद्ध के विकल्प में झूलता हुआ जीव निर्विकल्प अनुभव रूप आत्मविद्या को नहीं साध सकता, उसीप्रकार मन्त्र के सन्देह में झूलता हुआ वह माली भी मन्त्र सिद्ध नहीं कर सका।

सोमदत्त माली द्वारा सुनाई गई यह कहानी सुनते ही अंजन चोर का पंच णमोकार मन्त्र पर परम विश्वास बैठ गया।

उसने माली से कहा – ''लाओ, मैं इस मन्त्र को सिद्ध करता हूँ।'' ऐसा कहकर श्रद्धापूर्वक मन्त्र बोलकर वह सींके पर बैठा और उसने निःशंकपने सींके की एक-एक रस्सी काट दी....।

अहो आश्चर्य ! नीचे गिरने के पहले ही देव ने उसे ऊपर ही झेल लिया....और कहा – ''मन्त्र के ऊपर तुम्हारी निःशंक श्रद्धा से तुम्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गई, उसकी वजह से आकाशमार्ग से तुम्हें जहाँ भी जाना हो, जा सकते हो।''

तब से अंजन चोर चोरी करना छोड़कर जैनधर्म का परमभक्त बन गया, वह कहने लगा – ''जिनदत्त सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या प्राप्त हुई है। जिसप्रकार वे भगवान के दर्शन करने के लिए जहाँ जाते हैं, मेरी इच्छा भी वहीं जाने की है और वहाँ जाकर जो वे करते हैं, वैसा ही करने की है।''

भाईयो ! यहाँ यह बात विशेष ख्याल में लेना है कि अंजन चोर को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई तो उसे चोरी करने के लिए उस विद्या का उपयोग करने की दुर्बुद्धि नहीं हुई, परन्तु जिनबिम्बों के दर्शन इत्यादि धर्मकार्य में उसका उपयोग करने की सद्बुद्धि सूझी। यह बात उसके परिणाम पलटने की सूचना देती है और इसप्रकार जैनधर्म की व्यवहार में दृढ़-श्रद्धा होने से उसे व्यवहार से तो सम्यग्दर्शन हुआ, परन्तु वह कुछ ही क्षणों बाद मुनिराज के उपदेश को पाकर निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा।

विद्या सिद्ध होने पर अंजन ने विचार किया – "अहो ! जिस जैनधर्म के एक छोटे से मन्त्र के प्रभाव से मेरे जैसे चोर को यह विद्या सिद्ध हुई तो वह जैनधर्म कितना महान होगा। उसका स्वरूप कितना पवित्र होगा। चलूँ, जिन सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या मिली, उन्हीं सेठ के पास जाकर जैनधर्म के स्वरूप को समझूँ और उन्हीं से वह मन्त्र भी सीख लूँ, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके।" – ऐसा विचार कर विद्या के बल से वह मेरुपर्वत पर पहुँच गया।

वहाँ पर रत्नमयी अद्भुत अरहन्त भगवन्तों की वीतरागता देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उस समय जिनदत्त सेठ वहाँ पर मुनिवरों का उपदेश सुन रहे थे। अंजन (राजकुमार ललित) ने उनका बहुत उपकार माना और मुनिराज के उपदेश को सुनकर शुद्धात्मा के स्वरूप को समझा। शुद्धात्मा की निःशंक श्रद्धापूर्वक निर्विकल्प अनुभव करके उसने निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त किया; इतना ही नहीं, पूर्व के पापों का पश्चात्ताप करके उसने मुनिराजों के पास दीक्षा ली, साधु बनकर आत्मध्यान करते-करते उन्हें केवलज्ञान हुआ, और वे अन्त में **अंजन से निरंजन** होकर कैलाशगिरि से निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध हुए।

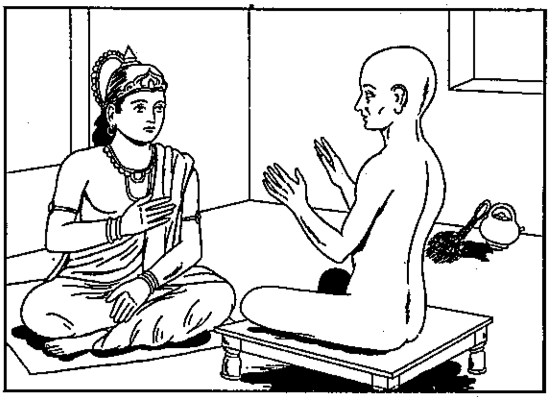

इस कहानी से हमें यह शिक्षा मिलती है कि जैनधर्म पर निःशंक श्रद्धा करके उसकी आराधना करना ही श्रेयस्कर है।

देह से कोई पापी नहीं होता, परिणामों से पाप-पुण्य होता है। सम्यग्दर्शन सहित यदि आत्मा चण्डाल की देह में भी हो तो भी गणधर देव उसे "देव" कहते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान एवं चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फलोदय नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी मन्दिर का प्रथम सोपान है। यह निशांकित अंग सम्यग्द्रष्टि का प्रथम अंग है।

18

निःकांक्षित अंग में प्रसिद्ध अनन्तमती की कहानी

भाँति-भाँति के कष्ट सहे भी, जिसका मिलना कर्माधीन।
जिसका उदय विविध दुःखयुत है, जो है पाप-बीज अतिहीन॥
जो है अन्त सहित लौकिक-सुख, कभी चाहना नहिं उसको।
'निःकांक्षित' यह अंग दूसरा, धारे 'अनन्तमती' इसको॥

यह अनन्तमती चम्पापुरी के प्रियदत्त सेठ की पुत्री थी तथा उसकी माता का नाम अंगवती था। अनन्तमती को अपने माता-पिता द्वारा उत्तम संस्कार विरासत में ही मिले थे; क्योंकि उसके माता-पिता एक जिनभक्त तथा संसार के विषयों से विरक्तचित्त सद्गृहस्थ थे।

अनन्तमती सात-आठ वर्ष की बाल्यावस्था में जब अन्य बालक-बालिकाओं के साथ खेलकूद किया करती थी तब एक बार अष्टाह्निका के समय उनके नगर में धर्मकीर्ति मुनिराज पधारे। उन्होंने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का उपदेश दिया। निःकांक्षित अंग का उपदेश देते हुए उन्होंने कहा – "हे जीवो! संसार के सुख की आकांक्षा छोड़कर आत्मा के धर्म की आराधना करो। धर्म के फल में जो संसार-सुख की इच्छा करता है, वह अज्ञानी है। सम्यक्त्व के या व्रत के बदले में मुझे देवों की अथवा राज्य की विभूति मिले – ऐसी जो इच्छा है, वह तो संसार-सुख के बदले में सम्यक्त्वादि धर्म को बेचता है, यह तो छाछ के बदले में रत्न-चिन्तामणि को बेचने जैसी मूर्खता है। अहा! स्वयं के चैतन्य चिन्तामणि को जिसने देखा है, वह बाह्य विषयों की आकांक्षा क्यों करे ?"

अनन्तमती के माता-पिता भी मुनिराज का उपदेश सुनने के लिए आये थे और अनन्तमती को भी साथ में लाये थे। उपदेश के पश्चात् उन्होंने आठ

दिन के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत लिया और हँसते हुए अनन्तमती से कहा – "तू भी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर ले।"

तब बालिका अनन्तमती ने कहा – ठीक है, मैं भी शीलव्रत अंगीकार करती हूँ।

इस प्रसंग के बाद अनेक वर्ष बीत गये। अनन्तमती अब युवती हो गई, उसका यौवन सोलह कलाओं के समान खिल उठा। रूप और वय के साथ उसके धर्म के संस्कार भी वृद्धिंगत होकर युवा हो गये।

एक बार सखियों के साथ वह बगीचे में घूमने गई थी और वहाँ एक झूले पर झूल रही थी। उसी समय आकाशमार्ग से एक विद्याधर राजा जा रहा था। वह अनन्तमती के अद्भुत रूप को देखकर मोहित हो गया, इसलिए वह उसे उठाकर विमान में ले गया, परन्तु इतने में उसकी रानी वहाँ आ पहुँची तो घबराकर विद्याधर ने अनन्तमती को एक भयंकर वन में छोड़ दिया। ऐसे घोर वन में पड़ी हुई अनन्तमती भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगी और कहने लगी – "अरे ! इस वन में मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? यहाँ कोई मनुष्य भी तो दिखाई नहीं देता।"

थोड़ी देर पश्चात् वह पूर्व संस्कारवश पंच परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण करने लगी।

दुर्भाग्य से उस वन का भील राजा शिकार करने के लिए वहाँ आया, उसने अनन्तमती को देखा और वह भी उस पर मोहित हो गया। उसके मन में विचार आया कि यह कोई वनदेवी दिखाई देती है, ऐसी अद्भुत सुन्दरी मुझे दैवयोग से मिली है। वह उसे घर ले गया।

घर पहुँचकर वह कहने लगा – "हे देवी ! मैं तुम पर मुग्ध हो गया हूँ और मैं तुझे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ....तू मेरी आशा पूरी कर।"

निर्दोष अनन्तमती उस कामी भील राजा की बात सुनकर बहुत घबड़ायी, पर विचार करने लगी – "अरे मैं शीलव्रत की धारक....परन्तु विधि के योग से मेरे साथ यह क्या हो रहा है ? पूर्व में किन्हीं गुणीजनों के शील पर अवश्य मैंने झूठा कलंक लगाया होगा अथवा उनका अनादर किया होगा। उस दुष्ट कर्म के कारण जहाँ भी जाती हूँ, वहाँ ही मेरे ऊपर ऐसी विपत्ति आ रही है; परन्तु अब मैंने वीतराग धर्म की शरण ली है, इसके प्रताप से शीलव्रत से मैं डगमगाऊँगी नहीं। भले ही प्राण चले जायें, परन्तु मैं अपने शील को नहीं छोड़ूँगी।"

तब उसने भील से कहा – "अरे दुष्ट ! अपनी दुर्बुद्धि को छोड़। तेरे वैभव से मैं ललचाने वाली नहीं हूँ। तेरे वैभव को मैं धिक्कारती हूँ।"

अनन्तमती का यह दृढ़ निश्चय सुनकर भील राजा को गुस्सा आया और वह निर्दयता पूर्वक उस पर बलात्कार करने तैयार हुआ। इतने में अचानक मानों आकाश फाड़कर एक महादेवी वहाँ प्रगट हुई। उस देवी के तेज को वह दुष्ट भील सहन नहीं कर सका, उसके होश उड़ गये और वह हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करने लगा।

देवी ने कहा – "यह महान शीलव्रतवती सती है। यदि तू इसे जरा भी सतायेगा तो तेरी मौत आ जायेगी।" अनन्तमती पर भी हाथ रखकर उसने कहा – "बेटी धन्य है तेरे शील को, तू निर्भय रह। शीलवती सती को एकबार भी कोई दोष लगाने में समर्थ नहीं।" इतना कहकर वह देवी अदृश्य हो गई।

भयभीत होकर उस भील ने अनन्तमती को गाँव के एक सेठ को बेच दिया। वह सेठ प्रथम तो कहने लगा कि वह अनन्तमती को उसके घर पहुँचा देगा, परन्तु वह भी अनन्तमती का रूप देखकर कामान्ध हो गया और कहने लगा – हे देवी ! अपने हृदय में मुझे स्थान दो और मेरा यह अपार वैभव तुम भोगो।" उस पापी की बात सुनकर अनन्तमती स्तब्ध रह गई...."अरे ! अब क्या होगा ?"

वह सेठ को समझाने लगी – "अरे सेठ ! आप तो मेरे पितातुल्य हैं। दुष्ट भील के पास से यहाँ आई तो समझने लगी थी कि मेरे पिता मुझे मिल गये और आप मुझे मेरे घर पहुँचायेंगे। अरे ! आप भले आदमी होकर भी ऐसी नीच बात क्यों कर रहे हो ? यह आपको शोभा नहीं देती, इसलिए इस पाप-बुद्धि को छोड़ दीजिये।"

परन्तु सेठ नहीं माना और जबरदस्ती करने लगा, पर जब उसे लगा कि यह नहीं मानेगी तो बदले की भावना से क्रोधित होकर उसने अनन्तमती को कामसेना नामक वेश्या को बेच दिया।

अरे ! कहाँ उत्तम संस्कार वाला माता-पिता का घर और कहाँ यह निकृष्ट वेश्या का घर। अनन्तमती के अन्तःकरण में वेदना का पार नहीं रहा; परन्तु वह अपने शीलव्रत में अडिग रही। संसार के भय को देखकर बिल्कुल भी डरी नहीं और ना ही संसार के वैभव को देखकर वह बिल्कुल ललचाई।

ऐसी सुन्दरी प्राप्त होने से कामसेना वेश्या अत्यन्त खुश हुई और अब मैं बहुत धन कमाऊँगी – ऐसा समझकर वह अनन्तमती को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करने लगी। उसने अनन्तमती से अनेक प्रकार की कामोत्तेजक बातें की, बहुत लालच दिखलाया तथा न मानने पर बहुत दुःख दिया; परन्तु अनन्तमती अपने शीलधर्म से रंच मात्र भी नहीं डिगी।

कामसेना ने तो ऐसी आशा की थी कि इस युवती का व्यापार करके मैं बहुत धन कमाऊँगी, लेकिन उसकी आशा के ऊपर पानी फिर गया। उस बेचारी विषय-लोलुपी बाई को क्या मालूम था कि उस युवती कन्या ने तो धर्म के लिए ही अपना जीवन अर्पित किया है और संसार के विषय-भोगों की उसे थोड़ी भी आकांक्षा नहीं है, सांसारिक भोगों के प्रति उसका चित्त बिल्कुल निःकांक्ष है। अतः शील की रक्षा करने के लिए जो भी दुःख उसे भोगने पड़े, उससे वह भयभीत नहीं हुई।

अहा ! जिसका चित्त निःकांक्ष होता है, वह भयभीत होने पर भी संसार के सुख की क्यों इच्छा करेगा ? जिसने अपने आत्मा में ही परमसुख का निधान देखा है, वह धर्मात्मा धर्म के फल में सांसारिक वैभव/सुख की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करता – ऐसा निःकांक्ष होता है।

अनन्तमती ने भी शीलगुण की दृढ़ता से संसार के सभी वैभव की आकांक्षा छोड़ दी थी, अतः किसी भी वैभव से ललचाये बिना वह शील में अटल रही।

अहो ! स्वभाव-सुख के सामने संसार के सुख की आकांक्षा कौन करेगा ? सच देखा जाए तो संसार के सुख की आकांक्षा छोड़ कर निःकांक्ष होती हुई अनन्तमती की यह दशा ऐसा सूचित करती है कि उसके परिणाम का रुख स्वभाव की ओर झुक रहा है। ऐसे धर्मसन्मुख जीव संसार के दुःख से कभी डरते नहीं और न कभी अपना धर्म छोड़ते हैं; परन्तु अन्य संसारी जीव संसार के सुख की इच्छा से अपने धर्म में अटल नहीं रह पाते हैं।

जब कामसेना ने जान लिया कि अनन्तमती उसको किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकती, तब उसने बहुत धन लेकर सिंहरत्न नामक राजा को सौंप दिया। अब बेचारी अनन्तमती मानों मगर के मुँह से निकल कर सिंह के जबड़े में जा पड़ी। वहाँ उस पर और नई मुसीबत आ गई। दुष्ट सिंह राजा भी उस पर मोहित हो गया, परन्तु अनन्तमती ने उसका भी तिरस्कार किया।

तब विषयान्ध बनकर वह पापी सिंह राजा अभिमानपूर्वक उस सती पर बलात्कार करने तैयार हुआ....परन्तु एक क्षण में उसका अभिमान चूर-चूर हो गया। सती के पुण्य-प्रताप (शील-प्रताप) से वनदेवी वहाँ प्रकट हुई और दुष्ट राजा को फटकारते हुए कहने लगी – "खबरदार...! भूलकर भी इस सती को हाथ लगाने का दुःसाहस नहीं करना....वरना....।

सिंह राजा तो वनदेवी को देखकर ही पत्थर जैसा हो गया, उसका हृदय भय से काँपने लगा। उसने क्षमा माँगी और तुरन्त ही सेवक को बुलाकर अनन्तमती को सम्मानपूर्वक वन में छोड़कर आने को कहा। अनजान एवं भयंकर वन में अब मैं कहाँ जाऊँ ? इसका अनन्तमती को कुछ पता नहीं था। इतने सारे अत्याचार होने पर भी अपने शील धर्म की रक्षा हुई, इसलिए सन्तोषपूर्वक

घने वन में भी वह पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए आगे बढ़ने लगी। महान भाग्य से थोड़ी देर पश्चात् उसे आर्यिकाओं के संघ का दर्शन हुआ। अत्यन्त उल्लसित होकर आनन्द पूर्वक वह आर्यिका माता की शरण में गई।

अहो ! आज उसका भाग्योदय जागा, उसने भी वीतराग मार्गानुगामी साध्वी के पास शरण ली। उनके आश्रय में शरण पाकर उसने आँसू भरी आँखों से अपनी बीती कहानी सुनायी, जिसे सुनकर आर्यिका माता ने वैराग्य पूर्वक उसे आश्वस्त किया और उसके शील की प्रशंसा की। और उनके सान्निध्य में रहकर अनन्तमती शान्तिपूर्वक आत्मा-साधना करने लगी।

इधर चम्पापुरी में जब से अनन्तमती को विद्याधर उठा कर ले गया था, तब ही से उसके माता-पिता बहुत दुःखी थे। पुत्री के वियोग से खेद-खिन्न होकर मन को शान्त करने के लिए वे तीर्थ यात्रा करने निकले और यात्रा करते-करते तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमि अयोध्या नगरी में पहुँचे। प्रियदत्त का साला (अनन्तमती का मामा) जिनदत्त सेठ यहीं रहता था। वहाँ उसके घर पर आँगन में एक सुन्दर रंगोली देखकर प्रियदत्त कहने लगा – "हमारी पुत्री अनन्तमती भी ऐसी ही रंगोली निकाला करती थी।"

उन्हें अपनी प्रिय पुत्री की याद आई, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। सचमुच यह रंगोली निकालने वाली और कोई नहीं थी, बल्कि स्वयं अनन्तमती ही थी। भोजन करने जब यह यहाँ आई थी, तब उसने यह रंगोली निकाली थी और बाद में वह आर्यिका संघ में वापस चली गई थी। अतः वे संघ में पहुँचे और वहाँ अपनी पुत्री को देखकर प्रसन्न हुए और उस पर बीती हुई कहानी सुनकर अत्यन्त दुःखी हुए और कहने लगे – "बेटी ! तुमने बहुत कष्ट भोगें हैं, अब हमारे साथ घर चलो। तुम्हारी शादी बड़ी धूमधाम से रचायेंगे।"

शादी की बात सुनते ही अनन्तमती आश्चर्य में पड़ गई और बोली – "पिताजी ! आप यह क्या कह रहे हो ? मैं तो ब्रह्मचर्य व्रत ले चुकी हूँ। आप तो यह सब जानते हो....आपने ही मुझे यह व्रत दिलवाया था।"

पिताजी ने कहा – "बेटी ! वह तो बचपन की बात थी। ऐसी हँसी-हँसी में ली हुई प्रतिज्ञा को तुम सत्य मानती हो ? वैसे भी उस वक्त सिर्फ आठ ही दिन के लिए प्रतिज्ञा लेने की बात थी, इसलिए अब तुम शादी करा लो।" तब अनन्तमती ने दृढ़ता पूर्वक कहा – "पिताजी ! आप भले ही आठ दिन के लिए समझे हों, परन्तु मैंने तो मेरे मन में आजीवन के लिए प्रतिज्ञा धारण कर ली थी। अपनी प्रतिज्ञा मैं प्राणान्त होने पर भी नहीं तोड़ूँगी, इसलिए आप शादी का नाम न लें।"

अन्त में पिताजी ने कहा – "अच्छा बेटा ! जैसी तुम्हारी मर्जी, परन्तु अभी तो तुम हमारे साथ घर चलो, वहीं धर्म-साधना करना।"

उस पर अनन्तमती कहती है – "पिताजी ! इस संसार की लीला मैंने देख ली है। संसार में भोग-लालसा के अलावा अन्य क्या है ? इसलिए अब बस करो। पिताजी ! इस संसार सम्बन्धी भोगों की मुझे आकांक्षा नहीं रही। मैं तो अब दीक्षा लेकर आर्यिका बनूँगी और इन धर्मात्मा आर्यिका माता के साथ रहकर आत्मिक सुख को साधूँगी।"

पिताजी ने उसे रोकने का बहुत प्रत्यन किया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वैराग्य छा गया हो, वह इस संसार में क्यों रहे ? संसार सुखों की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करने वाली वह अनन्तमती निःकांक्षित परिणाम के दृढ़ संस्कार के बल से मोह-बन्धन को तोड़कर वीतराग धर्म की साधना में तत्पर हो गई। पश्चात् उसने पद्मश्री आर्यिका के समीप दीक्षा अंगीकार करली और धर्म-ध्यान पूर्वक समाधि-मरण करके स्त्री पर्याय को छेदकर बारहवें देवलोक में महर्द्धिक देव हुई।

अज्ञान अवस्था में लिए हुए शीलव्रत को भी जिसने दृढ़ता पूर्वक पालन किया और स्वप्न में भी संसार-सुख की तथा अन्य किसी ऋद्धि की कामना न करते हुए आत्मध्यान किया, उस अनन्तमती को देवलोक की प्राप्ति हुई। देवलोक के आश्चर्यकारी वैभव की तो क्या बात ? परन्तु निःकांक्षता को लिए वहाँ पर भी उदासीन रहकर वह अनन्तमती अपना आत्महित साध रही है। धन्य है ऐसी निःकांक्षता को ! धन्य है ऐसे निःकांक्षित अंग को !! **यह कहानी हमें संसार-सुख की आकांक्षा छोड़कर आत्मिक सुख की साधना में तत्पर होने की शिक्षा देती है। जिस तरह चक्रवर्ती की सम्पदा को छोड़कर झोपड़ी ग्रहण करना मूर्खता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन एवं व्रतादि रत्नों को छोड़कर विषय-भोगों को ग्रहण करना भी महान मूर्खता है।** इसप्रकार यहाँ सम्यग्द्रष्टि के दूसरे निकांक्षित अंग का वर्णन पूरा हुआ।

19

निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कहानी

रत्नत्रय से जो पवित्र हो, स्वाभाविक अपवित्र शरीर।
उसकी ग्लानि कभी न करना, रखना गुण पर प्रीति सधीर॥
'निर्विचिकित्सा' अंग तीसरा, यह सुजनों को प्यारा है।
पहले 'उद्दायन' नरपति ने, नीके इसको धारा है॥

सौधर्म स्वर्ग में देव सभा चल रही थी और इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे थे – "अहो देवो ! सम्यग्दर्शन में आत्मा का कोई अपूर्व सुख होता है। इस सुख के सामने स्वर्ग के वैभव की कोई गिनती नहीं है। इस स्वर्ग लोक में साधु दशा नहीं हो सकती, परन्तु सम्यग्दर्शनपूर्वक अपने आत्मस्वरूप की आराधना तो यहाँ पर भी हो सकती है।

मनुष्य तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्र दशा भी प्रगट करके मोक्ष पा सकते हैं। सचमुच, जो जीव निःशंकता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण आदि आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं, वे धन्य हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों की हम यहाँ स्वर्ग में भी प्रशंसा करते हैं।

इस समय कच्छ देश में उद्दायन नामक राजा अभी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं और सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वे पालन करते हैं, उसमें भी निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने में वे बहुत दृढ़ हैं। मुनिवरों की सेवा में वे इतने तत्पर हैं कि कैसे भी रोगादि हों तो भी वे जरा भी जुगुप्सा नहीं करते और घृणा बिना परमभक्ति से धर्मात्माओं की सेवा करते हैं। धन्य है ! उन चरमशरीरी धर्मात्मा को।"

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वासव नामक एक देव के मन में उन्हें देखने की इच्छा हुई और वह स्वर्ग से उतरकर मनुष्य लोक में आया और मुनिवेष धारण कर राजा उद्दायन के महल की ओर आहार चर्या हेतु चल पड़ा।

इधर उद्दायन राजा भी मुनिराज को देखकर भक्तिपूर्वक आहार दान के लिए पड़गाहन करने लगे। हे स्वामी !.... हे स्वामी !!.... हे स्वामी....!!!

पश्चात् रानी सहित उद्दायन राजा नवधा भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहार दान देने लगे।

अरे ! लेकिन यह क्या ? बहुत से लोग मुनि वासव देव से दूर भागने लगे, बहुतों ने तो अपने चेहरे को कपड़ों से ढक लिया, क्योंकि मुनि के काने-कुबड़े शरीर में भयंकर कोढ़ रोग हुआ था और उसमें से असह्य दुर्गन्ध आ रही थी, हाथ-पैर से पीप बह रही थी; परन्तु राजा का इस पर कोई लक्ष्य नहीं था, वे तो प्रसन्न होकर परमभक्ति से एकचित्त होकर आहार दान दे रहे थे और स्वयं को धन्य मान रहे थे – "अहो ! रत्नत्रयधारी मुनिराज मेरे आँगन में पधारे हैं। इनकी सेवा करके मेरा जीवन सफल हो गया।"

इतने में मुनिराज के पेट में अचानक गड़बड़ी हुई और उनको एकाएक उलटी हुई। वह दुर्गन्ध भरी उलटी राजा-रानी के शरीर पर जा गिरी। अचानक दुर्गन्ध भरी उलटी उनके शरीर पर गिरने से राजा-रानी को किंचित् भी ग्लानि नहीं हुई और मुनिराज के प्रति जरा भी घृणा नहीं आई, बल्कि अत्यन्त सावधानीपूर्वक वे मुनिराज के दुर्गन्धमय शरीर को साफ करने लगे और उनके मन में ऐसा विचार आया – "अरे रे ! हमारे आहार दान में अवश्य कोई भूल हुई होगी, जिस कारण से मुनिराज को इतना कष्ट हुआ....मुनिराज की पूर्ण सेवा हम से नहीं हो सकी।"

यहाँ तो राजा ऐसा विचार कर ही रहे थे कि वे मुनि अकस्मात् अदृश्य हो गये और उनके स्थान पर एक देव दिखने लगा। अत्यन्त प्रशंसापूर्वक वह कहने लगा – "हे राजन् ! धन्य है आपके सम्यक्त्व को और धन्य है आपके निर्विचिकित्सा अंग को। इन्द्र महाराज ने आपके गुणों की बहुत प्रशंसा की थी, वह तो एक ही गुण से ध्यान में आ गई। मुनि का वेष धारण करके मैं ही आपकी परीक्षा करने आया था। धन्य है आपके गुणों को...." – ऐसा कहकर देव ने उन्हें नमस्कार किया।

वास्तव में किसी मुनिराज को कष्ट नहीं पहुँचा – ऐसा जानकर राजा का चित्त प्रसन्न हो गया और वे कहने लगे –

"हे देव ! यह मनुष्य शरीर तो स्वभाव से ही मलिन है और रोगों का घर है। यह अचेतन शरीर मलिन हो तो भी उसमें आत्मा का क्या ? धर्मी का आत्मा तो सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों से ही शोभित होता है। शरीर की मलिनता देखकर धर्मात्मा के गुणों के प्रति जो ग्लानि करते हैं, उन्हें आत्मा की दृष्टि नहीं होती, परन्तु देह की दृष्टि होती है।

अरे, चमड़े के शरीर से ढका हुआ आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शोभायमान हो रहा है, वह प्रशंसनीय है।"

राजा उद्दायन की यह उत्तम बात सुनकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को अनेक विद्यायें दी, वस्त्राभूषण दिये; परन्तु उद्दायन राजा को उनकी आकांक्षा कहाँ थी ? वे तो सम्पूर्ण परिग्रह छोड़कर वर्द्धमान भगवान के समवसरण में गये और वहाँ उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद प्राप्त किया। अहो ! सम्यग्दर्शन के प्रताप से वे रत्नत्रय की साधना पूर्ण कर सिद्ध हुए, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

यह छोटी-सी कहानी हमें इतना बड़ा बोध देती है कि –

- **धर्मात्माओं के शरीरादि को अशुचि देखकर भी उनके प्रति घृणा नहीं करें, उनके सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों का बहुमान करें।**
- **जो बगुले के समान ध्यान करनेवाले ऊपर से धर्मात्मा नजर आते हैं, वे परीक्षा करने पर असफल हो जाते हैं।**
- **सच्चे ज्ञानियों का समागम मिलना तो कल्पवृक्ष के समान दुर्लभ एवं सुखदायी है।**
- **सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का बाह्य आचरण कभी-कभी समान भी नजर आता है, लेकिन समय आने पर भेद प्रगट हुए बिना नहीं रहता।**
- **शरीर की मलिनता देखकर धर्मात्मा के गुणों के प्रति जो ग्लानि करते हैं, उन्हें आत्मा की दृष्टि नहीं होती, परन्तु देह की दृष्टि होती है।**
- **अहो ! संसार में सम्यग्दर्शन सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है।**

20

अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कहानी

दुखकारक हैं कुपथ-कुपंथी, इन्हें मानना नहिं मन से।
करना नहीं सम्पर्क सत्कृती, यश गाना नहिं वचनों से॥
चौथा अंग 'अमूढ़दृष्टि' यह, जग में अतिशय सुखकारी।
इसको धार 'रेवती रानी', ख्यात हुई जग में भारी॥

इस भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध पर्वत है। उस पर विद्याधर मनुष्य रहते हैं। उन विद्याधरों के राजा चन्द्रप्रभ का चित्त संसार से विरक्त हुआ और वे राज्य का कार्य-भार अपने पुत्र को सौंपकर तीर्थ यात्रा करने निकल पड़े। वे कुछ समय दक्षिण देश में रहे। दक्षिण देश के प्रसिद्ध तीर्थों के और रत्नों के जिनबिम्बों का दर्शन करके उन्हें बहुत आनन्द हुआ। दक्षिण देश में उस समय गुप्ताचार्य नाम के महान मुनिराज विराजमान थे। वे विशेष ज्ञान के धारक थे और मोक्षमार्ग का उत्तम उपदेश देते थे। चन्द्र राजा ने कुछ दिन वहाँ मुनिराज का उपदेश सुना और भक्तिपूर्वक उनकी सेवा की।

तत्पश्चात् उन्होंने मथुरा नगरी की यात्रा पर जाने का विचार किया, क्योंकि वहाँ से जम्बूस्वामी ने मोक्ष पाया था और वर्तमान में अनेक मुनिराज वहाँ विराजमान थे। उनमें भव्यसेन नाम के एक मुनि बहुत ही प्रसिद्ध थे। उस समय मथुरा में वरुण राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम रेवती था।

चन्द्र राजा ने मथुरा जाने की अपनी इच्छा गुप्ताचार्य के सामने प्रगट की और आज्ञा माँगी तथा वहाँ विद्यमान संघ के लिए कोई सन्देश देने के सम्बन्ध में पूछा।

उस पर श्री आचार्यदेव ने सम्यक्त्व की दृढ़ता का उपदेश देते हुए कहा – "आत्मा का सच्चा स्वरूप समझने वाला जीव वीतराग अरहन्त देव के अलावा किसी को भी देव नहीं मानता है। जो देव नहीं है, उसे देव मानना देवमूढ़ता है – ऐसी मूढ़ता धर्मी को नहीं होती। मिथ्यामत के देवादिक बाहर से देखने में कितने भी सुन्दर दिखते हों, ब्रह्मा, विष्णु या शंकर, भले कोई भी हों परन्तु धर्मी जीव उनके प्रति आकर्षित नहीं होते।

मथुरा की राजरानी रेवतीदेवी अभी सम्यक्त्व की धारक हैं, जिनधर्म की श्रद्धा में वह बहुत

ही दृढ़ हैं, उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहना तथा वहाँ विराजमान सुरत मुनि को, जिनका चित्त रत्नत्रय में रत है – उन्हें वात्सल्य पूर्वक नमस्कार कहना।''

इसप्रकार आचार्यदेव ने सुरत मुनिराज को तथा रेवती रानी के लिए सन्देश कहा; परन्तु भव्यसेन मुनि को तो याद भी नहीं किया। इस पर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ, फिर भी आचार्य महाराज को याद दिलाने के उद्देश्य से पूछा – ''क्या दूसरे किसी को कुछ कहना है ?''

परन्तु आचार्यदेव ने इस पर विशेष कुछ नहीं कहा। इससे चन्द्र राजा को ऐसा लगा – ''क्या आचार्यदेव भव्यसेन मुनि को भूल गये हैं ?...नहीं, नहीं, वे तो भूलेंगे नहीं, वे तो विशेष ज्ञान के धारक हैं, इसलिए उनकी इस आज्ञा में अवश्य कोई रहस्य होगा। ठीक है, जो होगा वह प्रत्यक्ष दिखेगा।'' मन ही मन में ऐसा समाधान करके चन्द्र राजा ने आचार्यदेव के चरणों में नमस्कार किया और मथुरा की तरफ निकल पड़े।

मथुरा में आते ही प्रथम उन्होंने सुरत मुनिराज के दर्शन किए। वे बहुत ही शान्त और शुद्ध रत्नत्रय का पालन करने वाले थे। चन्द्र राजा ने उन्हें नमस्कार किया और उन्हें गुप्ताचार्य का सन्देश कहा।

चन्द्र राजा की बात सुनकर सुरत मुनिराज ने प्रसन्नता व्यक्त की और स्वयं भी विनयपूर्वक हाथ जोड़कर श्री गुप्ताचार्य के प्रति परोक्ष नमस्कार किया।

मुनिवरों का एक-दूसरे के प्रति ऐसा वात्सल्य भाव देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। सुरत मुनिराज ने कहा – ''हे वत्स ! वात्सल्य से धर्म शोभता है। उन रत्नत्रय के धारक आचार्यदेव को, जिन्होंने इतने दूर से साधर्मी के रूप में मुझे याद किया। शास्त्र में सच ही कहा है –

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।
सधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले ॥

अर्थ – अहो ! जो भव्यजीव धर्म से प्रीति होने के कारण साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य करते हैं, उनका जन्म जगत में सफल है।''

प्रसन्नचित्त से भावपूर्वक बारम्बार मुनिराज को नमस्कार करके राजा वहाँ से निकले और भव्यसेन मुनिराज के पास आये। ....उन्हें बहुत शास्त्र ज्ञान था और लोगों में वे बहुत प्रसिद्ध थे। राजा उनके साथ थोड़े समय रहे, परन्तु उन मुनिराज ने न तो आचार्य संघ का कोई समाचार पूछा और न कोई उत्तम धर्म चर्चा की। मुनि के योग्य आचार-विचार भी उनका नहीं था। यद्यपि वे

शास्त्र पढ़ते थे, फिर भी शास्त्रानुसार उनका आचरण नहीं था। मुनि को नहीं करने योगय प्रवृत्ति वे करते थे। यह सब अपनी आँखों से देखकर राजा की समझ में आ गया – "ये भव्यसेन मुनि चाहे जितने प्रसिद्ध हों, परन्तु वे सच्चे मुनि नहीं हैं तो फिर गुप्ताचार्य उन्हें क्यों याद करेंगे ? सच में, उन चतुर आचार्य भगवान ने योग्य ही किया।"

इसप्रकार चन्द्र राजा ने सुरत मुनि और भव्यसेन मुनि की स्वयं आँखों से देखकर परीक्षा की। रेवती रानी को भी आचार्य महाराज ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहा है, इसलिए इनकी भी परीक्षा करनी चाहिये – ऐसा राजा के मन में विचार आया।

अगले दिन मथुरा नगरी के उद्यान में अकस्मात् साक्षात् ब्रह्मा प्रगट हुए। इस सृष्टि के कर्त्ता ब्रह्माजी साक्षात् आये हैं.... वे कह रहे हैं – "मैं इस सृष्टि का कर्त्ता हूँ और दर्शन देने के लिए आया हूँ।" यह बात नगर जनों में फैल गई। नगर जनों की टोलियाँ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ीं और उन्हें गाँव में लाने की चर्चा हुई।

मूढ़ लोगों का तो क्या कहना ? बहु-भाग लोग इन ब्रह्माजी के दर्शन करने आये। प्रसिद्ध भव्यसेन मुनि भी कौतुहल वश उस जगह आये। यदि कोई नहीं जाने वालों में थे, तो वे केवल सुरत मुनि और रेवती रानी।

जैसे ही राजा ने साक्षात् ब्रह्मा की बात की, वैसे ही महारानी रेवती ने निःशंकपने कहा – "महाराज ! ये कोई ब्रह्मा हो ही नहीं सकते, किसी मायाचारी ने इन्द्रजाल खड़ा किया है, क्योंकि कोई ब्रह्मा है ही नहीं और ना ही कोई इस सृष्टि का कर्त्ता ही है। साक्षात् ब्रह्मा तो अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा है अथवा भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव ने मोक्षमार्ग की रचना की, इसलिए उन्हें आदि ब्रह्मा कहते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई ब्रह्मा है ही नहीं, कि जिसे मैं वन्दन करूँ।"

दूसरे दिन मथुरा नगरी में एक अन्य दरवाजे से नागशय्या पर विराजमान विष्णु भगवान प्रगट हुए, जिन्होंने अनेक अलंकार पहने हुए थे और उनके चारों हाथों में शस्त्र थे। लोगों में फिर हलचल मच गई। लोग बिना कोई विचार किये पुनः उस तरफ भागे। वे कहने लगे – "अहा ! मथुरा नगरी का महाभाग्य खुल गया है, कल साक्षात् ब्रह्मा ने दर्शन दिये और आज विष्णु भगवान पधारे हैं।"

राजा को ऐसा लगा कि आज तो रानी अवश्य जायेगी, इसलिए उन्होंने रानी से यह बात स्वयं जाकर कही; परन्तु रेवती जिसका नाम था, जो वीतराग देव की शरण में ही समर्पित थी, उसका मन जरा भी डिगा नहीं।

"श्रीकृष्ण आदि नौ विष्णु (वासुदेव) होते हैं और वे तो चौथे काल में हो चुके, दसवाँ विष्णु या नारायण होता नहीं। इसलिए अवश्य ये सब बनावटी हैं, क्योंकि जिनवाणी मिथ्या नहीं होती।" इसप्रकार जिनवाणी की दृढ़श्रद्धा पूर्वक अमूढ़दृष्टि अंग से वह जरा भी विचलित नहीं हुई।

तीसरे दिन वहाँ एक नई बात हुई। ब्रह्मा और विष्णु के बाद आज तो पार्वती सहित जटाधारी शंकर प्रगटे। गाँव के बहुत लोग उनके दर्शन करने चल दिये, कोई भक्ति से गया तो कोई कौतुहल

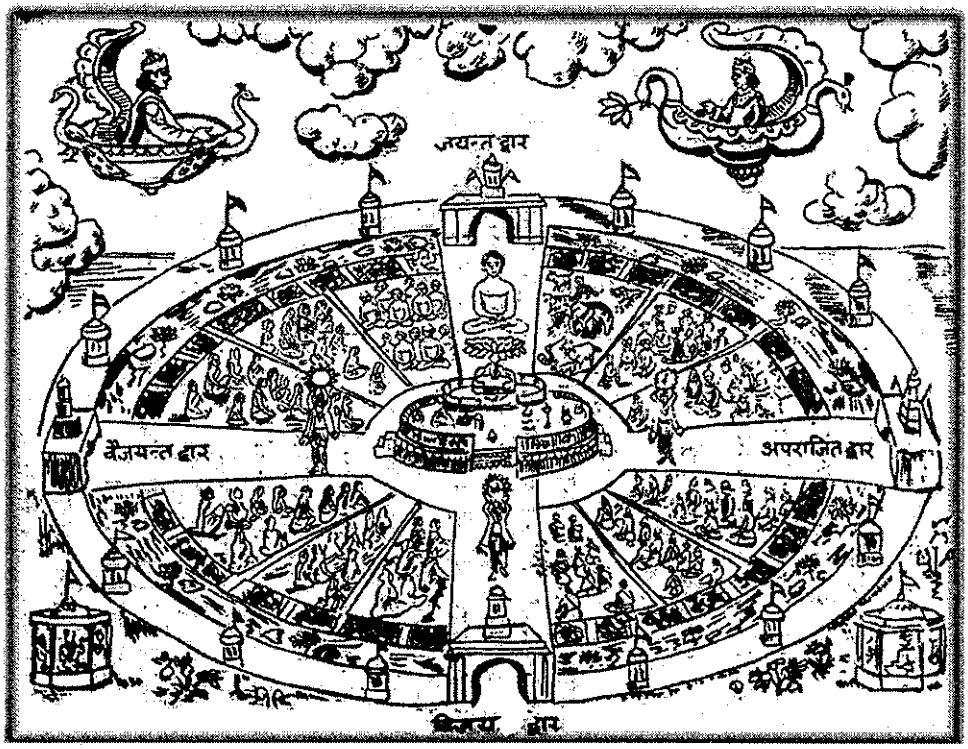

से गया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग देव बसे हैं—ऐसी रेवती रानी पर तो कुछ भी असर नहीं हुआ, उसे कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ, उल्टे उसे तो लोगों पर दया आई। रेवती रानी सोचने लगीं – "**अरे रे ! परम वीतराग सर्वज्ञ देव, मोक्षमार्ग को दिखाने वाले भगवान को भूलकर मूढ़ता से लोग इन्द्रजाल में कैसे फँस रहे हैं ! सच में, भगवान अरहन्त देव का मार्ग प्राप्त होना जीवों को बहुत दुर्लभ है।**"

अहो आश्चर्य ! अब चौथे दिन तो मथुरा के विशाल प्रांगण में साक्षात् तीर्थंकर भगवान प्रगट हुए.... अद्भुत समवसरण की रचना, गंधकुटी जैसा दृश्य और उसमें चतुर्मुख सहित विराजमान तीर्थंकर भगवान, लोग फिर दर्शन करने दौड़े।

राजा ने सोचा – इस बार तो तीर्थंकर भगवान आये हैं, इसलिए रेवती रानी अवश्य जायेगी। परन्तु रेवती रानी ने कहा – "हे महाराज ! अभी इस पंचम काल में तीर्थंकर कैसे ? भगवान ने इस भरत क्षेत्र में एक काल खण्ड में चौबीस तीर्थंकर होने का ही विधान कहा है और वे ऋषभदेव

से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर मोक्ष चले गये हैं। यह पच्चीसवाँ तीर्थंकर कैसा? यह तो कोई कपटी का मायाजाल है। मूढ़ लोग देव के स्वरूप का विचार किये बिना ही एक के पीछे एक दौड़े चले जा रहे हैं।''

बस, परीक्षा हो चुकी। विद्याधर राजा को निश्चय हो गया कि रेवती रानी की जो प्रशंसा श्री गुप्ताचार्य ने की थी, वह यथार्थ ही है। यह तो सम्यक्त्व के सर्व अंगों से शोभायमान है।

क्या पवन से कभी मेरु पर्वत हिलता है ? नहीं, उस सम्यग्दर्शन में मेरु जैसा अकम्प सम्यग्दृष्टि जीव कुधर्म रूपी पवन से जरा भी डिगता नहीं, देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी मूढ़ता उसे होती नहीं, उनकी उचित पहिचान करके सच्चे वीतरागी देव-गुरु-धर्म को ही वह नमन करता है।

रेवती रानी की ऐसी दृढ़ धर्म-श्रद्धा देखकर विद्याधर राजा चन्द्रप्रभ को बहुत प्रसन्नता हुई, तब अपने असली स्वरूप में प्रगट होकर उसने कहा – ''हे माता ! क्षमा करो। चार दिन से इन ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि का इन्द्रजाल मैंने ही खड़ा किया था। पूज्य श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा की थी, इसलिए आपकी परीक्षा करने के लिए ही मैंने यह सब किया था। अहा ! धन्य है आपके श्रद्धान को, धन्य है आपके अमूढ़दृष्टि अंग को। हे माता ! आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा पूर्वक श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके लिए धर्मवृद्धि का आशीर्वाद भेजा है।''

अहो ! मुनिराज के आशीर्वाद की बात सुनते ही रेवती रानी को अपार हर्ष हुआ.... हर्ष से गद्‌गद् होकर उन्होंने यह आशीर्वाद स्वीकार किया और जिस दिशा में मुनिराज विराजमान थे, उस तरफ सात पाँव चल कर मस्तक नवाँ कर उन मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया। विद्याधर राजा ने रेवती माता का बहुत सम्मान किया और उनकी प्रशंसा करके सम्पूर्ण मथुरा नगरी में उनकी महिमा फैला दी। राजमाता की ऐसी दृढ़ श्रद्धा और जिनमार्ग की ऐसी महिमा देख कर मथुरा नगरी के कितने ही जीव कुमार्ग छोड़कर जिनधर्म के भक्त बन गये और बहुत से जीवों की श्रद्धा दृढ़ हो गई। इसप्रकार जैनधर्म की महान प्रभावना हुई।

भाइयो ! इस कहानी से हमें यह शिक्षा मिलती है कि वीतराग परमात्मा अरहन्त देव का सच्चा स्वरूप पहचान कर उनके अलावा अन्य दूसरे किसी को भी देव मानकर – भले ही साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश दिखाई दें, नमस्कार नहीं करें। जिन वचन के विरुद्ध किसी बात को माने नहीं। भले सारा जगत कुछ भी माने और तुम अकेले पड़ जाओ, तो भी जिनमार्ग की श्रद्धा नहीं छोड़ना चाहिये।

21

उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनभक्त सेठ की कहानी

स्वयं शुद्ध जो सत्यमार्ग है, उत्तम सुख देने वाला।
अज्ञानी असमर्थ मनुज-कृत, उसकी हो निन्दा माला।।
उसे तोड़कर दूर फेंकना, 'उपगूहन' है पंचम अंग।
इसे पाल निर्मल यश पाया, सेठ 'जिनेन्द्रभक्त' सुख अंग।।

पादलिप्त नगर में एक सेठ रहता था, वह महान जिनभक्त था, सम्यक्त्व का धारक था और धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि तथा दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध था। पुण्य-प्रताप से वह बहुत वैभव-सम्पन्न था, उसका सात मंजिला महल था। वहाँ सबसे ऊपर के भाग में उसने एक अद्भुत चैत्यालय बनाया था। उसमें बहुमूल्य रत्न से बनाई हुई भगवान पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी, उसके ऊपर रत्न जड़ित तीन छत्र थे, उनमें एक नीलम रत्न बहुत ही कीमती था, जो अन्धेरे में भी जगमगाता था।

उस समय सौराष्ट्र के पाटलीपुत्र नगर का राजकुमार सुवीर कुसंगति में दुराचारी तथा चोर हो गया था। वह एक बार सेठ के जिन-मन्दिर में गया। वहाँ उसका मन ललचाया – भगवान की भक्ति के कारण नहीं, बल्कि कीमती नीलम रत्न की चोरी करने के भाव से।

उसने चोरों की सभा में घोषणा की – "जो कोई उस जिनभक्त सेठ के महल से कीमती नीलम रत्न लेकर आयेगा, उसे बड़ा इनाम मिलेगा।"

सूर्य नामक एक चोर उसके लिए तैयार हो गया, उसने कहा "अरे, इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी मैं क्षण भर में लाकर दे सकता हूँ, तो यह कौनसी बड़ी बात है ?

लेकिन, महल से उस रत्न की चोरी करना कोई सरल बात नहीं थी। वह चोर किसी भी तरह से वहाँ पहुँच नहीं पाया। इसलिए अन्त में एक त्यागी ब्रह्मचारी का कपटी वेश धारण करके वह उस सेठ के यहाँ पहुँचा। उस त्यागी बने चोर में वक्तृत्व की अच्छी कला थी। जिस किसी से वह बात करता, उसे अपनी तरफ आकर्षित कर लेता, उसी तरह व्रत-उपवास इत्यादि को दिखा-दिखा कर लोगों में उसने प्रसिद्धि भी पा ली, अतः धर्मात्मा समझ कर जिनभक्त सेठ ने स्वयं चैत्यालय की देख-रेख का काम उसे सौंप दिया।

सूर्य चोर तो उस नीलम मणि को देखते ही आनन्द विभोर हो गया.... और विचार करने लगा – "कब मौका मिले और मैं कब इसे लेकर भागूँ ?"

इन्हीं दिनों, सेठ को बाहर गाँव जाना था। इसलिए उस बनावटी ब्रह्मचारी श्रावक से चैत्यालय संभालने के बारे में कहकर सेठ बाहर गाँव चले गये। जब रात होने लगी तो गाँव से थोड़ी दूर जाकर उन्होंने पड़ाव डाला।

रात हो गई....सूर्य चोर उठा....नीलम मणि रत्न को जेब में रखा और भागने लगा, परन्तु नीलम मणि का प्रकाश छिपा नहीं, वह अन्धेरे में भी जगमगाता था। इससे चौकीदारों को शंका हुई और उसे पकड़ने के लिए वे उसके पीछे दौड़ पड़े।

'अरे.... मन्दिर के नीलम मणि की चोरी करके चोर भाग रहा है....।

पकड़ो-पकड़ो-पकड़ो।" चारों ओर सिपाहियों ने हल्ला मचाया।

इधर सूर्य चोर को भागने का कोई मार्ग नहीं रहा, इसलिए वह तो जहाँ जिनभक्त सेठ का पड़ाव था, वहीं पर घुस गया। चौकीदार चिल्लाते हुए चोर को पकड़ने के लिए पीछे से आये। सेठ सब कुछ समझ गया.... "अरे ! ये भाईसाहब चोर हैं, त्यागी नहीं।"

"लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह मनुष्य चोर है" – ऐसा लोगों में प्रसिद्ध हुआ तो लोग सच्चे धर्म और सच्चे धर्मात्माओं की निन्दा करने से भी नहीं चूकेंगे। ऐसा विचार कर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदारों को रोककर कहा – "अरे तुम लोग यह क्या कर रहे हो ? यह कोई चोर नहीं है, यह तो धर्मात्मा है। नीलम मणि लाने के लिए तो मैंने उसे कहा था, तुम गलती से इसे चोर समझकर हैरान कर रहे हो।"

सेठ की बात सुनकर सब लोग चुपचाप वापिस चले गये। इस तरह एक मूर्ख मनुष्य की भूल के कारण होने वाली धर्म की बदनामी बच गयी। इसे ही उपगूहन अंग कहते हैं। जैसे एक मैंढक के दूषित होने से सम्पूर्ण समुद्र गन्दा नहीं होता, उसी प्रकार कोई असमर्थ निर्बल मनुष्य के द्वारा छोटी-सी भूल हो जाने पर पवित्र जिनधर्म मलिन नहीं हो जाता।

जिस तरह माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो, अत: वह पुत्र में कोई छोटा-बड़ा दोष देखकर उसे प्रसिद्ध नहीं करती, परन्तु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुण की वृद्धि हो। उसी प्रकार धर्मात्मा भी धर्म में कोई अपवाद हो – ऐसा कार्य नहीं करते, परन्तु धर्म की प्रभावना हो, वही करते हैं।

यदि कभी किसी गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् दोष आ जाय तो उसे गौण करके उसके गुणों को मुख्य करते हैं और एकान्त में बुलाकर उसे प्रेम से समझाते हैं, जिससे उसका दोष दूर हो और धर्म की शोभा बढ़े।

उसी प्रकार जब सभी लोग चले गये, तब बाद में जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्य नामक चोर को एकान्त में बुलाकर उलाहना दिया और कहा – "अरे सूर्य ! ऐसा पाप कार्य तुझे शोभा नहीं देता। विचार तो कर कि तू यदि पकड़ा जाता तो तुझे कितना दु:ख भोगना पड़ता ? तथा इससे जैनधर्म की भी कितनी बदनामी होती। लोग कहते कि जैनधर्म के त्यागी ब्रह्मचारी भी चोरी करते हैं। इसलिए इस धन्धे को तू छोड़ दे।"

वह चोर भी सेठ के ऐसे उत्तम व्यवहार से प्रभावित हुआ और स्वयं के अपराध की माफी माँगते हुए उसने कहा – "सेठजी आपने ही मुझे बचाया है, आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो। लोगों के समक्ष आपने मुझे सज्जन धर्मात्मा कहकर पहचान करायी, अत: अब मैं भी चोरी छोड़कर सच्चा धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूँगा। सच में जैनधर्म महान है और आपके जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों को ही वह शोभा देता है।"

इस प्रकार उस सेठ के उपगूहन गुण से धर्म की प्रभावना हुई।

यह कहानी हमें यह सिखाती है कि साधर्मी के किसी दोष के कारण धर्म की निन्दा हो – ऐसा नहीं करना चाहिये। अपितु प्रेमपूर्वक समझाकर, उससे वह दोष छुड़वा कर, धर्मात्माओं के गुणों को मुख्य करके, उसकी प्रशंसा द्वारा धर्म की वृद्धि हो – ऐसा करना चाहिए।

22

स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री वारिषेण की कहानी

सद्दर्शन से, सदाचरण से, विचलित होते हैं जो जन।
धर्म-प्रेम वश उन्हें करें फिर, सुस्थिर देकर तन-मन-धन ।।
'स्थितिकरण' नाम यह छट्ठा, अंग धर्म द्योतक प्रियवर।
'वारिषेण' श्रेणिक का बेटा, ख्यात हुआ चलकर इस पर ।।

भगवान महावीर के समय में राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक का राज्य था। उनकी महारानी चेलनादेवी और पुत्र वारिषेण था। राजकुमार वारिषेण की अत्यन्त सुन्दर 32 रानियाँ थी। इतना होने पर भी वह वैरागी था और उसे आत्मा का ज्ञान था।

राजकुमार वारिषेण एक समय उद्यान में ध्यान कर रहे थे। उधर से ही विद्युत नामक चोर एक कीमती हार की चोरी करके भाग रहा था। उसके पीछे सिपाही लगे थे। पकड़े जाने के भय से हार को वारिषेण के पैर के पास फेंक कर वह चोर एक तरफ छिप गया। इधर राजकुमार को ही चोर समझकर राजा ने उसे फाँसी की सजा सुना दी, परन्तु जैसे ही जल्लाद ने उस पर तलवार चलाई, वैसे ही वह वारिषेण के गले में तलवार के बदले फूल की माला बन गई। ऐसा होने पर भी राजकुमार वारिषेण तो मौन ध्यान में मग्न थे।

ऐसा चमत्कार देखकर चोर को पश्चात्ताप हुआ। उसने राजा से कहा – "असली चोर तो मैं हूँ, यह राजकुमार निर्दोष हैं।"

यह बात सुनकर राजा ने राजकुमार से क्षमा माँगी और राजमहल में चलने का आग्रह किया। परन्तु इस घटना से राजकुमार वारिषेण के वैराग्य में वृद्धि हुई और दृढ़ता पूर्वक उन्होंने कहा – "पिताजी यह संसार असार है, अब बस होओ ! राज-पाट में मेरा चित्त नहीं लगता, मेरा चित्त तो एक चैतन्य स्वरूप आत्मा को साधने में ही लग रहा है। इसलिए अब तो मैं दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा।"

ऐसा कहकर वे तुरन्त ही जंगल में आचार्य भगवन्त के पास गये और उन्होंने दीक्षा ले ली.... और वे आत्मा को साधने लगे।

राज्य के मंत्री का पुत्र जिसका नाम पुष्पडाल था, बालपने से ही वारिषेण का मित्र था। उसकी

शादी अभी-अभी हुई थी। एक बार वारिषेण मुनि विहार करते-करते पुष्पडाल के गाँव पहुँचे। पुष्पडाल ने उन्हें विधिपूर्वक आहारदान दिया। इस समय अपने पूर्व के मित्र को धर्म-बोध देने की भावना उन मुनिराज को उत्पन्न हुई।

आहार के पश्चात् मुनिराज वन की ओर जाने लगे। विनय से पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ समय चलने पर पुष्पडाल के मन में विचार आया कि गाँव तो अब पीछे छूट गया है और वन भी आ गया है। मुनिराज मुझे रुकने को कहेंगे तो मैं अपने घर वापस चला जाऊँगा, परन्तु मुनि महाराज आगे बढ़े ही जा रहे थे.... मित्र को वापिस जाने को उन्होंने कहा ही नहीं।

पुष्पडाल को घर जाने की आकुलता होने लगी। उसने मुनिराज को याद दिलाने के लिए कहा – "हे महाराज ! जब हम छोटे थे, तब इस तालाब पर आते थे और आम के पेड़ के नीचे साथ-साथ खेलते थे, यह पेड़ गाँव से दो-तीन मील दूरी पर है....हम गाँव से बहुत दूर आ गये हैं।" – यह सुनकर भी वारिषेण मुनि ने उसे वापस जाने को नहीं कहा।

अहो, परम हितैषी मुनिराज मोक्ष का मार्ग छोड़कर संसार में जाने को क्यों कहेंगे ? उन्हें लग रहा था कि मेरा मित्र भी मोक्ष के मार्ग में मेरे साथ चले। मानों वे मन ही मन अपने मित्र से कह रहे हों –

हे मित्र ! चल.... मेरे साथ मोक्ष में, छोड़ परभाव को.... झूलें आनन्द में।
हमें जाना है मोक्ष में.... सुख के धाम में, चल मेरे भाई.... अब तू मैं साथ में।।

अहा ! मानों अपने पीछे-पीछे चलने वाले को मोक्ष में ही ले जा रहे हों – ऐसी परम निस्पृहता से मुनिराज तो आगे-आगे चल ही रहे थे। साथ में पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे।

अन्त में वे आचार्य महाराज के पास आ पहुँचे। वारिषेण मुनि ने उनसे कहा – "प्रभो ! यह मेरा पूर्व का मित्र है और संसार से विरक्त होकर आपके पास दीक्षा लेने आया है।"

आचार्य महाराज ने उसे निकट भव्य जानकर दीक्षा दे दी। अहा, सच्चा मित्र तो वही है, जो जीव को भव-समुद्र से बचाये।

अब, मित्र के अनुग्रहवश पुष्पडाल भी मुनि हो गये थे और बाहर में मुनि के योग्य क्रिया करने लग गये थे, परन्तु उनका चित्त अभी संसार से छूटा नहीं था। भाव-मुनिपना अभी उन्हें हुआ नहीं

था। प्रत्येक क्रिया करते समय उन्हें अपने घर की याद आती थी, सामायिक करते समय उन्हें बारम्बार नव-परणीता पत्नी का स्मरण होता रहता था।

वारिषेण मुनि उनके मन को स्थिर करने के लिए उनके साथ में ही रहकर उन्हें बारम्बार उत्तम ज्ञान-वैराग्य का उपदेश देते थे, परन्तु अभी उनका मन धर्म में स्थिर हुआ नहीं था।

ऐसा करते-करते बारह वर्ष बीत गये। एकबार वे दोनों मुनि भगवान महावीर के समवसरण में बैठे थे। वहाँ इन्द्र प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं – "हे नाथ ! यह राजभूमि अनाथ होकर आप के विरह में रो रही है और उसके आँसू नदी के रूप में बह रहे हैं।"

अहा ! इन्द्र ने तो भगवान के वैराग्य की स्तुति की, परन्तु जिसका चित्त अभी वैराग्य में पूरी तरह नहीं लगा था – ऐसे पुष्पडाल मुनि को तो यह बात सुनकर ऐसा लगा – "अरे ! मेरी पत्नी भी इस भूमि की तरह बारह वर्ष से मेरे बिना रो रही होगी और दुःखी हो रही होगी। मैंने बारह वर्ष से उसका मुँह तक नहीं देखा, मुझे भी उसके बिना चैन नहीं पड़ता। इसलिए अब तो चलकर उससे बात कर आयेंगे। थोड़े समय उसके साथ रह कर बाद में फिर से दीक्षा ले लेंगे।"

– ऐसा विचार करके पुष्पडाल तो किसी को कहे बिना ही घर की तरफ जाने लगे। वारिषेण मुनि उनकी चेष्टा समझ गये। उनके हृदय में मित्र के प्रति धर्म-वात्सल्य जागा और किसी भी तरह उनको धर्म में स्थिर करना चाहिये – ऐसा विचार करके उनके साथ चलने लगे और पहले राजमहल की ओर गये।

पूर्व मित्र सहित मुनि बने राजकुमार को महल की तरफ आते हुए देखकर चेलना रानी को आश्चर्य हुआ। अरे, क्या वारिषेण मुनिदशा का पालन नहीं कर सके, इसलिए लौटकर आ रहे हैं ? – ऐसा उन्हें सन्देह हुआ। उनकी परीक्षा के लिए उन्होंने एक लकड़ी का आसन और दूसरा सोने का आसन रख दिया, परन्तु वैरागी वारिषेण मुनि तो वैराग्यपूर्वक लकड़ी के आसन पर ही

बैठे, इससे चतुर चेलनादेवी समझ गई कि राजकुमार का मन तो वैराग्य में दृढ़ है, अतः उनके आगमन में दूसरा ही कोई हेतु होना चाहिये।

वारिषेण मुनि के आते ही उनके गृहस्थाश्रम की बत्तीस रानियाँ भी दर्शन के लिए आईं। राजमहल के अद्भुत वैभव को और अत्यन्त सुन्दर 32 रूप-यौवनाओं को देखकर पुष्पडाल को आश्चर्य हुआ, वे मन ही मन में सोचने लगे – "अरे ! ऐसा राजवैभव और ऐसी रूपवती 32 रानियाँ होने पर भी यह राजकुमार उनके सामने भी नहीं जाता, उनको छोड़ने के बाद उन्हें याद भी नहीं करता और आत्मा को ही साधने में यह अपना चित्त लगाये रखता है। वाह, धन्य है यह! और मैं तो एक साधारण स्त्री का मोह भी मन से नहीं छोड़ सका। अरे रे, बारह वर्ष का मेरा साधुपना बेकार चला गया।"

तब वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल से कहा – "हे मित्र ! अब भी यदि तुम्हें संसार का मोह हो तो तुम यहीं रह जाओ ! इस सारे वैभव को भोगो ! अनादि काल से जिस संसार के भोगने पर भी तृप्ति नहीं हुई, अब भी तुम उसे भोगना चाहते हो तो लो, यह सब तुम भोगो !"

वारिषेण की बात सुनकर पुष्पडाल मुनि अत्यन्त शर्मिंदा हुये, उनकी आँखें खुल गईं, उनका आत्मा जाग उठा।

राजमाता चेलना भी अब सब कुछ समझ गई और धर्म में स्थिर करने के लिए उन्होंने पुष्पडाल से कहा – "अहो मुनिराज ! आत्मा के धर्म को साधने का ऐसा अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए अपना चित्त मोक्षमार्ग में लगाओ। यह संसार तो अनन्तबार भोग चुके हो, उसमें किंचित् भी सुख नहीं है.... इसलिए उससे ममत्व छोड़कर मुनिधर्म में अपना चित्त स्थिर करो।" वारिषेण मुनिराज ने भी ज्ञान-वैराग्य का बहुत उपदेश दिया.... "हे मित्र, अब तुम अपने चित्त को आत्मा की आराधना में स्थिर करो और मेरे साथ मोक्षमार्ग में चलो।"

तब पुष्पडाल ने सच्चे हृदय से कहा – "प्रभो ! आपने मुझे जिनधर्म से पतित होने से बचा लिया है और सच्चा उपदेश देकर मुझे मोक्षमार्ग में स्थिर किया है। सच्चे मित्र आप ही हो। आपने धर्म में मेरा स्थितिकरण करके मुझ पर महान उपकार किया है। अब मेरा मन संसार से और इन भोगों से सच में उदासीन हो गया है और आत्मा के रत्नत्रय धर्म की आराधना में स्थिर हो गया है। स्वप्न में भी अब इस संसार की इच्छा नहीं रही, अब तो मैं भी आपकी तरह अन्तर में लीन होकर आत्मा के चैतन्य-वैभव को साधूँगा।"

इसप्रकार पश्चाताप करके पुष्पडाल फिर से मुनिधर्म में स्थिर हो गये और दोनों मुनिवर वन की तरफ चल दिये।

वारिषेण मुनिराज की यह कहानी हमें यह सिखाती है कि –

- **कोई भी साधर्मी धर्मात्मा कदाचित् शिथिल होकर धर्ममार्ग से डिगता हो तो उसका तिरस्कार नहीं करना, अपितु प्रीति पूर्वक उसे धर्ममार्ग में स्थिर करना चाहिये।**
- **उसकी सर्वप्रकार से सहायता करके, धर्म में उत्साह बढ़ाकर, जैनधर्म की परम महिमा समझाकर, वैराग्यपूर्ण सम्बोधन से उसे किसी भी प्रकार से – धर्म में स्थिर करना चाहिये।**
- **उसीप्रकार स्वयं अपने आत्मा को भी धर्म में स्थिर रखना चाहिए। चाहे जितनी भी प्रतिकूलता हो, फिर भी धर्म से थोड़ा भी डिगना नहीं चाहिये।**
- **स्थितिकरण अंग के धारक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा स्व या पर को सन्मार्ग से शिथिल होता जानकर उसका स्थितिकरण करते हैं।**
- **रत्नत्रय की साधना में अपने आत्मा को या पर के आत्मा को स्थिर करना ही वास्तव में सम्यक्त्व का स्थितिकरण अंग है।**

बहन : हे भाई ! तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, तो वे तत्त्व कितने हैं ?

भाई : तत्त्व नव हैं तथा नव तत्त्वों की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।

बहन : भाई ! उन नव तत्त्वों के नाम तो बताइये ?

भाई : जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव तत्त्व हैं।

बहन : इन नव तत्त्वों में उपादेयरूप तत्त्व कौन से हैं?

भाई : नव तत्त्वों में शुद्ध जीवतत्त्व परम उपादेय है, उसको उपादेयरूप स्वीकार करने से संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट होता है। बाकी अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बंध ये पाँच तत्त्व हेय हैं।

बहन : वाह ! आज सम्यग्दर्शन और हेय-उपादेय तत्त्वों की बहुत सरस चर्चा हुई। हमें भी गहराई से विचार कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

भाई : हाँ बहन ! इसी में **जीवन की सफलता है।**

23

वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री विष्णुकुमार की कहानी

कपटरहित हो श्रेष्ठ भाव से, यथायोग्य आदर सत्कार।
करना अपने साधर्मियों का, सप्तमांग 'वात्सल्य' विचार॥
इसे पाल कर पाई प्रसिद्धि, मुनिवर श्रीयुत 'विष्णुकुमार'।
जिनका यश शास्त्रों के भीतर, गाया निर्मल अपरम्पार॥

लाखों वर्ष पहले भगवान श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर के समय की यह कहानी है। उज्जैनी नगरी में उस समय राजा श्रीवर्मा राज्य करते थे, उनके बलि इत्यादि चार मंत्री थे। वे नास्तिक थे, उन्हें सच्चे धर्म की श्रद्धा नहीं थी।

एकबार उस उज्जैनी नगरी में सात सौ मुनियों के संघ सहित आचार्य श्री अकम्पन का आगमन हुआ। सभी नगरजन हर्ष से मुनिवरों के दर्शन करने गये। राजा की भी उनके दर्शन करने की इच्छा हुई और उन्होंने मंत्रियों को भी साथ में चलने को कहा। यद्यपि इन बलि आदि मिथ्यादृष्टि मंत्रियों की तो जैन मुनियों पर श्रद्धा नहीं थी, फिर भी राजा की आज्ञा से उन्हें भी साथ में चलना पड़ा।

राजा ने मुनिवरों को वन्दन किया, परन्तु ज्ञान-ध्यान में तल्लीन मुनिवर तो मौन ही थे। उन मुनियों की ऐसी शान्ति और निस्पृहता देखकर राजा बहुत प्रभावित हुआ, परन्तु मंत्री दुष्ट भाव से कहने लगे – "महाराज ! इन जैन मुनियों को कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए ये मौन रहने का ढोंग कर रहे हैं, क्योंकि **'मौनं मूर्खस्य लक्षणम्'**।"

इसप्रकार निन्दा करते हुए वे वापस जा रहे थे और उसी समय श्री श्रुतसागर नाम के मुनि सामने से आ रहे थे। उन्होंने मंत्रियों की बात सुन ली, उन्हें मुनिसंघ की निन्दा सहन नहीं हुई। इसलिए उन्होंने उन मंत्रियों के साथ वाद-विवाद किया। रत्नत्रय धारक श्रुतसागर मुनिराज ने अनेकान्त सिद्धान्त के न्याय से मंत्रियों की कुयुक्तियों का खण्डन करके उन्हें चुप कर दिया। दूसरों के मौन की खिल्ली उड़ाने वाले खुद मौन की साधना करने लगे।

इसप्रकार राजा की उपस्थिति में हार जाने से मंत्रियों को अपना अपमान लगा। अपमान से क्रोधित होकर वे पापी मंत्री रात्रि में मुनिराज को मारने के लिए गये; परन्तु उन्होंने ध्यान में बैठे मुनिराज के ऊपर तलवार उठाकर जैसे ही उन्हें मारने का प्रयत्न किया, वैसे ही अकस्मात् उनका हाथ खड़ा

ही रह गया। कुदरत ऐसी हिंसा देख नहीं सकी। तलवार उठाये हुए हाथ वैसे ही कीलित हो गये और उनके पैर भी जमीन के साथ ही चिपक गये।

सुबह होने पर लोगों ने यह दृश्य देखा और राजा को चारों ही मंत्रियों की दुष्टता की खबर मिली। तब राजा ने उनको गधे पर बैठा कर नगर के बाहर निकाल दिया। युद्ध कला में कुशल ऐसे वे बलि आदि मंत्री भटकते-भटकते हस्तिनापुर नगरी पहुँचे और वहाँ राज दरबार में मंत्री बन कर रहने लगे।

हस्तिनापुर भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ – इन तीन तीर्थंकरों की जन्मभूमि है। यह कहानी जिस समय घटी, उस समय हस्तिनापुर में राजा पद्मराय राज्य करते थे। उनके एक भाई मुनि हो गये थे – उनका नाम था विष्णुकुमार। वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते। उन्हें कुछ लब्धियाँ भी प्रगट हुईं थी, परन्तु उनका उन पर ध्यान नहीं था। उनका ध्यान तो आत्मा की केवलज्ञान लब्धि साधने के ऊपर था।

सिंहरथ नाम का एक राजा, इस हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और उन्हें बारम्बार परेशान करता रहता था। पद्मराय उसे अभी तक जीत नहीं सका था। अन्त में बलि मंत्री की युक्ति से पद्मराय ने उसे जीत लिया। इसलिए खुश होकर राजा ने बलि को मुँह माँगा वरदान माँगने को कहा, परन्तु बलि मंत्री ने कहा – "हे राजन् ! जब आवश्यकता पड़ेगी, तब यह वरदान माँग लूँगा।"

इधर अकम्पन आदि सात सौ मुनि भी देश-देशान्तर में विहार करते हुए और भव्यजीवों को वीतराग धर्म समझाते हुए हस्तिनापुर नगरी पहुँचे। वहाँ अकम्पन इत्यादि मुनिवरों को देखकर बलि मंत्री भय से काँप उठा। उसको डर लगा कि इन मुनियों के कारण हमारा उज्जैन का पाप

अगर प्रगट हो गया तो यहाँ का राजा भी हमारा अपमान करके हमें यहाँ से निकाल देगा। क्रोधित होकर अपने वैर का बदला लेने के लिए वे चारों मंत्री विचार करने लगे। अन्त में उन पापियों ने सभी मुनियों को जान से मारने की एक दुष्ट योजना बनाई। राजा से जो वचन माँगना बाकी था, वह उन्होंने माँग लिया।

उन्होंने कहा – "महाराज, हमें एक बहुत बड़ा यज्ञ करना है, इसलिए सात दिन के लिए आप राज्य हमें सौंप दें।"

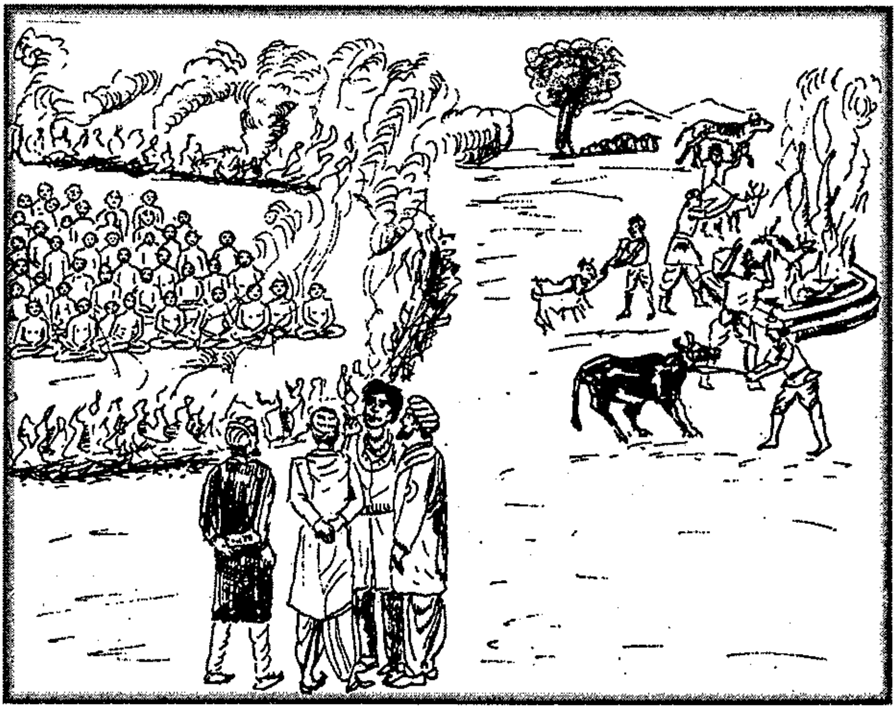

अपने वचन का पालन करके राजा ने उन्हें सात दिनों के लिये राज्य सौंप दिया और स्वयं राजमहल में जाकर रहने लगे।

बस, राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मंत्रियों ने 'बलि यज्ञ' करने की घोषणा कर दी.... और जहाँ मुनिवरों का संघ ठहरा था, वहाँ चारों ओर से हिंसा के लिए पशु और दुर्गन्धित हड्डियाँ, माँस, चमड़ी तथा लकड़ी के ढेर लगा दिये और उन्हें सुलगाने के लिए बड़ी आग जला दी। मुनियों के चारों ओर अग्नि की ज्वाला भड़की। मुनिवरों पर घोर उपसर्ग हुआ।

लेकिन ये तो थे मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि भगवन्त ! अग्नि की ज्वाला के बीच में भी वे मुनिराज तो शान्ति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान करते रहे। बाहर में भले अग्नि भड़की रही हो, परन्तु अपने अन्तर में उन्होंने क्रोधाग्नि जरा भी नहीं भड़कने दी। अग्नि की ज्वालायें धीरे-धीरे बढ़ने लगीं.... लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया। हस्तिनारपुर के जैन समुदाय को अपार चिन्ता होने लगी। मुनिवरों का उपसर्ग जब तक दूर नहीं होगा, तब तक सभी श्रावकों ने खाना-पीना त्याग दिया।

अरे, मोक्ष को साधने वाले सात सौ मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर भूमि भी मानों फट गई हो और आकाश में श्रवण नक्षत्र मानों काँप रहा हो। यह सब अन्य संघ में एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुँह से अचानक एक करुण आवाज निकली। आचार्य महाराज ने भी निमित्त-ज्ञान से जानकर कहा – "अरे ! वहाँ हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के संघ के ऊपर बलि घोर उपसर्ग कर रहा है और उन मुनिवरों का जीवन संकट में है।"

क्षुल्लकजी ने पूछा – "प्रभो, इनको बचाने का कोई उपाय है ?"

आचार्य ने कहा – "हाँ, विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रिया (ऋद्धि) प्रगट हुई है, जिससे वे अपने शरीर का आकार जितना छोटा या बड़ा करना चाहें, उतना कर सकते हैं; परन्तु वे तो अपनी आत्म-साधना में ऐसे लीन हैं कि उन्हें अपनी लब्धि की भी खबर नहीं और मुनियों के ऊपर आये हुए उपसर्ग की भी खबर नहीं।"

यह सुनकर क्षुल्लकजी के मन में उपसर्ग दूर करने हेतु विष्णुकुमार मुनिजी की सहायता लेने की बात आई। आचार्य श्री की आज्ञा लेकर वे क्षुल्लकजी तुरन्त ही विष्णुकुमार मुनि के पास आये और उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त बताकर प्रार्थना की – "हे नाथ ! आप विक्रियालब्धि से यह उपसर्ग तुरन्त दूर करें।"

यह बात सुनते विष्णुकुमार मुनि के अन्तरंग में सात सौ मुनियों के प्रति परम वात्सल्य उमड़ आया। विक्रियालब्धि को प्रामाणिक करने के लिए उन्होंने अपना हाथ लम्बा किया तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त सम्पूर्ण मनुष्य लोक में वह लम्बा हो गया। वे तुरन्त हस्तिनापुर आ पहुँचे और अपने भाई को – जो हस्तिनापुर के राजा थे, उनसे कहा – "अरे भाई ! तेरे राज्य में यह कैसा अनर्थ ?"

पद्मराय ने कहा – "प्रभो ! मैं लाचार हूँ, अभी राजसत्ता मेरे हाथ में नहीं है।"

उनसे सम्पूर्ण बात जानकर विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा हेतु अपना मुनिपना थोड़ी देर के लिए छोड़कर, एक बौने ब्राह्मण पण्डित का रूप धारण किया और बलि राजा के पास जाकर अत्यन्त मधुर स्वर में उत्तमोत्तम श्लोक बोलने लगे।

बलि राजा उस वामन पण्डित का दिव्य रूप देखकर और मधुर वाणी सुनकर मुग्ध हो गया।

"आपने पधार कर यज्ञ की शोभा बढ़ाई।" – ऐसा कहकर बलि राजा ने पण्डित का सम्मान किया और इच्छित वर माँगने को कहा।

अहो, अयाचक मुनिराज ! जगत के नाथ !!.... वे आज स्वयं सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिए याचक बने ! ऐसा है धर्म वात्सल्य !!

मूर्ख राजा को कहाँ मालूम था कि जिन्हें मैं याचना करने के लिए कह रहा हूँ, वे ही हमारे अर्थात् धर्म के दातार हैं और हिंसा के घोर पाप से मेरा उद्धार करने वाले हैं।

उन ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार ने राजा से वचनानुसार तीन पग जमीन माँगी। राजा ने खुशी से वह जमीन नाप कर लेने को कहा। बस हो गया विष्णुकुमार का काम।

विष्णुकुमार ने विराट रूप धारण किया। विष्णुकुमार का यह विराट रूप देखकर राजा तो चकित हो गया। उसे समझ ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा है।

विराट स्वरूप विष्णुकुमार ने एक पग सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रख कर बलि राजा से कहा – "बोल, अब तीसरा पग कहाँ रखूँ ? तीसरा पग रखने की जगह दे, नहीं तो तेरे सिर पर पग रखकर तुझे पाताल में उतार दूँगा।"

मुनिराज की ऐसी विक्रिया होने से चारों ओर खलबली मच गई, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानों काँप उठा। देवों और मनुष्यों ने आकर श्री विष्णुकुमार की स्तुति की और विक्रिया समेटने के लिए प्रार्थना की। बलि राजा आदि चारों विष्णुकुमारजी मुनिराज के पैरों में गिरकर गिड़गिड़ाने लगे "प्रभो ! क्षमा करो ! हमने आपको पहचाना नहीं।"

श्री विष्णुकुमार ने क्षमाभाव पूर्वक उन्हें अहिंसा धर्म का स्वरूप समझाया तथा जैन मुनियों की वीतरागी क्षमा बताकर उसकी महिमा समझायी और आत्मा के हित का परम उपदेश दिया। उसे सुनकर उनका हृदय परिवर्तन हुआ और अपने पाप की क्षमा माँग कर उन्होंने आत्मा के हित का मार्ग अंगीकार किया।

अहा ! विष्णुकुमार की विक्रियालब्धि बलि आदि की धर्म-प्राप्ति का कारण बन गई। उन जीवों का परिणाम उस क्षण में पलट गया।

"अरे, ऐसे शान्त वीतरागी मुनियों के ऊपर हमने इतना घोर उपसर्ग किया। धिक्कार है हमें" – ऐसे पश्चाताप पूर्वक उन्होंने जैनधर्म धारण किया।

इसप्रकार विष्णुकुमार ने साधर्मी वात्सल्य पूर्वक सात सौ मुनियों की रक्षा की।

चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार गूँज उठी। तत्काल हिंसक यज्ञ बन्द हो गया और मुनिवरों का उपसर्ग दूर हुआ। हजारों श्रावक परमभक्ति से सात सौ मुनिवरों की वैयावृत्य करने लगे,

विष्णुकुमार ने भी स्वयं वहाँ जाकर मुनिवरों की वैयावृत्य की और मुनिवरों ने भी विष्णुकुमार के वात्सल्य की प्रशंसा की। वात्सल्य का यह दृश्य अद्‌भुत था।

बलि आदि मंत्रियों ने मुनियों के पास जाकर क्षमा माँगी और भक्ति से उनकी सेवा की।

उपसर्ग दूर होने पर मुनिसंघ आहार के लिए हस्तिनापुर नगरी में पहुँचा। हजारों श्रावकों ने अतिशय भक्तिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया, उसके बाद उन श्रावकों ने स्वयं भोजन किया। देखो, श्रावकों का भी कितना धर्म प्रेम ! धन्य हैं वे श्रावक !.... और धन्य हैं वे साधु !!

जिस दिन यह घटना घटी, उस दिन श्रावण सुदी पूर्णिमा का दिन था। विष्णुकुमार द्वारा महान वात्सल्य पूर्वक सात सौ मुनियों की तथा धर्म की रक्षा हुई, अत: वह दिन रक्षा पर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आज भी यह दिवस रक्षाबन्धन पर्व के नाम से मनाया जाता है।

मुनियों पर आया उपसर्ग दूर होने पर विष्णुकुमार ने वामन पण्डित का वेष छोड़कर फिर से मुनि-दीक्षा लेकर मुनिधर्म धारण किया और अपने आत्मा को शुद्ध रत्नत्रय धर्म के साथ अभेद ध्यान से ऐसा वात्सल्य प्रगट किया कि उन्होंने अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पाया।

श्री विष्णुकुमार मुनिराज की यह कहानी हमें यह सिखाती है कि धर्मात्मा साधर्मी जनों को अपना समझ कर उनके प्रति अत्यन्त प्रीति पूर्वक वात्सल्य रखना चाहिये, उनके प्रति आदर-सम्मान पूर्वक हर प्रकार की मदद करनी चाहिये और उनके ऊपर कोई संकट आये तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका निवारण करना चाहिये। इसप्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यन्त प्रीति सहित आचरण करना चाहिये। जिसे धर्म की प्रीति होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति प्रीति होती ही है। सच्चे आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि अन्य धर्मात्मा के ऊपर आये संकट को देख नहीं सकते।

संसारी जीवों की जैसी प्रीति अपने स्त्री-पुत्र-धनादि में होती है, वैसी प्रीति धर्म-धर्मात्मा एवं धर्मायतनों में होना ही 'धर्म वात्सल्य' है। ऐसा यथार्थ धर्म वात्सल्य सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है। मुनिराज विष्णुकुमार की भी इसी कारण प्रशंसा की गई है।

इसप्रकार श्रावण की पूर्णिमा के दिन मुनियों पर आया उपसर्ग दूर हुआ, जिससे मुनियों की रक्षा हुई। उसी दिन से यह दिन 'रक्षाबन्धन' के नाम से चल पड़ा। **वास्तव में कर्मों से न बँधकर स्वरूप की रक्षा करना ही सच्चा 'रक्षा-बन्धन' है।**

24

प्रभावना अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री वज्रकुमार की कहानी

जैसे होवे वैसे भाई, दूर हटा जग का अज्ञान।
कर प्रकाश, करदे विनाश तम, फैलादे शुचि सच्चा ज्ञान॥
तन-मन-धन सर्वस्व भले ही, तेरा इसमें लग जावे।
'वज्रकुमार मुनीन्द्र' सदृश तू, तब 'प्रभावना' कर पावे॥

अहिछत्रपुर राज्य में सोमदत्त नामक एक मंत्री था। उसकी गर्भवती पत्नी को आम खाने की इच्छा हुई। उस समय आम पकने का मौसम नहीं था, फिर भी मंत्री ने वन में जाकर आम ढूँढा तो एक पेड़ पर एक पका हुआ आम लगा दिखाई दिया, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस आम्रवृक्ष के नीचे एक वीतरागी मुनिराज को ध्यानस्थ बैठे देखकर सोचा कि शायद, इन्हीं के प्रभाव से इस पेड़ पर आम पक गया।

मंत्री भक्तिपूर्वक नमस्कार करके मुनि महाराज के सामने विनय पूर्वक हाथ जोड़कर बैठ गया। तब मुनि महाराज ने उस मंत्री को निकटभव्य जानकर धर्म का स्वरूप समझाया। उसी समय अत्यन्त वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर मंत्री दीक्षा लेकर मुनि हो गये और वन में जाकर आत्म-साधना करने लगे।

उस सोमदत्त मंत्री की पत्नी यज्ञदत्ता ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया।

वह पुत्र को लेकर मुनिराज (सोमदत्त) के पास आई, परन्तु संसार से विरक्त मुनि महाराज ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। इससे क्रोधित होकर वह स्त्री बोली – "अगर साधु होना था तो मुझसे शादी क्यों की, मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा,

अब इस पुत्र का पालन-पोषण कौन करेगा ?'' – ऐसा कहकर वह उस बालक को वहीं छोड़कर चली गई।

बस, उसी समय दिवाकर नाम के एक विद्याधर राजा मुनि महाराज के दर्शनार्थ वहाँ आये और उन्होंने गुफा के बाहर उस अत्यन्त तेजस्वी सुन्दर बालक को पड़ा हुआ देखा। विद्याधर राजा की रानी ने उस बालक को एकदम उठा लिया और बड़े प्यार से उसे वे अपने साथ ले गये। अब उस बालक का पुत्र जैसा पालन-पोषण विद्याधर राजा के यहाँ होने लगा।

''अरे ! पुण्य-पाप की दशा विचित्र है। क्षणभर में वह नवजात शिशु कहाँ से कहाँ पहुँच गया। जिसे उत्पन्न होते ही मुनिराज के चरणों की शरण मिली हो, उसके धन्य भाग्य का क्या कहना ! पुण्य उदय से समस्त अनुकूल संयोग स्वयमेव मिल जाते हैं।''

बालक के हाथ में वज्र का चिह्न देखकर उसका नाम 'वज्रकुमार' रख दिया। बालक रूप, सौन्दर्य और गुणों में दिनोंदिन चन्द्रमा की कलाओं की तरह वृद्धिंगत होने लगा। वह अपनी बाल सुलभ क्रीड़ाओं के द्वारा सबको आनन्दित करने लगा।

वह थोड़े ही दिनों में शास्त्र पारंगत एवं अनेक विद्याओं में प्रवीण हो गया। उसकी प्रतिभाशाली बुद्धि देखकर सब आश्चर्य करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार हीमन्त पर्वत पर जब प्रकृति की शोभा देख रहे थे, तब उन्होंने वहाँ पर एक विद्याधर पुत्री पवनवेगा को विद्या साधते हुए देखा; परन्तु उसकी आँख में एक तृण चले जाने से उसका चित्त चंचल हो गया, जिससे उसे विद्या साधने में बड़ा विघ्न हुआ। वज्रकुमार ने उसे ध्यान से विचलित होते देख उसकी आँख से तिनका निकाल दिया। तब पवनवेगा ने निर्विघ्न होते ही शीघ्र विद्या सिद्ध कर ली।

विद्या सिद्ध होने पर पवनवेगा कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए वज्रकुमार के पास आयी और बोली – ''आप ने जो मेरा उपकार किया है उसका बदला मैं कैसे चुका सकती हूँ ? पर यह जीवन आपके लिये समर्पण कर आपके चरणों की दासी बनना चाहती हूँ, मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिये।''

वज्रकुमार ने उसके प्रेमोपहार को स्वीकार कर लिया। शुभ अवसर पर दोनों का विवाह हो गया। दोनों आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार को ज्ञात हुआ कि मेरे पिता का राज्य हमारे चाचा ने छीन लिया है और

उन्हें देश से निकाल दिया है जिससे वे अपनी बहिन के यहाँ रह रहे हैं, इस बात पर उसे बहुत क्रोध आया। पिता के अनेक प्रकार समझाने पर भी वह कुछ सेना और पत्नी की विद्याएँ साथ लेकर उसी समय अमरावती पर जा चढ़ा। पुरसुन्दर को इस चढ़ाई का आभास न होने से, बात ही बात में वज्रकुमार ने उन्हें हराकर बाँध लिया। अतः राज्य सिंहासन पुनः दिवाकर देव के अधिकार में आ गया। इस वीरता के कारण वज्रकुमार की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। बड़े-बड़े शूरवीर उसके नाम से डरने लगे।

इसी समय दिवाकर देव की स्त्री के भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसे तभी से इस बात की चिन्ता हो गई कि वज्रकुमार के होते मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा ? पुत्र को राज्य मिलने में यही एक काँटा है। इसे किस तरह निकाला जाय ? इसप्रकार उसके चित्त में वज्रकुमार के प्रति परायापन भासित होने लगा। इसलिए एक दिन उसने पड़ोसन से कहा कि "यह वज्रकुमार बड़ा दुष्ट है। देखो ! कहाँ तो यह उत्पन्न हुआ और कहाँ आकर हमें दुःख दे रहा है।" – वज्रकुमार ने अपनी माता के मुख से यह कहते हुए सुन लिया।

ऐसा सुनते ही उसके हृदय पर वज्रपात हो गया। उसका हृदय जलने लगा। वह सत्य बात जानने के लिये उसी समय पिता के पास पहुँचा और पूछने लगा – "पिताजी ! आप सत्य बतलाइये कि मैं किसका पुत्र हूँ ? कहाँ उत्पन्न हुआ हूँ और यहाँ कैसे आया ? मैं यह जानता हूँ कि मेरे सच्चे माता-पिता तो आप ही हैं, क्योंकि आप ने ही मेरा पालन-पोषण किया है, तो भी मुझे यथार्थ बात जानने की तीव्र जिज्ञासा है।

वज्रकुमार के अधिक आग्रह करने पर दिवाकर देव ने उसको सम्पूर्ण वृत्तान्त बतला दिया। वज्रकुमार अपना वृत्तान्त सुनकर संसार से विरक्त हो गया। पिंजड़े के पंछी की तरह उसका मन संसार से मुक्त होने के लिये तड़फने लगा। वह विचारने लगा – "**समस्त पापों का मूल यह आरम्भ परिग्रह ही है। इसी से समस्त दुर्ध्यान होते हैं। जीव समस्त अनीति परिग्रह की ममता के कारण ही करता है। परिग्रह की वांछा से हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील सेवन करता है। परिग्रह के प्रभाव से महा अभिमान करता है। परिग्रह के कारण मर जाता है, अन्य को मार देता है। नरकादि गतियों के दुखों का मूल कारण परिग्रह के प्रति मूर्छा का परिणाम ही है। जो समस्त पापों से छूटना चाहता है वह परिग्रह के प्रति विरक्त होता है। जिसके अन्तरंग में मिथ्यात्व परिग्रह का अभाव हो जाता है, उसके बाह्य परिग्रह में ममता नहीं होती।**

बाह्य परिग्रह रहित दरिद्री तो स्वभाव से ही होता है, परन्तु अभ्यन्तर ममता छोड़ने को कोई समर्थ नहीं। इसलिये मूर्छा अर्थात् ममत्व परिणाम ही वास्तव में परिग्रह है। हे आत्मन् ! समस्त संसार का मूल इस अंतरंग-बहिरंग परिग्रह को छोड़कर शीघ्र निर्ग्रन्थ दिगम्बरी दीक्षा धारण करो। मुनिधर्म रूपी नौका का अवलम्बन लिये बिना जीव संसार सागर से तिर नहीं सकता।''

ऐसा विचार कर वज्रकुमार ने माता-पिता से मुनि दीक्षा धारण करने की आज्ञा माँगी। उन्होंने बहुत समझाया पर वह तो वज्र की तरह निर्णय कर चुका था। स्वार्थ भरे संसार से उनका मन विरक्त हो गया था। उन्होंने अपने पिता मुनिराज सोमदत्त के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली पुनः दूसरी बार भी पिता के चरणों की शरण ही मिली। उग्र तपश्चरण के द्वारा उन्हें चारण ऋद्धि प्रगट हो गई। अहो ! धन्य पुरुषों के द्वारा ही ऐसा उग्र पुरुषार्थरूप आत्मकल्याण का मार्ग अंगीकार किया जाता है।

अनादिकाल से जीव सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्रकाशित धर्म को नहीं जानता। इसलिये ऐसा ज्ञान नहीं कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैंने यहाँ जन्म नहीं लिया था, तब कैसा था ? यहाँ मुझे किसने उपजाया ? अब रात्रि दिवस आयु व्यतीत हो रही है अतः मुझे क्या प्रयोजन सिद्ध करना है ? मेरा हित क्या है ? मुझे आराधने योग्य क्या है ? इस पर्याय का क्या कर्तव्य है ? मरण का, जीवन का, भक्ष्य-अभक्ष्य का स्वरूप क्या है ? देव-गुरु-धर्म का स्वरूप क्या है ? जीवों के नाना प्रकार के सुख-दुख कैसे हैं ? इत्यादिक विचार रहित हो – यह जीव मोहकर्मकृत अन्धकार से आच्छादित हो रहे हैं। उनके अज्ञानरूप अन्धकार को स्याद्वाद रूप परमागम के प्रकाश से **स्वरूप-पररूप का प्रकाश करना यही सच्ची धर्म प्रभावना है। ज्ञानी जीव इसी प्रकार की धर्म प्रभावना करते हैं।** इसी के साथ उनके निमित से बाह्य में भी अनेक प्रकार से धर्म प्रभावना होती है, जिसे देखकर अनेकों भव्यात्माएँ आत्मकल्याण के कार्य में लगती हैं – ऐसी ही एक प्रभावना का अवसर मथुरा नगरी में बना, जिसका वृत्तान्त इसप्रकार है –

उस समय दक्षिण मथुरा में पूतवाहन राजा राज्य करता था। उसकी पट्टरानी उर्मिला सम्यक्त्व रत्न से सुशोभित थी। वह निरन्तर अनेक प्रकार से जिनधर्म की प्रभावना करती रहती थी। साधर्मियों के साथ स्नेह, उनके कष्ट दूर करना, धर्म का उद्योत करना, पथभ्रष्ट अज्ञानी जीवों को सन्मार्ग पर लगाना, शास्त्रादि पढ़ना पढ़ाना, शास्त्रदान करना, रथादिक महोत्सव करना इत्यादिक अनेक प्रकार से वह धर्म की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्न करती रहती थी।

इसी नगरी में समुद्रदत्त नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनदत्ता था। समय पाकर धनदत्ता के गर्भ रहा। थोड़े ही दिनों में उसकी सारी सम्पत्ति विलीन हो गयी। अशुभ कर्मोदय से हथेली पर रखा सोना भी कोटि यत्न करने पर भी राख हो जाता है।

"अरे ! इस चंचल सम्पदा पर मद और भरोसा करने जैसा नहीं है। यह तो क्षण में विद्युत के समान चमक कर विलीन हो जाती है।"

जब धनदत्ता के पुत्री का जन्म हुआ तो पिता को महान कष्ट हुआ पुत्री की उत्पत्ति के तीसरे दिन वह संसार से चल बसा। पति की मृत्यु के छह महीने उपरान्त अशुभ कर्मोदय से धनदत्ता की भी मृत्यु हो गई। अहो ! संसार के क्षणभंगुर संयोगों का भरोसा नहीं।

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग। आयुष्य वह तो जल की तरंग॥
पुरन्दरी चाप, अनंग रंग। क्या राचिये जहाँ क्षण का प्रसंग ?

माता-पिता की मृत्यु के बाद वह बालिका दर-दर की भिखारिणी बन गई। गलियों में पड़े जूठे अन्न के दाने चुन-चुनकर खाने लगी।

जिनागम के ज्ञाता, पापरूपी वन को जलाने वाले, सुमेरु पर्वत के समान धैर्यशाली, देहमात्र ही जिनके परिग्रह था ऐसे अभिनन्दन और नन्दन नाम के दो मुनि चर्या करते हुए उसी रास्ते से जा रहे थे। उनकी दृष्टि उस कन्या पर पड़ी। उन्होंने निमित्तज्ञान से जानकर कहा – "अहो ! संसार की स्थिति विचित्र है। देखो ! यही कन्या अभी जो जूठन खा-खा कर उदर भर रही है, भविष्य में राजा पूतवाहन की पटरानी होगी।"

मुनिराजों के इन वचनों को एक बौद्ध धर्मानुयायी ने सुन लिया। उसने सोचा जैन ऋषियों के वचन अन्यथा नहीं होते। अतः इस कन्या का पालन करना चाहिये। इसे बौद्ध धर्म की शिक्षा देना चाहिये, इसके कारण अपनी भी उन्नति हो सकती है। ऐसा विचार कर वह उस कन्या को घर ले गया और उसका नाम बुद्धदासी रख दिया। युवावस्था आने पर उसने रति से बढ़कर सौन्दर्य प्राप्त किया।

अपने अप्सराओं के तुल्य सौन्दर्य से जगत को मोहित करती हुई एक दिन वह बगीचे में झूल रही थी। तथा वहाँ से राजा पूतवाहन की सवारी निकल रही थी। राजा उसके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया। पश्चात् राजा के कहने मात्र से उसका विवाह राजा के साथ हो गया।

अहो ! एक सेठ की कन्या कर्मोदय से क्षण में भिखारिणी से क्षण भर में महारानी बन गई।

राजा उसके भोग में सब कुछ भूल गया तथा अन्य रानियों से एवं राजपाट से भी विमुख हो गया।

हमेशा की तरह फाल्गुन मास में अष्टाह्निका महापर्व आया। रानी उर्मिला ने आठ दिन तक चार प्रकार के दान पूर्वक व्रतोपवास किया। पूर्णमासी के दिन भगवान के रथ-विहार करने का विशाल आयोजन रखा गया, परन्तु राजा बुद्धदासी के आधीन था, अतः उसके कहने के अनुसार नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया गया कि पहले बुद्ध का रथ निकलेगा और उनकी ही धूमधाम से पूजा की जायेगी। पीछे जैन रथ जायेगा और उसकी पूजा भी पीछे ही की जायेगी। राजाज्ञा के अनुसार बुद्ध का रथ निकलने की समस्त तैयारी हो गई।

उर्मिला रानी विचार में पड़ गई कि जिनेन्द्र भगवान की सवारी पीछे निकले, यह तो धर्म का अपमान है। इससे तो जिनधर्म की अप्रभावना होगी। अतः उसने तबतक के लिये अन्न जल का त्याग कर दिया, जब तक जैनरथ पहले नहीं निकल जाता तथा राजा से कुछ कहना उसने उचित न समझा और वह सोच विचार कर आचार्य सोमदत्त के पास गई। अपने धर्म के अपमान की सम्पूर्ण बात उन्हें बता दी। "धर्म का अपमान सहन करने की सामर्थ्य मेरे में नहीं है, अतः मेरा अन्न-जल का त्याग है। हे भगवन् ! इस समय आप ही धर्मरक्षा का उपाय बतायें।"

आचार्य सोमदत्त ने मुनिराज वज्रकुमार को यह कार्य करने की आज्ञा दी।

अपने आचार्य महाराज की आज्ञा तथा रानी की बात सुनकर वज्रकुमार मुनिराज के अन्तर में शुभराग के तीव्र उदय से ऐसा भाव आया कि अरे ! यह अहिंसा दया-प्रधान जैनधर्म अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप को अपनी स्याद्वाद शैली में प्राणीमात्र के लिए हितकारी है। – इसे तो विश्वधर्म होना चाहिए। कोई इसका विरोध करे – यह शोभा नहीं देता। अतः मुझे आचार्य श्री की

आज्ञानुसार धर्म-प्रभावना में अपना योगदान देना चाहिए। जिनधर्म की महान प्रभावना होने का अवसर आ चुका था, शायद इसीलिए उसी समय विद्याधर राजा दिवाकर अपने विद्याधरों सहित वहाँ मुनियों के दर्शन-वन्दन करने आये।

वज्रकुमार मुनि ने कहा – "राजन् ! आप जैनधर्म के परम भक्त हैं और मथुरा नगरी में धर्म के ऊपर संकट आया है, वह दूर करने में आप समर्थ हैं। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है, तन से, मन से, धन से, शास्त्र से, ज्ञान से, विद्या से, सर्व प्रकार से वे जिनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं का कष्ट निवारण करते हैं।"

दिवाकर राजा को धर्म का प्रेम तो था ही, मुनिराज के उपदेश से उसे और भी प्रेरणा मिली। मुनिराज को नमस्कार करके तुरन्त ही उर्मिला रानी के साथ सभी विद्याधर मथुरा नगरी आ पहुँचे। पश्चात् उन विद्याधरों ने ही जिनेन्द्र रथयात्रा निकालने की धूमधाम से व्यवस्था की। जब जिनेन्द्र भगवान का रथ निकला तो चारों ओर विमान लिये विद्याधर उपस्थित थे, मानों देवलोग ही रथोत्सव मनाने आये हों। आकाश से पुष्पवृष्टि हो रही थी। ध्वजाएँ आकाश को छू रही थीं। भेरी, दुन्दुभी, घंटा आदि अनेक वाद्य मधुर स्वर में बज रहे थे। नगरवासी सर्वत्र जिनधर्म की जय-जयकार कर रहे थे। ऐसा लगता था मानों इन्द्र ही देवों सहित भगवान का कल्याणक मनाने आये हों। – इसप्रकार जिनधर्म की प्रभावना और आश्चर्य देखकर राजा और बुद्धदासी ने भी हजारों नर-नारियों सहित जैनधर्म स्वीकार कर लिया और मुनिराज वज्रकुमार की वन्दना की।

उस दिन से नगर में अकेला जिनेन्द्र भगवान का ही रथ धूमधाम से निकलने लगा। इस प्रकार सर्वत्र जिनधर्म की प्रभावना हुई। धर्मप्रभावना होती देखकर उर्मिला बहुत प्रसन्न हुई और उसने बारम्बार मुनिराज की स्तुति और वन्दना की। सब ने उर्मिला का बहुत सम्मान किया। उस दिन से राजा भी उर्मिला की बात मानने लगा।

उर्मिला रानी ने उन्हें जिनधर्म के वीतरागी देव-गुरु की अपार महिमा समझायी। मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान धर्मप्रभावना देखकर आनन्दित हुए और बहुमान पूर्वक जिनधर्म की उपासना करने लगे। इसप्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्मिला रानी द्वारा जिनधर्म की महान प्रभावना हुई।

वज्रकुमार मुनिराज की यह कहानी हमें जिनधर्म की सेवा और अत्यन्त महिमा पूर्वक उसकी प्रभावना करने की शिक्षा देती है। अतः हमें भी तन-मन-धन से, ज्ञान से, श्रद्धा से, धर्म पर आये हुए संकट का निवारण करके धर्म की प्रभावना करना चाहिये।

25

देखो, एक प्रतिज्ञा का फल

पोदनपुर में महाबल नामक राजा और उसका बल नामक पुत्र रहता था। राजकुमार बल दुष्ट-पापी था और माँस-भक्षण करता था। उस राज्य में यमपाल चाण्डाल गुनहगारों को फाँसी देने का काम करता था।

वहाँ, एक बार अष्टाह्निका महापर्व के पवित्र दिनों में राजा ने आज्ञा की – "अष्टाह्निका महापर्व के ये आठ दिन महा मंगल हैं, उनमें सभी लोग धर्म की यथाशक्ति आराधना करें और इन आठ दिनों में किसी भी जीव की हिंसा नहीं करें।"

इसके बाद भी राजा की आज्ञा को भंग करके, उस पापी राजकुमार बल ने बाग में भेड़ को मार कर उसका माँस खाया, परन्तु माली ने उसे देख लिया और उसने राजा को यह बात कह दी। राजा को अत्यन्त क्रोध आया और उसने ऐसी जीव हिंसा करने वाले तथा राजा की आज्ञा को भंग करने वाले राजकुमार को फाँसी देने का आदेश दिया।

तब राजकुमार को फाँसी देने के लिए सिपाही यमपाल चाण्डाल को बुलाने गये।

यमपाल ने उन्हें दूर से ही आता देखकर अपनी पत्नी से कहा – "राजा के सिपाही बुलाने आयें तो उनसे कह देना कि मैं घर में नहीं हूँ, बाहर गाँव गया हूँ।" – ऐसा कहकर वह घर में ही छिप गया।

यमपाल घर में क्यों छिप गया ? क्या वह सिपाहियों से डरता था, नहीं। उसके छिपने का कारण यह नहीं था, बल्कि वह आज चतुर्दशी के दिन किसी की भी हिंसा नहीं करना चाहता था; क्योंकि उसके आज के दिन हिंसा करने का त्याग था।

सिपाही आये और यमपाल को आवाज लगाई। उसकी पत्नी ने जवाब दिया – "वह बाहर गाँव गया है, घर में नहीं है।"

सिपाहियों ने खेद प्रगट करते हुए कहा – "अरे रे ! पुण्यहीन यमपाल, आज ही बाहर गाँव चला गया। अगर वह हाजिर होता तो राजकुमार को मारने से उसे कितना सोना और कितने हीरे-जवाहरात के आभूषण मिलते। अब तो उन्हें कोई दूसरा ही ले जायेगा।"

सिपाहियों की यह बात सुनकर चाण्डाल की पत्नी को उन आभूषणों का लोभ जागा, उससे रहा नहीं गया, उसने हाथ से इशारा करके – "यमपाल घर में ही छुपा है" – ऐसा सिपाहियों को बता दिया।

सिपाहियों को क्रोध आया और वे यमपाल को पकड़ कर उसे जबरदस्ती वध स्थान पर ले गये और कहा – "तू इस राजकुमार को मार और उसके आभूषणों को ले जा।" – ऐसी राजा की आज्ञा है।

यमपाल ने कहा – "आज मैं उसे नहीं मारूँगा।"

अनपढ़ सिपाही यमपाल की भावना समझ नहीं सके और उसे जोर से धमका कर कहा – "यह राजकुमार गुनहगार है और राजा की आज्ञा है, इसलिए तू इसे मार। यदि राजा की आज्ञा नहीं मानेगा तो तू भी उसके साथ मरेगा।"

यमपाल ने निर्भयता से उत्तर दिया – "चाहे जो हो जाये, परन्तु आज मैं राजकुमार को नहीं मारूँगा।" – यह सुनकर सिपाही उस यमपाल को पकड़ कर राजा के पास ले गये और कहा – "महाराज ! यह चाण्डाल राजकुमार को आपका पुत्र समझ कर फाँसी देने से इंकार कर रहा है और राजाज्ञा को भंग कर रहा है।"

राजा ने पूछा – "तू राजपुत्र को मारता क्यों नहीं है ? यह मेरी आज्ञा है और तेरा तो फाँसी देने का धंधा है। इसके अलावा आज राजकुमार को फाँसी देने पर लाखों की कीमत के आभूषणों का तुझे लाभ होने वाला है। ऐसा होने पर भी तू आज क्यों मेरी आज्ञा का उलंघन कर रहा है?"

चाण्डाल ने विनय पूर्वक कहा – "महाराज ! मेरी बात सुनिये ! आज चतुर्दशी है और मैं आज के दिन किसी भी जीव का घात नहीं करूँगा – ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है। प्राण भले ही चले जायें, फिर भी मैं अपनी प्रतिज्ञा का पालन करूँगा, इसलिए आज मैं किसी जीव का घात नहीं करूँगा। तथा हे महाराज ! आज तो अष्टाह्निका महापर्व की चतुर्दशी का महान दिवस है, तब मैं हिंसा का पाप क्यों करूँ ?"

अब राजा का कुतूहल जाग उठा, उन्होंने चाण्डाल से एक साथ अनेक प्रश्न पूछे – "तूने चतुर्दशी के दिन किसी भी जीव को नहीं मारने की प्रतिज्ञा किस कारण ली, कब ली, किससे ली?"

यमपाल ने कहा – "महाराज ! इसके पीछे मेरी एक छोटी-सी कहानी है, आपकी इजाजत

हो तो, उसे सुनाऊँ ? उसने राजा की इजाजत मिलने पर कहा – एक बार मुझे एक भयंकर साँप ने काटा और उसके जहर से मैं मूर्छित हो गया, परन्तु मेरे स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बी जनों ने तो मुझे मरा हुआ समझ कर श्मशान में फेंक दिया। दैवयोग से वहाँ सर्वोषधि ऋद्धि के धारक एक मुनिराज आये और उनके शरीर से स्पर्शित हवा मेरे शरीर को लगते ही, शुभ कर्म के उदय से मेरी मूर्च्छा दूर हो गई। मेरा जहर उतर गया और मैं मरा नहीं, तत्काल उठकर खड़ा हो गया।

अहो, उन मुनिराज की वीतरागता और उनके प्रभाव की क्या बात ? बस ! उसी समय उन परम-उपकारी मुनिराज के पास मैंने व्रत लिया कि चतुर्दशी के दिन मैं किसी भी जीव की हिंसा नहीं करूँगा।

इसलिए हे राजन् ! इस पर्व के दिन मैं अपने सर्व पापों का नाश करने के लिए किसी भी जीव को नुकसान नहीं पहुँचाता। अब आप जो सही समझें, वह करें।" – इसप्रकार यमपाल ने अपने व्रत की बात कही, परन्तु राजा को यमपाल की बात पर विश्वास नहीं हुआ, उन्हें ऐसा लगा – "ऐसा उत्तम अहिंसा व्रत इस अस्पृश्य चाण्डाल से कैसे होगा ?" ऐसा विचार करके उन्होंने कोतवाल को आदेश दिया – "यह राजकुमार और चाण्डाल दोनों की मिली-भगत है, दोनों दुष्ट हैं; अतः इन दोनों को रस्सी से बाँध कर मगरमच्छ से भरे हुए भयंकर सरोवर में फेंक दो।"

"राजा की यह बात सुनकर भी यमपाल अपने व्रत में दृढ़ रहा। उसने ठान लिया कि प्राण चले जायें तो भी व्रत का भंग नहीं करूँगा।"

इसप्रकार मरण का भय छोड़कर निर्भय सिंह की तरह वह व्रत में दृढ़ रहा और उत्तम भावना भाने लगा.... वीतरागी अहिंसा की तरफ उसका परिणाम और अधिक उल्लसित होने लगा।

अहो ! अहिंसा का एक अंश भी जिसे अच्छा लगता है और जो प्राणान्त होने तक भी उसका पालन करता है, उसे अव्यक्तपने पूर्ण अहिंसा रूप वीतराग भाव अच्छा लगता है और उसकी सच्ची श्रद्धा का बीज यहीं से प्रस्फुटित होता है। इसप्रकार आंशिक अहिंसा के पालन करने में भी यमपाल की जो श्रद्धा थी, इसी श्रद्धा की दृढ़ता के कारण वह पूर्ण अहिंसा के पालन करने की तरफ बढ़ सका, इसलिए शास्त्रों में भी उसकी चर्चा की गई।

इधर कोतवाल ने राजा की आज्ञा के अनुसार दोनों को बाँध कर सरोवर में फेंक दिया। पापी राजपुत्र को तो मगरमच्छ खा गया, परन्तु व्रत के माहात्म्य से प्रभावित होकर यमपाल चाण्डाल को देवों ने सरोवर के बीचों-बीच रत्न-सिंहासन की रचना करके उसके ऊपर बिठाया और वादित्र बजा कर उसके व्रत की प्रशंसा की।

ऐसा दैवी-प्रभाव देखकर राजा भयभीत भी हुआ और प्रभावित होकर उसने यमपाल की प्रशंसा करके उसका सम्मान किया।

अहिंसा के सम्बन्ध में एक छोटी-सी प्रतिज्ञा का भी ऐसा प्रभाव देखकर यमपाल ने जीवन भर के लिए हिंसा का त्याग करके अहिंसाणुव्रत धारण किया।

इसप्रकार अहिंसाव्रत के प्रभाव से यमपाल जैसा चाण्डाल भी देव और राजा से सम्मानित होकर स्वर्ग में गया। **"अहो ! अहिंसा के एक अंश का पालन करने से भी चाण्डाल जैसे जीव ने ऐसा फल पाया तो जिस सम्पूर्ण वीतराग रूप श्रेष्ठ अहिंसा का पालन करने से मोक्ष रूपी उत्तम फल मिले – उसकी महिमा कौन कर सकता है – ऐसा जानकर हे भव्यजीवो ! तुम जिनधर्म का अर्थात् अहिंसा का पालन करो।"**

सर्व जीवों के प्रति दया रूप अहिंसा धर्म को गणधर देव ने व्रतों की जननी कहा है। पाँचों व्रत अहिंसा रूपी माता के ही पुत्र हैं।

अहिंसा माता, माता के समान सर्व जीवों का हित करने वाली है तथा वह अनेक गुणों की जन्मभूमि है, सुख करने वाली है और सारभूत सर्व गुणों की दातार है, वह सुख की निधान और रत्नत्रय की खान है।

सद्धर्म रूपी बगीचा खिलाकर, उसमें स्वर्ग-मोक्ष का फल लगाने के लिए तथा दुःख-दाह दूर करके, शीतल शान्ति की छाया देने के लिए, इस अहिंसा को भगवान ने उत्तम मेघ-वर्षा के समान कहा है। मुक्ति की सखी ऐसी इस अहिंसा का मुनिराज तो उत्कृष्ट रीति से सेवन करते हैं। मुनि तथा श्रावक सभी को सकल व्रतों में एकमात्र इस अहिंसा व्रत का ही उपदेश दिया गया है; क्योंकि अहिंसा का पालन करने वाले के द्वारा सभी व्रतों का पालन सहज रूप से हो जाता है। इसके बिना मनुष्य का जीवन एक के बिना शून्य के समान हैं।

अरे रे ! दया बिना जीव.... किस काम का ? अहिंसा रूप वीतराग भाव ही सिद्धान्त का सर्वस्व है, यही चारित्र का प्राण है और धर्मवृक्ष का मूल है। कदाचित् सर्प के मुख से अमृत निकले और कदाचित् रात्रि में सूर्य उगे, परन्तु हिंसा से तो कदापि धर्म नहीं होता।

"हे श्रावकोत्तम ! अहिंसा व्रत का पालन करने के लिए, तत्काल छना हुआ पानी ही उपयोग करना चाहिए। पानी के अलावा अन्य पदार्थों के सेवन में भी हिंसा न हो – यह भली-भाँति ध्यान रखना चाहिए। जैसे – सड़ा हुआ या डंक लगा हुआ अनाज तथा सड़ा हुआ फल भी उपयोग में नहीं लेना चाहिए। शत्रु या पशु या बालक आदि को हाथ या लकड़ी आदि से मारना नहीं चाहिए, क्योंकि यह तो क्रूरता का काम है।

मुख से भी 'मैं तुम्हें मार दूँगा' इत्यादि हिंसा के वचन नहीं बोलना चाहिए। अपनी सभी प्रवृत्ति जीव-रक्षा के लिए प्रयत्न पूर्वक सावधानी से करनी चाहिए, जिससे अपने परिणाम में कषाय की उत्पत्ति ही नहीं हो और व्रत के योग्य शुद्ध अकषाय परिणाम बना रहे।

अरे जीव ! **तुझे एक कठोर तृण के स्पर्श से भी दुःख होता है तो दूसरे जीवों पर तू शस्त्र किसप्रकार चलाता है ? तू कैसा निर्दयी है ? अरे निर्दयी ! हिंसा की तो जगत के सभी सज्जन पुरुषों ने निन्दा की है, क्योंकि वह नरक का कारण है और दुःख देनेवाली है।** अतः हे भव्य ! ऐसी पापमयी हिंसा को छोड़ और जीवों के ऊपर दया कर और अहिंसाव्रत के पालनेरूप अकषाय भाव धारण कर।"

आत्मा ही आत्मा का सच्चा गुरु

शिक्षावचः सहस्रैर्वा क्षीणपुण्ये न धर्मधीः।
पात्रे तु स्फायते तस्मादात्मैव गुरुरात्मनः ॥-क्षत्रचूड़ामणि,अ.2, श्लोक-55

अन्वयार्थ – *[अत्र नीतिः]* (**क्षीणपुण्ये**) पुण्यहीन पुरुष में (**शिक्षावचः सहस्रैः**) हजारों शिक्षावचनों से (**धर्मधीः**) धर्मबुद्धि (**न स्यात्**) नहीं होती है (**तु**) और (**पात्रे**) उत्तम पात्र में (**स्फायते**) बिना उपदेश के ही धर्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। (**तस्मात्**) इसलिए (**आत्मा एव**) आत्मा ही (**आत्मनः**) आत्मा का (**गुरुः अस्ति**) गुरु है।

सरलार्थ – पुण्यहीन, तीव्रकषायी और अपात्र मनुष्यों को हितकारी हजारों उपदेशों से भी धर्मबुद्धि उत्पन्न नहीं होती; किन्तु पात्र मनुष्यों को उपदेश के बिना भी धर्मबुद्धि बढ़ती है। वास्तविकरूप से देखा जाए तो आत्मा ही आत्मा का सच्चा गुरु है।

26

सत्य की असत्य पर विजय

स्वस्तिकावती नाम की एक सुन्दर नगरी थी। उसके राजा का नाम विश्वावसु था। विश्वावसु की रानी का नाम श्रीमती था। उनका एक वसु नाम का पुत्र था।

वहीं एक क्षीरकदम्ब नामक विद्यागुरु रहते थे, वे बड़े सुचरित्र और सरल स्वभावी थे। उनकी पत्नी का नाम स्वस्तिमती था। उनका पर्वत नाम का एक पुत्र था। दुर्भाग्य से वह पापी और दुर्व्यसनी था।

कर्मों की कैसी विचित्रता होती है ? पिता जितना धर्मात्मा और सरल स्वभावी है, उसका पुत्र उतना ही पापी और दुराचारी है।

इसी समय, एक अन्य नगर से सेठ का पुत्र नारद, जो कि निरभिमानी और सच्चा जिनभक्त था, क्षीरकदम्ब गुरु के पास पढ़ने के लिए आया।

राजकुमार वसु, पर्वत और नारद तीनों क्षीरकदम्ब गुरु के पास एक साथ पढ़ने लगे। वसु और नारद की बुद्धि अच्छी थी, इसलिए वे थोड़े ही समय में अच्छे विद्वान हो गये। रहा पर्वत, सो एक तो उसकी बुद्धि पापानुगामिनी थी, उस पर भी पाप के उदय से उसे कुछ आता-जाता नहीं था। अपने पुत्र की यह हालत देखकर उसकी माता ने एक दिन गुस्सा होकर अपने पति से कहा – "जान पड़ता है, आप बाहर के लड़कों को अच्छी तरह पढ़ाते हो और अपने स्वयं के पुत्र पर आपका ध्यान नहीं है, उसे आप अच्छी तरह नहीं पढ़ाते। इसीलिए उसे इतने दिनों तक पढ़ने पर भी कुछ नहीं आता।"

क्षीरकदम्ब ने कहा – "इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। मैं तो सभी को एक जैसा ही पढ़ाता हूँ। तुम्हारा पुत्र ही मूर्ख है, पापी है, वह कुछ समझता ही नहीं। अब इसके लिए मैं क्या करूँ?"

एक दिन की बात है कि वसु से कोई ऐसा अपराध बन गया, जिससे उसे गुरु ने बहुत मारा। उस समय स्वस्तिमती ने बीच में पड़ कर वसु को बचा लिया। वसु ने अपने को बचाने वाली गुरु-माता से कहा – "हे माता, तुमने मुझे बचाया, इससे मैं बड़ा उपकृत हुआ। कहो, आपको क्या चाहिये ? वही लाकर मैं आपको प्रदान करूँ।"

स्वस्तिमती ने उत्तर में राजकुमार से कहा – ''पुत्र ! इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जब जरूरत होगी तब माँग लूँगी।''

इधर एक दिन क्षीरकदम्ब के मन में प्रकृति की शोभा देखने की उत्कण्ठा हुई। वह अपने साथ तीनों शिष्यों को भी इसलिए साथ ले गया कि उन्हें वहीं पाठ भी पढ़ा दूँगा। वे एक सुन्दर बगीचे में पहुँचे। वहाँ कोई अच्छा पवित्र स्थान देखकर वह अपने शिष्यों को पढ़ाने लगा। उसी बगीचे में दो ऋद्धिधारी महामुनि आपस में धर्म की चर्चा कर रहे थे। उनमें से छोटे मुनि ने क्षीरकदम्ब को पाठ पढ़ाते देख कर बड़े मुनिराज से कहा – ''प्रभो ! देखिये, कैसे पवित्र स्थान में गुरु अपने शिष्यों को पढ़ा रहा है।''

बड़े मुनिराज ने कहा – ''अच्छा है। पर देखो, इनमें से दो पुण्यात्मा हैं, वे तो स्वर्ग जायेंगे और दो पाप के उदय से नरक के दुःख भोगेंगे।''

क्षीरकदम्ब मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर आया। उसे इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि उसका पुत्र नरक में जायेगा, क्योंकि मुनियों के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

कुछ दिन पश्चात् कोई ऐसा कारण दीख पड़ा, जिससे वसु के पिता विश्वावसु अपना राजकाज वसु को सौंप कर नग्न दिगम्बर साधु हो गये। राज्य कार्य अब वसु करने लगा। उसके न्याय-सिंहासन को स्फटिक मणि के पाये लगे हुए थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानों वह सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ हो। उसी पर बैठकर वह राज्य-शासन चलाता था।

''वसु राजा बड़ा ही सत्यवादी है, उसकी सत्यता के प्रभाव से उसका न्याय-सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है'' ऐसी चर्चा पूरे राज्य भर में फैला दी गई।

इधर, सम्यग्दृष्टि जिनभक्त क्षीरकदम्ब संसार से विरक्त होकर दिगम्बर दीक्षा धारण कर अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या कर अन्त में समाधिमरण द्वारा स्वर्ग में देव हुआ।

पिता के अध्यापन कार्य अब पर्वत को मिला। पर्वत को जितनी बुद्धि थी, जितना ज्ञान था, उसके अनुकूल वह पिता के विद्यार्थियों को पढ़ाने लगा। उसी के द्वारा उसका निर्वाह होता था।

क्षीरकदम्ब के साधु होने के बाद नारद भी वहाँ से कहीं अन्यत्र चला गया। वर्षों तक देश-विदेश में धर्म प्रचार करता हुआ घूमा। घूमते-फिरते एक बार पुनः स्वस्तिकावती में अपने गुरु-पुत्र पर्वत से मिलने आया।

पर्वत उस समय अपने शिष्यों को पढ़ा रहा था। साधारण कुशल-क्षेम पूछने के बाद नारद वहीं बैठ गया और पर्वत का अध्यापन-कार्य देखने लगा। प्रकरण कर्मकाण्ड का था। वहाँ एक श्रुति थी– 'अजैर्यष्टव्यमिति', पर्वत ने उसका अर्थ किया कि बकरों की बली देकर होम करना चाहिये। लेकिन उसमें बाधा देकर नारद ने तुरन्त कहा – "नहीं, इस श्रुति का अर्थ यह नहीं है। गुरुजी ने तो हमें इसका अर्थ ऐसा बताया था कि तीन वर्ष पुराने धान से, जिसमें पुनः उत्पन्न होने की शक्ति समाप्त हो जाती है, उससे होम करना चाहिये।"

पर्वत ने अपनी गलती तो स्वीकार नहीं की, उलटे दुराग्रह के वश होकर उसने कहा – "नहीं, तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या है। असल में 'अज' शब्द का अर्थ बकरा ही होता है और उसी से होम करना चाहिये।"

अरे ! जिसे दुर्गति में जाना होता है, वह सत्य को जानकर भी जान-बूझकर ऐसा झूठ बोलता है।

तब दोनों में सच्चा कौन है, इसका निर्णय उन्होंने राजा वसु से कराना तय किया। तथा परस्पर में प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ सिद्ध होगा, उसकी जबान काट दी जायेगी। पर्वत की माँ को इस विवाद पर परस्पर प्रतिज्ञा की बात मालूम हुई। वह जानती थी कि पर्वत ने उस श्रुति का उलटा अर्थ करके असत्य वचन कहा है और वसु राजा का निर्णय होने के पश्चात् पर्वत की जबान काट दी जायेगी।

पुत्र का पक्ष असत्य होने पर भी पुत्र-प्रेम से वह अपने कर्तव्य से विचलित हुई। वह राजा वसु के पास पहुँची और उससे बोली – "पुत्र, तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वचन तुमसे पाना बाकी है। आज उसकी मुझे जरूरत आ पड़ी है। इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह कर मुझे कृतार्थ करो। पर्वत और नारद में ......इसप्रकार की शर्त लगी है और उसके निर्णय के लिए उन्होंने तुम्हें मध्यस्थ चुना है। इसलिए मैं तुम्हें कहने को आई हूँ कि तुम पर्वत के पक्ष का समर्थन करना।"

जो स्वयं पापी होते हैं, वे दूसरों को भी पापी बना डालते हैं। जैसे सर्प स्वयं जहरीला होता है और जिसे काटता है, उसे भी विषयुक्त कर देता है। पापियों का यह स्वभाव ही होता है।

दूसरे दिन राजसभा लगी हुई थी। सभी राज्याधिकारी व कर्मचारी यथास्थान बैठे थे। राजा वसु भी एक अत्यन्त सुन्दर रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठा हुआ था। इतने में पर्वत और नारद अपना न्याय कराने के लिए राजसभा में आये। दोनों ने अपना-अपना कथन सुना कर अन्त में किसका

सत्य है और गुरुजी ने हमें 'अजैर्यष्टव्यम्' इसका क्या अर्थ समझाया था, इसका निर्णय करने का भार वसु पर छोड़ दिया।

वसु उक्त शब्द का अर्थ जानता था और यदि वह चाहता तो सत्य की रक्षा कर सकता था, लेकिन उसे गुरु-पत्नी के द्वारा माँगे हुए वचन ने सत्य मार्ग से ढकेल कर हठाग्रही और पक्षपाती बना दिया। अतः निर्णय देते हुए उसने कहा – "जो पर्वत कहता है, वही सत्य है।"

प्रकृति को उसका यह असत्य सहन नहीं हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि राजा वसु जिस स्फटिक के सिंहासन पर बैठ कर प्रतिदिन राजकार्य करता था और लोगों को यह कहा करता था कि मेरे सत्य के प्रभाव से मेरा सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है, वही सिंहासन वसु की असत्यता से टूट पड़ा है और जमीन में धंस गया। उसके साथ ही वसु भी पृथ्वी में जा धँसा। अर्थात् वसु काल के सुपुर्द हुआ और मर कर वह सातवें नरक में गया।

सच है, जिसका हृदय दुष्ट और पापी होता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और अन्त में उसे कुगति में जाना पड़ता है। इसलिए जो अच्छे पुरुष हैं और पाप से बचना चाहते हैं, उन्हें प्राणों का संकट आने पर भी कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये; क्योंकि असत्य मार्ग पर चलने वालों का अहित होता है और वे कुगति को प्राप्त होते हैं।

मिथ्या मार्ग का उपदेश अनेक जीवों का अहित करने वाला होने से महान असत्य है।

दुष्ट जीवों ने असत्य वचनों से कुशास्त्र रचकर लोगों को हिंसक और धर्म के विरुद्ध कर दिया है। कुशास्त्र रचने वाले जीवों ने असत्य मार्ग की पुष्टि के द्वारा स्व-पर का अहित किया है।

असत्य वचन के प्रभाव से ही जिन-शासन में भी अनेक मत-मतान्तर उत्पन्न हुए हैं।

जिन-शासन के अनुसार सत्य मार्ग के उपदेश के समान महान सत्य दूसरा कोई नहीं। वह स्व-पर समस्त जीवों का हित करने वाला है और अहिंसादि का पोषक है।

इसलिए हे भव्यजीवो ! ऐसे सत्य जिनधर्म को जानकर, तुम उसका आदर करके जिनमार्ग के अनुसार सत्य ही बोलो। तत्त्व के यथार्थ ज्ञान पूर्वक ही सत्य व्रत का बराबर पालन हो सकता है।

नीच मनुष्य का मुँह साँप के बिल के समान है, उसमें साँप के समान जीभ रहती है। वह असत्यरूपी हलाहल जहर से अनेक जीवों को नष्ट करती है, अनेक जीवों का अहित करती है।

अरे रे ! विष का भक्षण कर लेना अच्छा, लेकिन अपना जिह्वा से हिंसा करने वाला, मिथ्या मार्ग का पोषक तथा पाप और दु:ख उत्पन्न करने वाला असत्य वचन कभी नहीं बोलना चाहिये। इसलिए हे मित्र ! जहर जैसे इस असत्य को तू शीघ्रता से छोड़ दे। असत्य वचन रूपी पाप के फल में जीव गूंगा-बहरा होता है और सत्य के सेवन से ज्ञान, विद्या, चारित्र आदि गुण बढ़ते हैं।

इसप्रकार राजा वसु तो नरक में चला ही गया और पर्वत की दुष्टता देखकर प्रजा के लोगों ने उसे राज्य के बाहर निकाल दिया और नारद का बहुत आदर-सत्कार किया; परन्तु इस प्रसंग से नारद की जिनधर्म पर श्रद्धा और भी दृढ़ हो गई। अन्त में नारद ने संसार से उदासीन होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि होकर उसने अनेक जीवों को कल्याण के मार्ग में लगाया और तपस्या द्वारा पवित्र रत्नत्रय की आराधना कर आयु के अन्त में सर्वार्थसिद्धि गया।

सत्पुरुषों ने सत्य-अचौर्य आदि व्रतों का वर्णन अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए किया है, वहाँ सर्व जीवों का हित करने वाला और श्रेष्ठ व्रत की सिद्धि का कारण उत्तम सत्य कहलाता है। जो धर्मात्मा श्रावक स्थूल असत्य न बोलता है, न बुलवाता है और न बोलने वाले की अनुमोदना करता है, उसे सत्याणुव्रत होता है।

सत्य को जानने वाले सद्बुद्धि गृहस्थों को सर्व जीवों का हित करने वाला मर्यादित वचन

बोलना चाहिये, किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये और सब जीवों के लिये सुख देने वाली भाषा बोलनी चाहिये।

हे भव्य ! तू सदा सर्वदा ऐसे ही वचन बोल कि जिससे आत्मा का कल्याण हो, धर्म का कारण हो, यश देने वाला हो और सर्वथा पाप रहित हो। ज्ञानी जन हमेशा जिनागम के अनुसार अनिंद्य, मधुर, प्रशंसनीय तथा विकथादि से रहित और धर्मोपदेश से भरे हुए वचन ही बोलते हैं।

सत्याणुव्रती श्रावक स्थूल झूंठ का तो सर्वथा त्यागी होता है; परन्तु उसके दूसरों के हित के लिए कदाचित् सूक्ष्म असत्य वचन भी कहने में आ जाता है, अथवा दूसरे जीवों की रक्षा के अर्थ कथंचित् कठोर भी कहने में आ जाता है। जो दूसरों को दुःख देने वाला हो, सुनते ही भय से दुःख उत्पन्न करने वाला हो, जीवों के मरण अथवा दुःख का कारण हो, वह ऐसे सत्य वचन को भी कभी नहीं कहता। **जिसप्रकार कषाय की उत्पत्ति भी हिंसा है, उसीप्रकार कषाय सहित वचन भी असत्य है।**

सत्य अमृत-तुल्य है, उससे धर्म की प्राप्ति होती है। अहो, इस जगत में सत्य सर्व जीवों को सुख देने वाला, सभी का भला करने वाला और प्रशंसनीय है। सत्य वचन रूपी अमृत विद्यमान है तो फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान होगा ? जो झूठा, कठोर और निंद्य वचन बोलना उचित समझेगा ? अरे ! **वास्तव में तो जो वीतरागता के पोषक वचन हैं, वही शान्तरस से भरे हुए हैं.... वही सत्य हैं।**

हे मित्र ! प्राण जाने का प्रसंग आ जावे तो भी तू निंद्य, धर्म-विरुद्ध तथा कषाय के पोषक कठोर वचन नहीं बोलना। जो वचन कर्कश, कठोर और बुरे हैं, जो पाप के उपदेश से भरे हुए हैं और धर्म से रहित हैं; तथा जो वचन क्रोध उत्पन्न करने वाले हैं, जो विषय-कषाय के पोषक हैं, जो देव-गुरु-धर्म में दोष लगाने वाले हैं, जो शास्त्र-विरुद्ध हैं तथा देश-विरुद्ध हैं; जो नीच लोगों द्वारा बोले गये हैं – इत्यादि ऐसे सर्व प्रकार के असत्य वचनों को हे मित्र ! तू सर्वथा छोड़ दे, मरण आये तो भी ऐसे निंद्य-असत्य वचनों का उपयोग नहीं करना।

सर्प से डसे हुए पुरुषों के तो केवल जड़ शरीर ही का नाश हो जाता है; किन्तु दुर्जनों का समागम करनेवाले पुरुषों का वंश, वैभव, पाण्डित्य, शान्ति, कीर्ति इत्यादि सर्व गुणों का नाश क्षणभर में ही हो जाता है।

–क्षत्रचूडामणि, अ.2, श्लोक–48 का सरलार्थ

27

फल तो जरूर मिलता है !

सिंहपुर नाम का सुन्दर नगर था। वहाँ का राजा सिंहसेन बहुत ही बुद्धिमान और धर्मपरायण था और उसकी रानी रामदत्ता भी बड़ी चतुर थी।

उनके राज्य में एक श्रीभूति नाम का पुरोहित भी रहता था। श्रीभूति ने मायाचारी से अपने सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध कर रखी थी कि मैं बड़ा ईमानदार हूँ। बेचारे भोले लोग उस कपटी के विश्वास में आकर अनेक बार ठगे जाते थे, परन्तु उसके कपट का पता किसी को नहीं लग पाता था।

एक दिन एक समुद्रदत्त नाम का व्यापारी उसके चंगुल में आ फँसा। समुद्रदत्त की इच्छा व्यापारार्थ विदेश जाने की हुई। उसके पास बहुत कीमती रत्न थे। उसने श्रीभूति की प्रसिद्धि सुन रखी थी। इसलिए उसके पास वे पाँच रत्न रखकर वह व्यापारार्थ रत्नद्वीप के लिए रवाना हो गया। वहाँ कई दिनों तक ठहर कर उसने बहुत धन कमाया। जब वह वापिस लौट कर जहाज़ से अपने देश की ओर आ रहा था, तब पाप कर्म के उदय से उसका जहाज एक टापू से टकरा कर फट गया। ठीक ही है कि बिना पुण्य के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।

समुद्रदत्त भाग्य से बच कर निकल तो आया, लेकिन सारा धन समुद्र में डूब गया। जब वह श्रीभूति पुरोहित के पास रखे हुए अपने रत्न लेने पहुँचा तो श्रीभूति ने उसे दुतकार दिया और रत्न देने से इंकार कर दिया तथा नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को बाहर निकलवा दिया। बेचारा समुद्रदत्त तो श्रीभूति की बातें सुनकर हतबुद्धि हो गया।

नीतिकार ने ठीक ही लिखा है – "जो लोग पापी होते हैं, जिन्हें दूसरों के धन की चाह होती है, ऐसे दुष्ट पुरुष ऐसा कौनसा बुरा काम है, जिसे वे लोभ के वश होकर न करते हों ?"

श्रीभूति ऐसे ही पापियों में से एक था। पापी श्रीभूति से ठगाया गया बेचारा समुद्रदत्त सचमुच पागल-सा हो गया। "श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता" – ऐसा दिन-रात चिल्लाने लगा।

एक दिन महारानी सोमदत्ता के मन में विचार आया कि इसमें कुछ अन्य ही वास्तविकता हो सकती है। उसने महाराज से कहा – "आप उसे बुला कर पूछिये कि वास्तव में उसके ऐसे चिल्लाने का रहस्य क्या है ?"

रानी के कहे अनुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुलाकर सब बातें पूछीं। समुद्रदत्त ने यथार्थ घटना कह सुनाई। सुनकर रानी ने इसका भेद खुलवाने का विचार मन में ठान लिया।

दूसरे दिन रानी ने पुरोहितजी को अपने अन्त:पुर में बुलाया। आदर-सत्कार करने के बाद रानी ने उससे इधर-उधर की बातें की, जिससे पुरोहितजी प्रसन्नता का अनुभव करने लगे। पुरोहितजी को खुश देखकर रानी ने कहा – "सुनती हूँ कि आप पासे (चौपड़) खेलने में बड़े चतुर और बुद्धिमान हैं। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि आपके साथ खेल कर मैं भी एक बार देखूँ कि आप किस चतुराई से खेलते हैं।" – यह कहकर रानी ने एक दासी को बुलाकर चौपड़ लाने की आज्ञा दी। पुरोहितजी प्रथम तो कुछ हड़बड़ाये, लेकिन रानी की आज्ञा वे टाल नहीं सके। दासी ने चौपड़ लाकर रानी के सामने रख दी। आखिर उन्हें खेलना ही पड़ा, लेकिन रानी ने पहली ही बाजी में पुरोहितजी की अँूगठी जीत ली।

रानी के द्वारा पहले ही समझाये अनुसार एक दासी उस अँगूठी को लेकर पुरोहितजी के घर गई और थोड़ी देर पश्चात् कुछ निराश-सी होकर लौट आई। इधर खेल शुरु ही था। दासी को निराश देखकर रानी समझ गई कि अभी काम नहीं बना। अब की बार उसने पुरोहितजी का जनेऊ जीत लिया और किसी बहाने से उस दासी को बुलाकर चुपके से जनेऊ (यज्ञोपवीत) देकर भेज

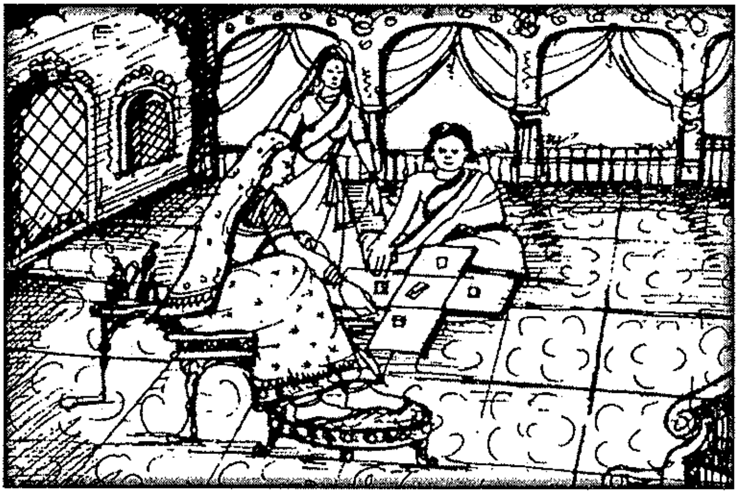

दिया। दासी के वापिस आने तक रानी पुरोहितजी को खेल में लगाये रही। इतने में दासी आ गई। उसे प्रसन्न देखकर रानी ने अपना मनोरथ पूर्ण हुआ समझा। उसने उसी समय खेल बन्द कर दिया और पुरोहितजी को वापिस जाने की आज्ञा दी।

बात असल में यह थी कि रानी ने पुरोहितजी की जीती हुई अँगूठी देकर दासी को पुरोहित की पत्नी के पास समुद्रदत्त के रत्न लेने को भेजा, पर जब पुरोहितजी की पत्नी ने अँगूठी देखकर भी रत्न नहीं दिये, तब यज्ञोपवीत जीत लिया और उसे दासी के हाथ देकर फिर भेजा। अबकी

बार रानी का मनोरथ सिद्ध हुआ। पुरोहितजी की पत्नी ने दासी की बातों से डरकर झटपट रत्नों को निकाल दासी के हवाले कर दिया। दासी ने रत्न लेकर रानी को दे दिये।

रानी ने रत्न लेकर महाराज के सामने रख दिये। महाराज ने उसी समय श्रीभूति पुरोहित को गिरफ्तार करने की सिपाहियों को आज्ञा दी। बेचारे पुरोहितजी अभी महल के बाहर भी नहीं जा पाये थे कि सिपाहियों ने जाकर उनके हाथों में हथकड़ी डाल दी और उन्हें दरबार में लाकर उपस्थित कर दिया। राजा ने समुद्रदत्त को बुलाया और उसके रत्नों को अन्य रत्नों के साथ मिलाकर उसे दिखाये और कहा कि इनमें जो भी तुम्हारे रत्न हों, उन्हें पहचान कर ले लीजिए। समुद्रदत्त ने अपने रत्न पहचान लिये।

पुरोहित की ऐसी कपट नीति को देखकर महाराज बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने पुरोहित के लिए तीन प्रकार की सजायें नियत कीं। उनमें से जिसे वह मन्जूर करे, उसे स्वीकार करने को कहा। वे सजायें थीं – 1. इसका सर्वस्व हरण कर लिया जाये तथा इसको देश-निकाला दे दिया जाय। 2. इसमें पहलवानों के द्वारा बत्तीस मुक्के मारे जाएँ। 3. थाली भर गोबर खा जाय।

पुरोहित ने सबसे पहले गोबर खाना मंजूर किया, उस लोभी पुरोहित ने सोचा कि गोबर खा लेने में मुक्कों से भी बच जाऊँगा और सर्वस्व हरण भी नहीं होगा; किन्तु उसने गोबर आधी थाली भी नहीं खा पाया और कहने लगा कि गोबर नहीं खाया जाता, मैं तो मुक्के ही खालूँगा और जैसे ही मुक्के मारे गये वैसे ही 2-4 मुक्के मारने के बाद कह उठा कि अब मुक्के मत मारो, नहीं तो अगले मुक्के में प्राण निकल जायेंगे। अतः अन्त में उस पुरोहित का सर्वस्व हरण करके उसे देश निकाला दे दिया गया। पुरोहित राजा से बदला लेने की भावना से निदानबंध कर मरा और उनके ही खजाने में सर्प हुआ और राजा को देखते ही काट लिया, सो राजा मर कर हाथी हुआ और यह भी मरकर कुर्कुट जाति का सर्प हुआ, तब भी इसने हाथी को काट लिया।

इस तरह उनका कई भव तक वैर चलता रहा। अन्त में राजा तो संजयन्त मुनि हुए और वह पुरोहित कुतप तप कर विद्याधर हुआ। एक बार जब वे संजयन्त मुनि ध्यानमग्न थे, तब पुरोहित के जीव विद्याधर का विमान उनके ऊपर से निकलने के कारण रुक गया। जब उसने नीचे उतर कर देखा तो अपने पूर्व का वैर विचार कर उन्हें उठा ले गया और गाँव के बाहर एक स्थान पर छोड़कर गाँव वालों से कहा कि एक राक्षस आया है, उसे हम सब मिलकर मारकर खतम कर दें, नहीं तो वह अपने को बहुत परेशान करेगा, तब उन्होंने मुनि को अनेक प्रकार से अपशब्द कहे और लाठी-पत्थर मारना शुरू कर दिया। उसी समय उन संजयन्त मुनि ने उग्र **आत्मध्यान**

कर क्षपकश्रेणी मांड़ी और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, तब देवों ने आकर उन केवली भगवान की पूजा की। यह देखकर पुरोहित/विद्याधर ने धर्म की महिमा से अभिभूत हो, उन्हीं की शरण ग्रहणकर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर लिया।

वास्तव में दूसरे के धन-धान्य आदि उसके दिए बिना ग्रहण करना ही चोरी है, इसलिए हे भव्य ! बिना दिये हुए दूसरे का धन लेने की वृत्ति तू दूर ही से छोड़ दे; क्योंकि साँप को पकड़ना तो अच्छा है, परन्तु दूसरों का धन ले लेना ठीक नहीं है। भीख माँग कर पेट भरना अच्छा है, परन्तु अन्य का द्रव्य चुरा कर घी-शक्कर खाना अच्छा नहीं है।

चोरी का पाप करने वाले जीव का मन स्वस्थ नहीं रह सकता। अरे, चोर को शान्ति कहाँ से होगी ? उसका चित्त हमेशा शंकाशील रहता है। चैतन्य की शान्ति के अपार निधान अपनी आत्मा में झूलने वाले धर्मी को चोरी करने जैसा तीव्र कषाय का भाव कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

अरे, ऐसे वे कौन बुद्धिमान हैं कि जो थोड़े धन के लिए चोरी का महापाप करके नरकादि दुर्गति में भ्रमण करना चाहेंगे ? यदि कुटुम्बी जनों के उपभोग के लिए भी चोरी का पाप करता है तो भी उस पाप का फल भोगने नरक में तो अकेला ही जाना पड़ता है। जिसके लिए चोरी की, वह कुटुम्ब कोई साथ में नहीं जाता – इसे समझ कर हे भव्य ! तू विष समान पाप-क्लेश तथा अपयश के कारण रूप चोरी को छोड़....। हरण करना छोड़ और सन्तोष पूर्वक अचौर्य व्रत का पालन कर। अरे ! दूसरों के द्वारा चुराये हुए धन को भी तू अपने घर में मत रख।

तीन लोक में उत्तम लक्ष्मी पुण्यवानों के घर में नीति मार्ग से ही आती है। चक्रवर्तित्व आदि विभूति कोई चोरी करके किसी को नहीं मिलती। धन के लोभ से सदोष वस्तुओं अर्थात् अभक्ष्य एवं अस्पृश्य और हिंसाकारक वस्तुओं का व्यापार करना उचित नहीं है। धन का नाश होने से संसारी जीवों को मरण जैसा दु:ख होता है। धन उसे प्राण जैसा प्यारा है, इसलिए जिसने दूसरों का धन चोरी किया, उसने उसके प्राणों की ही चोरी की, इससे उसे भाव-हिंसा हुई। इसलिए हे बुद्धिमान ! हिंसा पाप से बचने के लिए तू चोरी छोड़ दे।

तात्पर्य यह है कि जो अपना कल्याण चाहते हों, वे चोरी को अत्यन्त दु:ख का कारण समझ कर उसका परित्याग करें, ना तो किसी प्रकार की चोरी स्वयं करें और ना ही किसी को करने के लिए प्रेरित करें न किसी को करते हुए देखकर उसकी अनुमोदना करें।

अपनी बुद्धि को पवित्र जिनधर्म में लगावें, जो ऐसे महापापों से बचाने वाला है।

28

शीलवती नीली सुन्दरी

लाट देश में जिनदत्त सेठ की पुत्री का नाम नीली था, वह सेठ जिनधर्मी था और जिनधर्मी के अलावा अन्य धर्मियों से अपनी पुत्री नहीं ब्याहना चाहता था।

इसी देश के समुद्रदत्त सेठ का पुत्र सागरदत्त एक बार नीली का रूप देखकर मोहित हो गया और उसने उसके साथ शादी करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु वह जिनमत का द्वेषी, विधर्मी होने से जिनदत्त सेठ उसके साथ नीली की शादी करने को तैयार नहीं हुआ।

तब उस सागरदत्त ने कपट पूर्वक जिनधर्म स्वीकार करने का नाटक किया और श्रावक जैसा आचरण करने लगा। अत: "सागरदत्त ने मिथ्या मार्ग छोड़ दिया और जिनधर्म धारण किया।" – ऐसा समझकर जिनदत्त ने नीली की शादी उसके साथ कर दी।

शादी का प्रयोजन सिद्ध होने पर सागरदत्त फिर से कुमार्गगामी बन गया, उसने नीली को भी उसके पिता के घर जाने से रोका.... इससे जिनदत्त सेठ को बहुत पश्चाताप हुआ और उसने अपनी पुत्री को मानो कुएँ में डाल दिया हो, उसे ऐसा दु:ख हुआ।

सच है, पुत्री की विधर्मी के साथ शादी कर देने से अच्छा है कि उसे कुएँ में डाल देना; क्योंकि वह उससे भी अधिक खराब है, क्योंकि मिथ्यात्व के संस्कार से अनन्त भवों का बुरा होता है। जो अपनी पुत्री को विधर्मियों को देते हैं, वे उनका बहुत बड़ा अहित करते हैं, उन्हें जिनधर्म की श्रद्धा नहीं होती। नीली को भी इस बात का दु:ख हुआ, परन्तु वह स्वयं दृढ़ता से जिनधर्म का पालन करती रही। सच है, जिसे जिनधर्म का सच्चा रंग लगा है, उसे किसी भी प्रसंग में उसका उत्तम संस्कार नहीं छूटता। वह भले प्राण त्याग दे, परन्तु जिनधर्म को नहीं त्यागता।

नीली के ससुर समुद्रदत्त ने विचार किया – "हमारे गुरुओं के संसर्ग से नीली अपना जिनधर्म छोड़ देगी और हमारा धर्म अंगीकार कर लेगी।" ऐसा विचार करके उसने अपने मत के भिक्षुओं को भोजन के लिए घर में निमंत्रित किया, परन्तु नीली ने युक्ति से उनकी परीक्षा करके उन्हें मिथ्या ठहराया और अपने जिनधर्म में दृढ़ रही। अपने गुरुओं का ऐसा अपमान होने पर समुद्रदत्त के कुटुम्बी-जन नीली के प्रति द्वेष-बुद्धि रखने लगे, उसे अनेक प्रकार से परेशान करने लगे और उसकी ननदों ने तो उसके ऊपर परपुरुष के साथ व्यभिचार का कलंक तक लगा दिया और यह

बात सर्वत्र प्रसिद्ध करने लगीं। अरे रे, निर्दोष शीलवती नीली के ऊपर पाप कर्म के उदय से ऐसे बड़े दोषों का झूठा कलंक लगा। नीली तो धैर्य पूर्वक जिनमन्दिर में भगवान के पास पहुँच गई और जब तक यह कलंक दूर नहीं होगा, तब तक मैं भोजन नहीं करूँगी तथा अनशन व्रत धारण करूँगी – ऐसी प्रतिज्ञा करके जिनेन्द्र देव के सामने बैठ गई और अन्तरंग में जिनेन्द्र देव के गुणों का स्मरण करके उनका चिन्तवन करने लगी।

शीलवती नारी पर कलंक कुदरत कैसे देख सकती थी ? उसके शील के प्रभाव से उस नगर के रक्षक देवता वहाँ आये और उन्होंने नीली से कहा – "हे महासती ! तू प्राण त्याग न कर, तेरा कलंक सुबह ही दूर होगा.... इसलिए तू चिन्ता न कर।" उन देवताओं ने राजा को भी स्वप्न में एक बात कही। बस, रात्रि हुई.... नगर का दरवाजा बन्द हो गया। सुबह हुई.... लेकिन नगर का दरवाजा ऐसा जबरदस्त लग गया कि किसी प्रकार से भी नहीं खुला। नगर रक्षक सिपाही घबड़ाते हुए राजा के पास पहुँचे और यह बात राजा को बताई तथा खोलने का उपाय पूछा। राजा को रात में स्वप्न आया ही था कि नगर का दरवाजा बन्द हो जायेगा और शीलवती नीली का पैर लगने पर ही वह खुलेगा।

अनेक प्रयत्न करने पर भी दरवाजा नहीं खुला। आखिर में राजा की आज्ञा से मन्दिर से नीली को बुलवाया गया। णमोकार मन्त्र जपती हुई नीली वहाँ आई और उसके पैर का स्पर्श होते ही दरवाजा खुल गया....। उसके शील का ऐसा प्रभाव देखकर सर्वत्र उसकी जय-जयकार होने लगी और उसका कलंक दूर हुआ।

सागरदत्त ने भी प्रभावित होकर उससे क्षमा माँगी और जिनधर्म अंगीकार करके अपना हित किया। उसके बाद वह शीलवती नीली संसार से विरक्त होकर आर्यिका बनी.... राजगृही में समाधि-मरण किया, वहाँ आज भी एक स्थान 'नीलीबाई की गुफा' के नाम से प्रसिद्ध है और जगत को शील की महिमा बता रहा है।

इसीप्रकार महासती सीताजी के शीलरत्न के प्रभाव से अग्निकुण्ड कमल का सरोवर होना एवं सेठ सुदर्शन की शीलव्रत में दृढ़ता की कथा जगप्रसिद्ध है।

ब्रह्मचर्य नाम के चौथे अणुव्रत धारी श्रावक को परस्त्री का सर्वथा त्याग होता है। अपनी पत्नी के अलावा अन्य समस्त स्त्रियों को जो माता, बहिन और पुत्री के समान जानता है, उसे स्थूल ब्रह्मचर्य होता है। इस ब्रह्मचर्य का सेवन करके जीवों को विषयों से विरक्त होना चाहिये। बुद्धिमान पुरुषों को परस्त्री का एक क्षण भी संसर्ग नहीं करना चाहिये। अरे, इस लोक में प्राणों का हरण करनेवाली ऐसी क्रोधित सर्पिणी का आलिंगन करना अच्छा है; परन्तु परस्त्री का संसर्ग करना अच्छा नहीं है। यह महानिंद्य काम है और महादुःख देनेवाला है। मूर्ख लोगों को परस्त्री की तो प्राप्ति हो या न हो, परन्तु परस्त्री की इच्छा और चिन्ता से ही उसे महान पाप लगता रहता है, उसे हमेशा मरण की आशंका लगी रहती है। उस मूर्ख की बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण परस्त्री सेवन में दुःख होने पर भी उसमें उसे सुख लगता है और उसका चित्त हमेशा कलुषित रहता है।

अरे रे ! विषयों तथा कषायों में मग्न जीवों को शान्ति कहाँ से हो ? परस्त्री सेवन के पाप से उस पापी जीव को तो नरक में अग्नि से धगधगाती अत्यन्त लाल लोहे की पुतली के साथ दोनों हाथ फैला कर आलिंगन करना पड़ता है, उससे वह जल जाता है और महा दुःख पाता है।

विषयों के सेवन की कामाग्नि कभी शान्त नहीं होती, वह तो ब्रह्मचर्य रूपी शीतल जल से ही शान्त होती है। जो अधम पुरुष कामज्वर रूपी रोग को परस्त्री रूपी औषधि से मिटाना चाहता है, वह तो अग्नि में तेल डालने जैसी मूर्खता करता है।

अरे, हलाहल जहर खा लेना अच्छा, समुद्र में डूब जाना अच्छा; परन्तु शील बिना मनुष्य का जीवन अच्छा नहीं होता। इसलिए हे भव्य ! हृदय में विवेक धारण करके ब्रह्मचर्याणुव्रत अंगीकार कर और शीलव्रत से अपनी आत्मा को सुशोभित कर तथा परस्त्री का सर्वथा त्याग कर।

धर्म का आचरण करने वाला प्राणी हीन जाति का हो तो भी शोभता है और स्वर्ग जाता है, परन्तु धर्महीन प्राणी किसी भी प्रकार नहीं शोभता और दुर्गति में जाता है। शील बिना विषयासक्त प्राणी जीता हो तो भी मरे जैसा है, क्योंकि जैसे मुर्दे में कोई गुण नहीं होते, उसीप्रकार शीलरहित जीव में कोई गुण नहीं होते।

जो मूर्ख प्राणी स्वस्त्री को छोड़कर परस्त्री का सेवन करता है, वह अपनी थाली का भोजन छोड़कर चाण्डाल के घर की जूठन खाने जाता है। अतः हे मित्र ! तू स्वस्त्री में सन्तोष कर और बाद में हमेशा के लिए स्त्री मात्र का त्याग कर। जो विद्वान एकाग्र चित्त से शील धर्म का पालन करता है, उसके ऊपर मुक्ति-स्त्री प्रसन्न होती है। एक दिन ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला जीव नौ लाख जीवों की हिंसा से बचता है।

इसीप्रकार स्त्रियों में भी जो स्त्री शीलरूपी आभूषणों को धारण करती है, वह जगत में शोभा पाती है, प्रशंसनीय होती है। जिसका उत्तम शीलभण्डार इन्द्रियरूपी चोरों द्वारा लूटा नहीं गया, वह शीलवान प्राणी धन्य है। अनेक संकट आने पर भी जो अपने शील को नहीं छोड़ता वह धर्मात्मा प्रशंसनीय है। अधिक क्या कहें ? हे मित्र ! तू शीलव्रत का सर्व प्रकार से पालन कर।

दो भाइयों का प्रेम

दो भाई..... दोनों को एक-दूसरे पर अपार प्रेम। बड़े भाई का परिवार विशाल था, लेकिन छोटा भाई अकेला था, कुँवारा था, उपाधियों से अभी दूर था।

दोनों भाइयों के खेत पास-पास एक-दूसरे के खेतों से जुड़े थे। दोनों ने अपने-अपने खेतों के धान्य को इकट्ठे करके रखा था। शाम को घर जाने का समय हुआ तो बड़ेभाई ने छोटे से कहा– ''भाई ! ये अनाज के ढ़ेर लगे हैं। मैं घर जाकर आता हूँ, तब तक तुम यहाँ रहकर ध्यान रखना।'' – ऐसा कहकर बड़ा भाई घर चला गया, और यहाँ खेतों के पास अकेला रह गया छोटा भाई। वह अनाज के ढेर देखकर विचार करता है – ''बड़े भाई का तो बड़ा परिवार है और मैं तो अकेला हूँ, इतने सारे अनाज की मुझे क्या जरूरत है, बड़ा भाई वैसे तो कुछ लेगा नहीं, इसलिये बड़े भाई को पता ही न चले, उसप्रकार से उसके ढेर में थोड़ा अनाज डाल देता हूँ'' – ऐसा विचार कर अपने ढेर में से लगभग 10 मन अनाज बड़े भाई के ढेर में डाल दिया और अपनी जगह पर आकर बैठ गया।

जब बड़ा भाई घर से वापस आता है तो छोटा भाई घर जाता है। यहाँ बड़े भाई को छोटे भाई के द्वारा किये गये कृत्य का कुछ पता नहीं; लेकिन यहाँ बड़े भाई को भी दोनों अनाज के ढ़ेर देखकर विचार आता है – ''मेरा छोटा भाई तो भोला है, अभी संसार की माया का कुछ पता भी नहीं है, और कोई पूँजी भी उसके पास जमा नहीं है, मैं कुछ दूँगा तो वह लेगा भी नहीं। लेकिन मैं तो उसका बड़ा भाई हूँ, मुझे उसका ध्यान रखना चाहिये'' – ऐसा विचार कर उसने भी अपने अनाज के ढ़ेर में से लगभग 10 मन अनाज छोटे भाई के ढ़ेर में डाल दिया। देखो तो सही, एक-दूसरे के हित के लिए कितनी ऊँची भावना !

कीमत 10 मन अनाज की नहीं है, बल्कि दोनों भाइयों के बीच आपसी सद्भावना की है।

अरे ! जब लौकिक भाई एक-दूसरे के हित का इतना ध्यान रखते हैं तो धर्म के सम्बंध से जो परस्पर साधर्मी भाई हैं, उनमें तो एक-दूसरे के हित के लिए कितनी ऊँची भावना होनी चाहिये। अपनी कोई भी विभूति (धनादिक) अपने साधर्मी भाई के हितोपयोग में आवे, तब साधर्मी को कितनी प्रसन्नता होती है।

29

दृढ़ता के धनी राजा जय

राजा श्रेयांस के भाई राजा सोम के पुत्र राजा जयकुमार की कथा जगप्रसिद्ध है, प्राचीनकाल में राजाओं के अनेकों रानियाँ हुआ करती थीं, अतः राजा जयकुमार के भी अनेकों राजकुमारियों के साथ शादी करने का प्रस्ताव आया; परन्तु उन्होंने एक शादी करने के बाद दूसरी शादी नहीं करने की प्रतिज्ञा ले ली, जिसका उन्होंने दृढ़ता से पालन किया, जो संसार में एक अनूठा उदाहरण बन गया।

राजा जयकुमार की सुलोचना नाम की एक ही सद्गुणी पत्नी थी। स्त्री सम्बन्धी परिग्रह परिमाण में उन्हें एक मात्र रानी सुलोचना के अलावा अन्य सभी स्त्रियों का त्याग था।

एक बार इन्द्र सभा में सौधर्म इन्द्र ने उनके इस व्रत की प्रशंसा की, वह सुनकर एक देव उनकी परीक्षा करने आया। जिस समय वे कैलास पर्वत की यात्रा के लिए गये थे, उस समय उसने विद्याधरी का उत्तम रूप धारण करके जयकुमार के सन्मुख अपने विवाह का प्रस्ताव रखा, उन्हें बहुत ललचाया और हाव-भाव प्रदर्शित करके अपने साथ क्रीड़ा करने के लिए कहा।

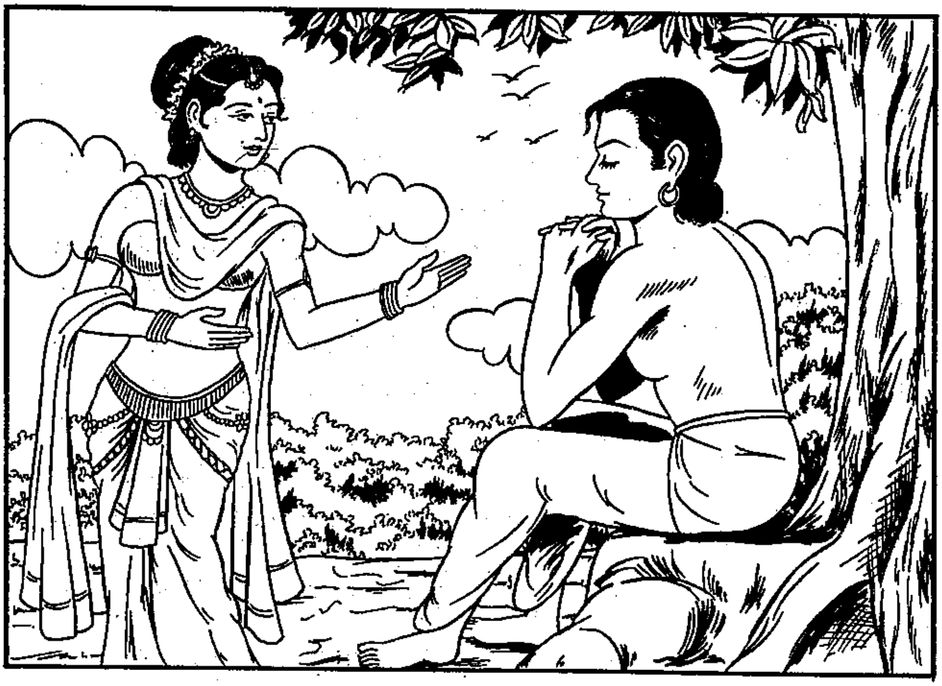

परन्तु जयकुमार जिसका नाम ! वह विषयों से पराजित कैसे हो ? वे थोड़े भी नहीं ललचाये; उन्होंने उस विद्याधरी को विरक्तभाव से उलटे उपदेश दिया/ समझाया – "हे माता ! यह तुम्हें शोभा नहीं देता। मेरा एक पत्नीव्रत है, इसलिए सुलोचना के सिवाय अन्य स्त्रियों का मुझे त्याग है। हे देवी ! तू भी विषय-वासना के इस दुष्ट परिणाम को छोड़ और शीलवती होकर पर-पुरुष के साथ रमण करने की अभिलाषा का त्याग कर।"

ऐसा कह कर जयकुमार तो हृदय में तीर्थंकर भगवन्तों का स्मरण करके ध्यान में खड़े रहे। देवी ने नाना प्रकार के अनेक उपाय किये, फिर भी जयकुमार डिगे नहीं।

व्रत में उनकी दृढ़ता देखकर अन्त में देव प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर उनकी स्तुति करने लगा तथा उनका सम्मान किया। कुछ समय बाद जयकुमार संसार से विरक्त हुए और राजपाट छोड़कर मुनिदीक्षा अंगीकार की और आत्मध्यान से केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष गये।

जो बुद्धिमान अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावक लोभ कषाय दूर करके सन्तोषपूर्वक परिग्रह की मर्यादा का नियम करता है, उसे पाँचवाँ परिग्रह-परिमाण व्रत होता है। गृहस्थों को पाप का आरम्भ घटाने के लिए परिग्रह का परिमाण करना चाहिये। खेती, घर, धन, स्त्री, वस्त्र आदि सभी ममत्व बढ़ाने वाले हैं तथा उससे त्रस-स्थावर अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसलिए हे भव्य ! परिग्रह की ममता घटाकर उसकी मर्यादा का नियम करना चाहिए। यह व्रत सन्तोषरूपी धन को बढ़ाने वाला है एवं अहिंसा पालन में हेतुभूत है।

लोभ में आकुलता है और सन्तोष में सुख है। सन्तोषी जीव तीन लोक में कहीं भी हो उसे सर्वत्र सुख प्राप्त हो जाता है। जिसप्रकार माँगने वाले को कभी अधिक धन नहीं मिलता, भिखारी को तो क्या मिले ? उसीप्रकार लोभ से अधिक द्रव्य की इच्छा करने वाले लोभी को इसकी प्राप्ति नहीं होती और निस्पृह जीवों को तो बिना माँगे ही धन का ढेर मिल जाता है।

सन्तोष धारण करने वाले को धन वगैरह पुण्य योग से स्वयमेव आ जाता है; क्योंकि लक्ष्मी पुण्य के उदय अनुसार आती-जाती है, इसलिए हे जीव ! तू लोभ/तृष्णा छोड़कर सन्तोष रूप अमृत का पान कर। शक्ति अनुसार दान देने योग्य पदार्थ का दान कर और त्याग करने योग्य वस्तु का त्याग कर। लक्ष्मी पुण्य से आती है, बिना पुण्य के इच्छा करने मात्र से नहीं आती।

जिसने चैतन्य की निज सम्पदा को जानकर बाहर की सम्पदा का मोह छोड़ा है – ऐसे धर्मात्मा को ही लोक में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि पदों की विभूति मिलती है।

जो बुद्धिमान श्रावक परिग्रह को एकदेश छोड़कर परिमाण करता है, मानों उसकी परीक्षा करने के लिए बहुत लक्ष्मी स्वयं उसके घर आती है। जिस प्रकार सूर्य से शीतलता नहीं मिलती, उसी प्रकार ममता रूप परिग्रह भाव से जीव को कभी भी शान्ति नहीं मिलती।

जिसप्रकार पशु को नग्न रहने पर भी ममत्व रूप परिग्रह के त्याग बिना शान्ति या पुण्य नहीं मिलता, उसीप्रकार जिसे परिग्रह की मर्यादा का कोई नियम नहीं – ऐसा धर्मरहित जीव शान्ति या पुण्य नहीं पाता। परिग्रह की तीव्र मूर्च्छा से वह पाप बाँधकर दुर्गति में रखड़ता है। धर्म के बगीचे को खा जाने वाला विषयासक्त मन रूपी हाथी नियमरूप अंकुश से वश में रहता है। इसलिए हे जीव ! तुम सन्तोष पाने के लिए परिग्रह-परिमाणव्रत का नियम करो।

परिग्रह के लोभ वश जीव न्याय-मार्ग छोड़कर अनेक पाप करता है, दया रहित होकर झूठ बोलता है, चोरी करता है, आर्तध्यान करता है। तीव्र लोभी मनुष्य को देव-गुरु-धर्म का और पुण्य-पाप का विवेक नहीं रहता, वह गुण-अवगुण को नहीं पहिचानता। लोभ वश वह गुणी जनों का अनादर और दुर्गुणी जनों का आदर करता है, देश-परदेश घूमता है, माया-कपट करता है।

लोभी पुरुष की आशा सम्पूर्ण संसार में ऐसी फैल जाती है कि यदि जगत का सम्पूर्ण धन उसे मिल जाय, फिर भी उसका लोभ शान्त नहीं होता। जिस जीव के विषयों में सुखबुद्धि छूटकर चैतन्यसुख का स्वाद आया हो, यथार्थ में तो उसी जीव के परिग्रह का लोभ छूटता है।

अरे, धन की प्राप्ति अनेक दुःखों को देती है, प्राप्त धन की रक्षा करने में भी दुःख ही होता है और जब धन चला जाता है, तब भी दुःख ही देता है। समस्त पर पदार्थों की स्थिति भी इसी प्रकार की है। अतः सर्वथा दुःख के कारणभूत धनादि पर पदार्थों की ममता को धिक्कार है।

हे जीव ! तू धन का लोभ घटाने के लिए धर्म-प्रभावनार्थ उसका दान कर .... यही उत्तम मार्ग है। दान बिना गृहस्थपना तो परिग्रह के भार से दुःख ही देने वाला है। लोभ तो पाप को बढ़ाने वाला होने से निंद्य है और दानादि शुभ कार्य श्रावक के लिए प्रशंसनीय हैं।

हे भव्य ! तू सम्यक्त्व के पश्चात् व्रतों को भी धारण कर। जबतक सर्वसंग त्यागी मुनिपना न हो सके, तबतक एकदेश त्यागरूप व्रत तो अवश्य धारण कर।

परिग्रह के लोभ वश जीव न्याय-मार्ग छोड़कर अनेक पाप करता है, दया रहित होकर झूंठ बोलता है, चोरी करता है आदि सभी पाप करता है।

30

उदित और मुदित

देशभूषण और कुलभूषण कुछ भव पूर्व उदित और मुदित नाम के सगे भाई थे। उनकी माता का नाम उपभोगा था, वह दुराचारिणी थी और वसु नाम के दुष्ट पुरुष के साथ प्रेम करती थी। मोहवश उस दुष्ट वसु ने उसके पति को मार डाला तथा विषयांध माता उपभोगा ने अपने दोनों पुत्रों को भी मारने के लिए वसु से कहा – ''ये दोनों पुत्र अपने दुष्ट कर्म को समझ जावें, इसके पूर्व ही तुम इन्हें मार डालो।''

अरे रे, विषयांध संसारी ! विषयों में अंधी हुई माता अपने सगे पुत्रों को भी मारने के लिए तैयार हो गयी; परन्तु उसके इस दुर्विचार को उसकी पुत्री समझ गयी और उसने अपने दोनों भाई उदित-मुदित को बताकर सावधान कर दिया। इससे क्रोधित होकर उन दोनों भाईयों ने वसु को मार डाला और वह मरकर क्रूर भील हुआ।

फिर वे उदित-मुदित दोनों भाई एक मुनिराज के उपदेश से वैराग्य प्राप्त कर मुनि हो गये। वे सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखरजी की यात्रा को जाते समय रास्ता भूल गये और घोर जंगल में भटक गये। वहाँ पूर्व भव का बैरी क्रूर भील उन्हें पहचान गया और मारने को तैयार हो गया।

इस उपसर्ग के प्रसंग को समझकर उदित मुनि ने मुदित मुनि से कहा –

''हे मुनि ! देह भी छूट जाये ऐसे भंयकर उपसर्ग का प्रसंग आया है, परन्तु तुम भय मत करना, क्रोध भी मत करना, क्षमा में स्थिर रहना; पूर्व में हमने जिसे मारा था, वह दुष्ट वसु का जीव, भील होकर इस समय हमें मारने आया है....परन्तु हम तो मुनि हो गये हैं, अपने को शत्रु-मित्र क्या ? इसलिए तुम आत्मा की वीतराग-भावना में ही दृढ़ रहना।

उसके उत्तर में मुदित मुनि कहते हैं – अहो मुनिवर ! हम मोक्ष के उपासक, देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने वाले, हमको भय कैसा ? देहादि मेरे नहीं हैं, मैं तो अतीन्द्रिय चैतन्य हूँ, मेरी अतीन्द्रिय शान्ति को हरनेवाला कोई है ही नहीं।'' – ऐसा कहकर वे दोनों मुनि अपनी आत्मशान्ति में एकाग्र हो गये। तब परम धैर्यपूर्वक दोनों मुनि देह के ममत्व को छोड़, परम वैराग्य से आत्मभाव में रम गये। भील उन्हें मारने के लिए शस्त्र उठाने लगा, ठीक उसी समय वन का राजा वहाँ पहुँचा और उसने भील को भगाकर दोनों मुनिराजों की रक्षा की।

वन का राजा पूर्वभव में एक पक्षी था, उसे शिकारी के जाल से इन दोनों भाइयों ने बचाया था, उस उपकारी संस्कार के कारण उसे सद्बुद्धि उपजी और उसने मुनियों का उपसर्ग दूर कर उनकी रक्षा की। उपसर्ग दूर होते ही दोनों मुनिराज श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा करके रत्नत्रय की आराधना करते हुए, समाधि-मरण पूर्वक स्वर्ग गये।

दुष्ट भील का जीव दुर्गति में गया और उसने घोर दुःख प्राप्त किया। उसके बाद कुतप के प्रभाव से ज्योतिषी देव हुआ।

अब वे उदित और मुदित (देशभूषण और कुलभूषण) दोनों भाइयों के जीव स्वर्ग की आयु पूर्ण कर सहोदर राजपुत्र हुए, उनके नाम थे – रत्नरथ और विचित्ररथ। भील का जीव भी ज्योतिषी देव की आयु पूर्ण कर इन दोनों का भाई हुआ। देखो, कर्म की विचित्रता ! किसको कहें बैरी, किसको कहें भाई !

इस समय भी पूर्व के बैर संस्कार से वह उन दोनों भाइयों के प्रति बैर रखने लगा। इससे दोनों भाइयों ने उसे देश निकाला दे दिया। वह दम्भी तापस हुआ और विषयांध होकर मरा। अनेक भवों में रुलते-रुलते फिर अग्निप्रभ नाम का ज्योतिषी देव हुआ।

इधर रत्नरथ और विचित्ररथ – ये दोनों भाई वैराग्य धारण कर राजपाट छोड़कर मुनि हुये....और समाधि-मरण पूर्वक स्वर्ग गये।

वहाँ से निकलकर वे दोनों भाई सिद्धार्थ नगरी के राजा के यहाँ देशभूषण और कुलभूषण नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। अपनी बहिन को देखकर अनजाने में दोनों भाई उसके रूप पर मोहित हो गये, उससे विवाह करने के लिए आपस में लड़ने लगे और एक-दूसरे को मारने के लिए तैयार हो गये। परन्तु जब पता चला कि अरे ! "जिसके लिए हम आपस में लड़ रहे हैं, वह तो हमारी बहिन है" – ऐसा पता चलते ही दोनों भाई अत्यन्त शर्मिन्दा हुये और संसार से उदास होकर नगर छोड़कर वन में चले गये और जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए।

जब वे आत्मध्यान में लीन थे, तब पूर्वभव का बैरी अग्निप्रभदेव उनके ऊपर उपसर्ग करने आया। और राम-लक्ष्मण ने उसे भगाकर उपसर्ग दूर किया, उपसर्ग दूर होते ही दोनों मुनियों को केवलज्ञान हुआ, अन्त में वे दोनों देशभूषण-कुलभूषण केवली देह की स्थिति पूर्ण होने पर कुंथलगिरि से मोक्ष पधारे। **उन्हें हमारा नमस्कार हो।**

(कहानी संख्या 16 से 30 के लेखक ब्र. हरिलाल जैन हैं। - आभार)

31

पुण्य-पाप की विचित्रता

(श्री महावीरस्वामी के समय में श्री जम्बूस्वामी से पूर्व हुए कामदेव पदवी धारक, तद्भव मोक्षगामी श्री जीवन्धरस्वामी का चरित्र)

ऊँचा-नीचा जो करे, उसको कहते कर्म।
कर्म रहित जो अवस्था, उसको कहते धर्म॥
पुण्य-पाप है कर्म, ऊँचा-नीचा वह करे।
धर्म कहें उसको प्रभू जो उत्तम सुख में धरे॥

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हेमांगद देश की राजपुरी नामक नगरी के राजा सत्यन्धर यद्यपि गूढ़ रहस्यों को जाननेवाले दूरदर्शी एवं विवेकी थे, तथापि होनहार के अनुसार वे अपनी रानी विजया पर इतने अधिक आसक्त थे कि वे सदा उनके ही साथ समय बिताया करते थे। इसी कारण उन्होंने एक दिन मंत्रियों के समझाने पर भी उनकी एक न मानी और राज्य की सम्पूर्ण सत्ता मंत्री काष्ठांगार को सोंप दी। – इसप्रकार राज-काज के कार्यों की उपेक्षा कर वे रानी के मोह में ही मग्न हो गये।

एक दिन रानी विजया ने रात्रि के पिछले प्रहर में तीन स्वप्न देखे – (1) एक बड़ा अशोक वृक्ष देखते-देखते ही नष्ट हो गया। (2) एक नवीन एवं सुन्दर अशोकवृक्ष देखने में आया। (3) आकर्षक आठ पुष्पमालाएँ दिखाई दीं।

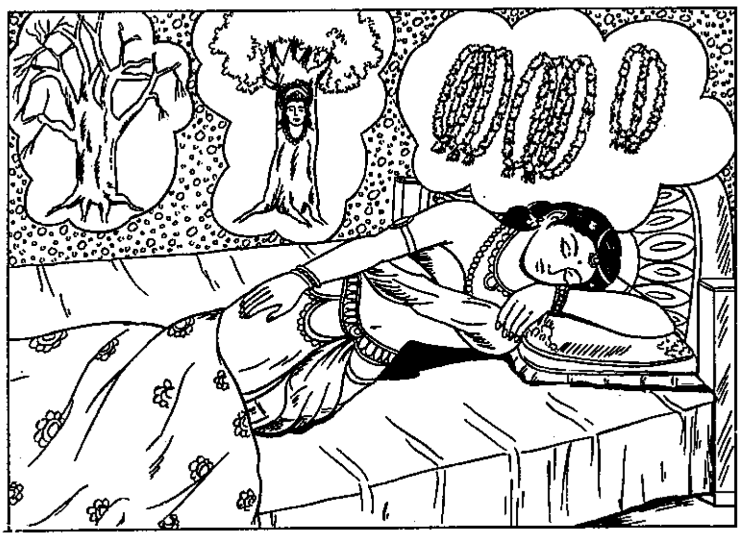

प्रात: रानी ने अपने नित्य कर्त्तव्यों से निबटकर राजा से स्वप्नों का फल पूछा। राजा ने प्रथम स्वप्न को छोड़कर शेष दो स्वप्नों का फल इस प्रकार बताया – (1) तुम्हें शीघ्र ही पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी एवं

(2) उसकी आठ सुन्दर और सम्पन्न घराने की कन्याओं से शादी होगी। राजा द्वारा प्रथम स्वप्न का फल न बताये जाने पर रानी ने अनुमान लगाया कि प्रथम स्वप्न के फल में अवश्य ही राजा का अनिष्ट गर्भित है; अतः वह अत्यन्त दुःखी हुई।

कुछ काल पश्चात् रानी को गर्भवती जानकर राजा ने अपना मरण निकट है – यह जान लिया; अतः उन्होंने गर्भस्थ शिशु एवं रानी की रक्षार्थ एक केकीयंत्र (एक प्रकार का वायुयान) बनवाया और रानी को केकीयंत्र में बिठाकर आकाश में घुमाने का अभ्यास प्रारम्भ किया।

इसी बीच काष्ठांगार को विचार आया कि "राज्य के सभी कार्य तो मैं ही निष्पन्न करता हूँ, फिर राजा सत्यन्धर कहलाए – यह कहाँ की रीति है; क्यों न मैं राजा का वध करके स्वयं ही राजा बन जाऊँ।" उसने अपना यह खोटा विचार " यह कहते हुए कि यह बात मुझे एक देव बार-बार कहता है" जब अन्य मंत्रियों को बताया, तब लगभग सभी मंत्रियों ने इस विचार का विरोध किया; परन्तु काष्ठांगार के साले मंथन ने उसके इस खोटे विचार का समर्थन किया और काष्ठांगार ने राजा सत्यन्धर को मारने के लिये सेना को आदेश दे दिया।

सेना द्वारा अपने पर आक्रमण के समाचार सुनकर राजा ने सर्वप्रथम रानी एवं गर्भस्थ पुत्र के रक्षार्थ रानी को केकीयन्त्र में बिठाकर यंत्र को आकाश मार्ग से अन्यत्र भेज दिया। भेजने के पूर्व राजा ने रानी विजया को कुछ आवश्यक उद्‌बोधन दिया, जो इसप्रकार है –

"हे रानी ! तुम शोक मत करो। जिसका पुण्य क्षीण हो जाता है, उसको उदय में आये पाप कर्म के फल में प्राप्त दुःख को तो भोगना ही पड़ता है। अपना भी अब पुण्य क्षीण हो गया है और पाप का उदय आ गया है। अतः हम पर दुःख और आपत्तियों का आना तो अनिवार्य ही है।

जिसप्रकार क्षणभंगुर जल का बुलबुला अधिक देर तक नहीं टिक सकता, उसीतरह यौवन, शरीर, धन-दौलत, राज-शासन आदि अनुकूल संयोग भी क्षणभंगुर ही हैं। इस कारण इन अनुकूल संयोगों का वियोग होना अप्रत्यासित नहीं है। अतः तुम शोक मत करो। यद्यपि यह सब मेरे मोहासक्त

होने का ही दुष्परिणाम है; पर.... .... जो होना था वही तो हुआ है। तुम्हारे स्वप्नों ने पहले ही हमें इन सब घटनाओं से अवगत करा दिया था। स्वप्नों के फल यही तो दर्शाते हैं कि अब अपना पुण्य क्षीण हो गया है; अतः वस्तु स्वरूप का विचार कर धैर्य धारण करो।'' – इसतरह राजा ने रानी को समझाया।

रानी को केकीयन्त्र में बिठाकर यंत्र को आकाश मार्ग से भेजने के बाद राजा को स्वयं अपनी ही सेना से युद्ध करना पडा। कुछ समय पश्चात् युद्ध की व्यर्थता को जानकर राजा विरक्त हो गये और सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग कर स्वर्ग में देव हुए।

केकीयन्त्र ने गर्भवती रानी विजया को राजपुरी की श्मशान भूमि में पहुँचा दिया। वहीं रानी ने जीवन्धरकुमार को जन्म दिया। उसी समय चम्पकमाला नामक देवी ने धाय माँ के वेश में आकर रानी से कहा कि आप अपने पुत्र के लालन-पालन की चिन्ता छोड़ दो। उसका पालन-पोषण तो राजकुमारोचित्त ही होगा।

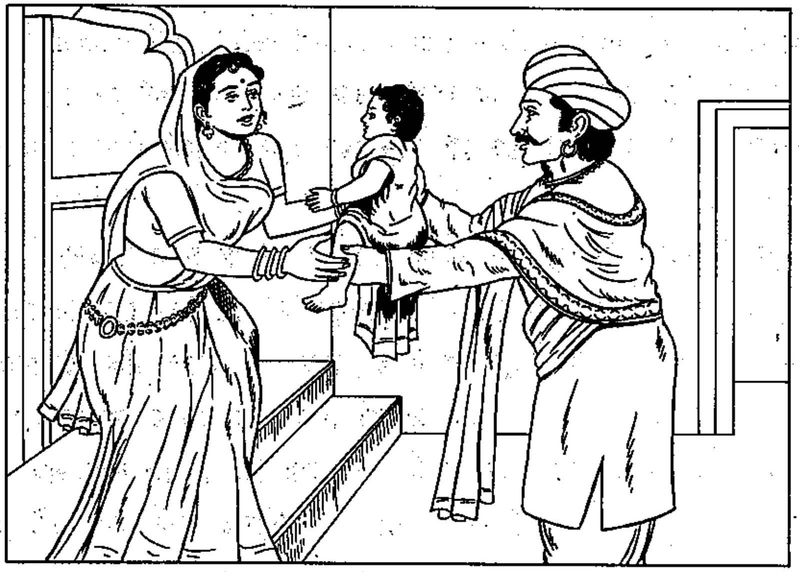

रानी ने पुत्र को राज मुद्रांकित अंगूठी पहनाई और स्वयं वहीं झाड़ियों में छिप गई। तभी गंधोत्कट सेठ अपने नवजात मृत पुत्र के अन्तिम संस्कार हेतु वहाँ आये और अवधिज्ञानी मुनि के वचनानुसार नवजात जीवित पुत्र को खोजने लगे। सेठ को राजपुत्र जीवन्धर मिल गये, वह राजपुत्र जीवन्धर को लेकर घर पहुँचा और अपनी पत्नी सुनन्दा से बोला कि ''अरे भाग्यवान् ! यह अपना पुत्र तो जीवित है, मरा नहीं है, अतः अब इसका भलीप्रकार लालन-पालन करो।''

सेठानी सुनन्दा भी यह जानकर खुश हुई कि अहा ! ''मेरा पुत्र जीवित है।''

पुण्य-पाप के उदय में भी कैसी-कैसी चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ बनती हैं ? कोई कल्पना

भी नहीं कर सकता। एक ओर ऐसा पापोदय, जिसके उदय में भयंकर एवं दुःखद प्रतिकूल परिस्थितियों की भरमार और दूसरी ओर पुण्योदय भी ऐसा कि मानवों की तो बात ही क्या ? देवी-देवता भी सहायक हो जाते हैं, सेवा में उपस्थित हो जाते हैं।

यद्यपि पापोदय के कारण जीवन्धरकुमार का जन्म श्मशान (मरघट) में हुआ, जन्म के पूर्व ही पिता सत्यन्धर स्वर्गवासी हो गये, माँ विजया भी असहाय हो गई; परन्तु साथ ही पुण्योदय भी ऐसा कि सहयोग और सुरक्षा हेतु स्वर्ग से देवी भी दौड़ी-दौड़ी आ गई।

पुण्यवान जीव कहीं भी क्यों न हो, उसे वहीं अनुकूल संयोग स्वतः सहज ही मिल जाते हैं। विजयारानी के प्रसव होते ही तत्काल चम्पकमाला नामक देवी धाय के भेष में वहाँ श्मशान में जा पहुँची। उसने अपने अवधिज्ञान से यह जाना कि – इस बालक का लालन-पालन तो राजकुमार की भाँति शाही ठाट-बाट से होने वाला है। अतः देवी ने विजयारानी को आश्वस्त किया कि आप इस बालक के पालन-पोषण की चिन्ता न करें। इस बालक का पालन-पोषण बड़े ही प्यार से किसी कुलीन खानदान में रहकर धर्मप्रेमी श्रीमन्त दम्पत्ति द्वारा योग्यरीति से होगा। देवी द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार ही जीवन्धरकुमार सेठ गन्धोत्कट और उसकी सेठानी सुनन्दा के घर सुखपूर्वक रहते हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति वृद्धिंगत होने लगे। उधर विजयारानी भी वन में तपस्वियों के आश्रम में जाकर धर्म आराधना करते हुए अपने मानव जीवन को सफल करने लगीं। कुछ काल पश्चात सुनन्दा ने नंदाढ्य नाम के पुत्र को जन्म दिया। नंदाढ्य के साथ ही जीवन्धर का लालन-पालन हुआ और आर्यनन्दी नामक गुरु के पास जीवन्धर का विद्याभ्यास हुआ, जिससे वह थोड़े ही समय में उद्‌भट विद्वान बन गया।

एक दिन आर्यनन्दी ने (जो इसी भव में इससे पहले मुनि थे और भस्मक व्याधि के कारण उन्हें अपने गुरु की आज्ञानुसार मुनि अवस्था का त्याग करना पड़ा था।) जीवन्धर को एक कथानक के बहाने अपना ही पूर्व वृत्तान्त सुनाया। जो इसप्रकार है –

"विद्याधरों के अधिपति एक लोकपाल नाम के न्यायप्रिय प्रजापालक राजा राज्य करते थे, वे स्वयं तो धर्मात्मा थे ही, प्रजा को भी समय-समय पर धर्मोपदेश दिया करते थे। एक बार राजा लोकपाल ने धनादि वैभव से उन्मत्त हुए अपने प्रजाजनों को उनके वैभव की मेघों की क्षणभंगुरता से तुलना करके उनके वैभव एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का ज्ञान कराया तथा स्वयं भी क्षणभंगुर मेघमाला देख कर इस क्षणिक संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये। अकस्मात उन्हें महाभयंकर भस्मक रोग हो गया। अतएव अपना मुनिलिंग छेद कर रोग शमन के लिए भोजनार्थ यंत्र-तत्र

भटकने लगे। एक दिन वे गन्धोत्कट सेठ के यहाँ भोजन की इच्छा से उनकी भोजन शाला में गये, वहाँ तुम भी भोजन कर रहे थे। तुमने उनकी भोजनेच्छा को समझ लिया। तब तुमने रसोइया को उन्हें भोजन कराने का निर्देश दिया। भोजनशाला में जितनी खाद्य सामग्री थी उसको खा लेने पर उसकी भूख शान्त नहीं हुई। तब तुमने अपने भोजन में से कुछ भोजन उन्हें दे दिया, उसमें से एक ग्रास खाते ही उसका भस्मक रोग तुरन्त ही शान्त हो गया। तब उसने इस उपकार के बदले तुम्हे उद्भट विद्वान बनाने का निर्णय लिया।''

इस कथानक को सुनकर जीवन्धरकुमार समझ गये कि यह वृत्तान्त मेरे गुरुवर्य श्री आर्यनन्दीजी का ही है। इसके पश्चात् आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार को उनके पिता राजा सत्यन्धर, सेठ गन्धोत्कट और दुष्ट काष्ठांगार का वास्तविक परिचय दिया। वस्तुस्थिति जानकर जीवन्धरकुमार काष्ठांगार की दुष्टता पर अत्यन्त क्रोधित हुए और काष्ठांगार को मारने के लिये उद्यत हो गये।

पर गुरु आर्यनन्दी ने एक वर्ष तक काष्ठांगार को न मारनेरूप गुरुदक्षिणा जीवन्धरकुमार से ली। तथा अपने ऊपर किये गये उपकार का कृतज्ञता पूर्वक बदला चुकाकर अर्थात् जीवन्धर को उद्भट विद्वान बनाकर आर्यनन्दी ने पुनः मुनिदीक्षा धारण की और उसी भव से मोक्ष पधारे।

राजपुरी नगरी में ही एक नन्दगोप नाम का ग्वाला रहता था। एक दिन कुछ भीलों ने उसकी गायें रोक लीं। तब दुःखी होकर उसने राजा काष्ठांगार से गायें छुड़ाने के लिये पुकार लगाई। राजा ने अपनी सेना भीलों से गायें वापिस लाने के लिये भेजी, पर जब सेना भी गायें वापिस लाने में समर्थ नहीं हुई तब नन्दगोप ने नगर में घोषणा कराई कि ''जो व्यक्ति मेरी गायें छुड़ाकर लायेगा उसे सात सोने की पुतलियाँ पुरस्कार रूप में दूँगा और साथ ही अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दूँगा।'' जीवन्धर ने घोषणा करनेवालों को रोका और स्वयं जंगल में जाकर भीलों से गायें छुड़ा लाये। तदनन्तर नन्दगोप की कन्या का विवाह अपने मित्र पद्मास्य के साथ सम्पन्न करा दिया।

राजपुरी नगरी में ही श्रीदत्त नाम के एक वैश्य रहते थे। वे एकबार धन कमाने के उद्देश्य से

नौका द्वारा अन्य द्वीप में गये हुए थे। धनार्जन के पश्चात् जब वे वापिस लौट रहे थे, तब भारी वर्षा के कारण जब नौका डूबने लगी, तब श्रीदत्त नौका पर बैठे हुए शोकमग्न व्यक्तियों को समझाते हैं कि यदि आप लोग विपत्ति से डरते हो तो विपत्ति के कारणभूत शोक का परित्याग करो।

"हे विज्ञ पुरुषो ! शोक करने से विपत्ति नष्ट नहीं होती, बल्कि यह विपत्तियों का ही बुलावा है, विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयता है और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों के ही होती है, अतः तुमको तत्त्वज्ञान प्राप्त करके निर्भय होना चाहिए। तत्त्वज्ञान से ही मनुष्यों को इस लोक व परलोक में सुखों की प्राप्ति होती है।"

श्रीदत्त आगे कहते हैं कि – "तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ एवं स्व-पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति होने पर दुःखोत्पत्ति की हेतुभूत बाह्य वस्तु भी वैराग्योत्पत्ति का कारण बन कर सुखदायक हो जाती है।" श्रीदत्त आत्मसम्बोधन करते हुए अपने आप से कहता है कि – "हे आत्मन् ! जिसप्रकार क्रोध लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों पर पानी फेर देता है, ठीक उसीप्रकार तृष्णा रूपी अग्नि उभय लोक को नष्ट करने वाली है।" इसप्रकार श्रीदत्त तो सम्बोधन करते रहे और नौका अतिवृष्टि के कारण समुद्र में डूब गई ; परन्तु श्रीदत्त स्वयं एक लकड़ी के सहारे किसी देश के किनारे पहुँच गये।

वहाँ एक अपरिचित व्यक्ति मिला, वह सेठ श्रीदत्त को किसी बहाने विजयार्ध पर्वत पर ले गया और वहाँ पहुँच कर कहा कि "वास्तव में तुम्हारी नौका डूबी नहीं है, वह तो सुरक्षित है। मैं गान्धार देश की नित्यालोक नगरी के राजा गरुड़वेग का सेवक हूँ, उनके साथ आपकी परम्परागत मित्रता है। उन्हें अपनी पुत्री के विवाह के लिये आपके सहयोग की अपेक्षा है। अतः उन्होंने मुझे आपको अपने पास लाने का निर्देश दिया था। समय का अभाव एवं अन्य उपाय न होने से मैंने आपके मन में नौका नष्ट होने का भ्रम उत्पन्न किया और आपको यहाँ ले आया हूँ। अब आप प्रसन्न होकर अपने मित्र गरुड़वेग से मिलिये और उनकी समस्या के समाधान में सहयोग दीजिये।"

श्रीदत्त सेठ और राजा गरुड़वेग का बहुत समय बाद मिलन हुआ, राजा गरुड़वेग ने श्रीदत्त को अपनी कन्या गन्धर्वदत्ता सौंपते हुए कहा – "राजपुरी नगरी में वीणा वादन में जो इसे जीतेगा वही इसका पति होगा।"

श्रीदत्त गन्धर्वदत्ता को लेकर घर आये और अपनी पत्नी को सब समाचार सुनाया। श्रीदत्त

ने राजाज्ञा लेकर स्वयंवर मण्डप की रचना की और राजपुरी नगरी में घोषणा कराई कि "जो मेरी कन्या गन्धर्वदत्ता को वीणा वादन में हरायेगा, वही उसका पति होगा।"

जब गन्धर्वदत्ता के साथ वीणा-वादन में सभी प्रत्याशी हार गये, तब जीवन्धरकुमार ने अपनी घोषवती वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता पर विजय प्राप्त की, परिणाम स्वरूप उनका विवाह गन्धर्वदत्ता से सम्पन्न हुआ। इस घटना से काष्ठांगार को ईर्षा उत्पन्न हुई, उसने उपस्थित सब राजाओं को जीवन्धरकुमार के विरुद्ध भड़काया और उन्हें जीवन्धरकुमार से युद्ध करने की प्रेरणा दी; पर सभी राजा युद्ध में जीवन्धरकुमार से पराजित हुए।

वसन्त ऋतु में एक दिन जीवन्धर जलक्रीड़ा देखने नदी किनारे गये हुए थे। वहाँ एक कुत्ते ने यज्ञ सामग्री को जूठा कर दिया था, जिसके कारण दुष्ट लोगों ने उस कुत्ते को मार-मारकर मरणासन्न कर दिया था। उस कुत्ते को जीवन्धरकुमार ने णमोकार महामंत्र सुनाया; जिससे वह कुत्ते का जीव मर कर यक्षेन्द्र हो गया। कृतज्ञतावश यक्षेन्द्र जीवन्धरकुमार के पास आया और उनसे बोला कि "मैं आपका सेवक हूँ, कृतज्ञ हूँ। आपत्ति के समय आप मुझे मात्र स्मरण कीजिये, मैं आपकी सेवा के लिये उपस्थित रहूँगा।" इतना कहकर यक्षेन्द्र चला गया।

इधर जलक्रीड़ा के लिये दो सखियाँ सुरमंजरी और गुणमाला भी आयी हुई थीं, उनके पास अपना-अपना एक विशेष प्रकार का चूर्ण था। जिसकी श्रेष्ठता पर उन दोनों में आपस में विवाद हो गया। विवाद समाप्त करने हेतु यह तय हुआ कि जिसका चूर्ण अनुत्कृष्ट होगा, वह नदी में स्नान किये बिना ही घर लौट जायेगी। चूर्ण का अनेक परीक्षकों ने परीक्षण किया पर कोई सही निर्णय पर नहीं पहुँच सका। अन्त में जीवन्धरकुमार ने प्रत्यक्ष परीक्षण कर गुणमाला के चन्द्रोदय नामक चूर्ण को सर्वोत्तम सिद्ध कर दिया। निर्णय जानकर सुरमंजरी अत्यन्त दुःखी हुई। गुणमाला के अनुनय-विनय करने पर भी स्नान किये बिना ही घर वापिस चली गई।

गुणमाला नदी में स्नान करने के पश्चात् जब घर लौट रही थी। तब वह मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी के घेरे में आ गयी। यह देखकर जीवन्धरकुमार ने अपने कुण्डल से तडित कर हाथी को वश में कर लिया और गुणमाला को संकट से मुक्त किया। सहज ही गुणमाला और जीवन्धरकुमार में परस्पर स्नेह हो गया। अतः उनके माता-पिता ने उन दोनों का उत्साह पूर्वक विवाह सम्पन्न करा दिया।

कुण्डल द्वारा हाथी को वश में करने के कारण काष्ठांगार जीवन्धर से बहुत अप्रसंन्न/क्रोधित था; क्योंकि वह मदोन्मत्त हाथी उनका था और अपमानित हाथी ने खाना-पीना छोड़ दिया था। काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को बन्दी बनाने के लिए गन्धोत्कट के घर पर सेना भेजी। जीवन्धरकुमार ने सेना से युद्ध करना चाहा; किन्तु सेठ गन्धोत्कट ने जीवन्धरकुमार को युद्ध करने से रोक दिया और उन्होंने स्वयं जीवन्धरकुमार के हाथ बाँधकर काष्ठांगार के पास भेज दिया। जीवन्धरकुमार के हाथ बँधे हुए देखकर भी क्रोधी काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को मारने के लिये सेना को आदेशित किया। जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही यक्षेन्द्र वहाँ उपस्थित हुआ और जीवन्धरकुमार को अपने साथ चन्द्रोदय पर्वत पर ले गया और वहाँ पर उनका विशेष आदर सत्कार किया। उन्हें निम्न तीन मंत्र दिये प्रथम मंत्र में – **इच्छानुकूल वेष बदलने की शक्ति थी**। दूसरे मंत्र में – **मनमोहक गाना गाने की शक्ति थी** तथा तीसरे मंत्र में – **हालाहल विष को दूर करने की शक्ति थी।** और कहा कि –"आप एक वर्ष में अपना राज्य प्राप्त करोगे और राज्य सुख भोगकर इसी भव से मोक्ष प्राप्त करोगे।"

चन्द्रोदय पर्वत से जीवन्धरकुमार तीर्थ वन्दना को निकले, मार्ग में क्या देखते हैं कि एक जंगल में भयंकर दावाग्नि लगी हुई है, उसमें हाथियों के समूह को जलते हुए देखकर उन्हें उनकी रक्षा का भाव उत्पन्न हुआ। पुण्यपुरुष जीवन्धरकुमार की भावनानुसार तथा हाथियों के पुण्योदयानुसार उसी समय मूसलाधार वर्षा हुई, जिससे हाथियों की रक्षा हो गई। सत्य ही कहा है कि – "**पुण्यवान की इच्छा सफल ही होती है।**"

तीर्थ वन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार चन्द्राभा नगरी पहुँचे। वहाँ के राजा धनमित्र की पुत्री पद्मा सर्पदंश से मरणासन्न अवस्था में थी। जीवन्धर ने 'विषहान मंत्र' से राजकुमारी पद्मा को सर्पविष से मुक्त किया। राजा धनमित्र ने प्रसन्न होकर जीवन्धरकुमार को आधा राज्य दिया एवं राजकुमारी पद्मा का उनसे विवाह कर दिया।

इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र से प्राप्त मंत्र शक्तियों का सदुपयोग करके परोपकार का कार्य ही किया। हमें भी ऐसा ही करना चाहिए, न तो उससे गर्व करना चाहिए और ना ही उसका दुरुपयोग करना चाहिए।

चन्द्राभा नगरी से तीर्थवन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार एक तापसी लोगों के आश्रम में पहुँचे। वहाँ मिथ्यातप करते हुए तपस्वियों को देखकर जीवन्धर को करुणा उत्पन्न हुई। उन्होंने उन तपस्वियों को वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान कराया एवं उन्हें जिनधर्म में प्रवृत्त किया।

आगे तीर्थ वन्दना करते हुए जीवन्धरकुमार दक्षिण देश के एक सहस्रकूट जिनमन्दिर में पहुँचे। उस मन्दिर के किवाड़ अनेकों वर्षों से बन्द थे। जीवन्धरकुमार ने मात्र भगवान की स्तुति प्रारम्भ की और मन्दिर के द्वार स्वयं ही खुल गये।

मन्दिर के सामने बैठा हुआ पहरेदार जीवन्धरकुमार के पास आया और बोला – "हे भाग्यवान! इस क्षेमपुरी नगरी में सेठ सुभद्र रहते हैं, मैं उनका गुणभद्र नाम का नौकर हूँ। सेठ सुभद्र के क्षेमश्री नाम की एक कन्या है। "ज्योतिषियों ने उसके जन्म के समय ही बताया था कि जिन भाग्यवान पुरुष के आने पर इस मन्दिर के किवाड़ स्वयं खुलेंगे, वही क्षेमश्री के पति होंगे।" अतः आप कृपया यहीं रुकिए, मैं शीघ्र ही सेठजी को यह शुभ समाचार देकर आता हूँ।"

समाचार मिलते ही सेठ सुभद्र मन्दिर में आकर जीवन्धरकुमार से मिलते हैं, सेठजी को मात्र उन्हें देखते ही उनकी विशेषताएँ ज्ञान में आ जाती हैं। वे जीवन्धरकुमार के साथ अपनी पुत्री क्षेमश्री का विधि पूर्वक विवाह सम्पन्न करा देते हैं।

जीवन्धरकुमार को क्षेमपुरी से तीर्थ वन्दना हेतु आगे जाते समय मार्ग में एक कृषक मिला, उन्होंने उसे धर्म का ज्ञान कराया और उसे व्रती-श्रावक बनाया तथा उसे पात्र जानकर अपनी शादी में मिले हुए सभी आभूषणों को दान स्वरूप देकर आगे बढ़ गये।

यात्रा की थकान मिटाने के लिये वे वन में एकान्त स्थान पर विश्राम कर रहे थे। इतने में ही

अनंगतिलका नाम की एक विद्याधरी युवती सामने आई और वह उन्हें देखते ही कामासक्त हो गई। उसने जीवन्धर को लुभाने के लिए स्त्रीजन्य मायाचारी के बहुत प्रयास किये; किन्तु जीवन्धर अडिग रहे। इतने में ही उस युवती को अपने पति की आवाज सुनाई पड़ी, जो उसके वियोग में पागल जैसा आर्तनाद करता हुआ उसी ओर आ रहा था। उसकी आवाज सुनते ही वह युवती वहाँ से चली गई। युवक को दुःखी देख जीवन्धरकुमार ने उसे बहुत समझाने का प्रयास किया, तथापि वह उसके वियोग में विह्वल ही रहा।

तदनन्तर जीवन्धर यात्रा करते हुए हेमाभा नगरी में पहुँचे और वहाँ के राजा दृढ़मित्र के अनुरोध से राजकुमारों को धनुर्विद्या की कला सिखायी। राजा ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या कनकमाला का विवाह जीवन्धरकुमार के साथ करा दिया।

कनकमाला से विवाह करने के पश्चात् जीवन्धर अनासक्त भाव से हेमाभा नगरी में निवास कर रहे थे कि उन्हें एक दिन उनके भाई नंदाढ्य के अकस्मात् आने का समाचार मिला। वे शीघ्र ही भाई नंदाढ्य से वहाँ मिलने गये और नंदाढ्य को पाकर प्रसन्नतापूर्वक उसके गले मिले। कुशलक्षेम पूछने के बाद उन्होंने नंदाढ्य से अकस्मात आने का कारण पूछा।

उत्तर में नंदाढ्य ने बताया कि – 'काष्ठांगार ने आपको मार डाला है।' यह ज्ञात होते ही मैं भाभी गन्धर्भदत्ता के पास गया। वहाँ भाभी को प्रसन्नचित्त देख मुझे इस बात का आश्चर्य हुआ कि आपके मृत्यु का समाचार जानकर भी भाभी कैसे प्रसन्न हैं ? आखिर क्यों ? पूछने पर पता चला कि उन्होंने अपनी विद्या के बल से यह सब पहले ही ज्ञात कर लिया था कि आप यक्षेन्द्र द्वारा सुरक्षित हैं और सुख-शान्ति से रह रहे हैं। फिर मेरी आपसे मिलने की इच्छा जानकर उन्होंने ही यहाँ मुझे विद्याबल से आपके पास भेज दिया है। इसतरह यहाँ जीवन्धरकुमार की छोटे भाई से भेंट भी हुई।

एक दिन जीवन्धरकुमार चोरों से गायों को छुड़ाने जंगल में गये, वहाँ अपने मित्र पद्मास्य आदि से भेंट हुई। प्रमुख मित्र पद्मास्य ने कहा "हम जब आपसे मिलने आ रहे थे तब मार्ग में ही एक आश्रम में विजयामाताजी के दर्शन हुए। माताजी ने जब हमारा परिचय पूछा तब हमने आपके मित्र होने की बात कही। आपको काष्ठांगार ने बन्दी बनाया था, यह सुनते ही वह मूर्छित हो गईं। मूर्छा दूर होने पर हमने बताया कि उसी समय आपकी यक्षेन्द्र ने रक्षा की थी और आप स्वस्थ और सुखपूर्वक हैं।"

अपनी जन्मदात्री माता जीवित हैं, यह जानकर जीवन्धर को उनसे मिलने की अतिशय जिज्ञासा एवं चिन्ता हुई। वे शीघ्र ही आश्रम में पहुँचकर माताजी से मिले। उन्होंने काष्ठांगार से अपना राज्य प्राप्त करने सम्बन्धी उनसे सलाह की तथा माताजी को आश्वासन दिया कि "मैं अब अल्पकाल में स्वयं राजा बनूँगा, आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।" तदनन्तर जीवन्धर ने माताजी को अपने मामा गोविन्दराज के यहाँ पहुँचा दिया और स्वयं ने राजपुरी नगरी की ओर प्रस्थान किया।

एक दिन श्री जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरी में भ्रमण करने गये, तब उनके पास एक गेंद आकर गिरी। यह जानने के लिए कि गेंद कहाँ से आई है उन्होंने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई तो एक सुन्दर युवती दिखाई दी। वे उस युवती के रूप-सौन्दर्य पर मोहित हो गये। इतने में ही उस कन्या के पिता सागरदत्त ने आकर जीवन्धर से कहा कि मुझे एक निमित्त ज्ञानी ने बताया था – "जिस मनुष्य के आगमन से जिस दिन बहुत समय से रखे हुए तुम्हारे रत्न बिक जायेंगे, वही मनुष्य मेरी कन्या का पति होगा।" आपके आगमन से मेरे सभी रत्न बिक गये हैं। अतः आप मेरी उस कन्या को स्वीकार करो। जीवन्धर की स्वीकृति जानकर सागरदत्त ने अपनी कन्या का विवाह जीवन्धरकुमार से करा दिया।

एक दिन बुद्धिषेण विदूषक ने जीवन्धर से कहा – "पुरुषों की छाया भी न सहने वाली मानिनी सुरमंजरी के साथ आप जब विवाह करेंगे, तब हम आपको पुरुषार्थी मानेंगे।" जीवन्धर ने सुरमंजरी से विवाह करने की योजना बनाई। यक्षेन्द्र के द्वारा "इच्छानुसार भेष बनाने" के प्रदत्त मंत्र से एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष का भेष बनाकर सुरमंजरी के महल में प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होंने मंत्र सिद्ध सर्वोत्तम गीत गाया; जिससे सुरमंजरी बहुत प्रभावित हुई। वृद्ध को विशेष ज्ञानवान जानकर उसने अपने इच्छित वर प्राप्ति का उपाय पूछा। वृद्ध ने कहा "कामदेव के मन्दिर में जाकर उसकी उपासना करने से तुम्हें इच्छित वर की प्राप्ति होगी।"

सुरमंजरी उस वृद्ध पुरुष के साथ कामदेव के मन्दिर में जाने को तैयार हो

गई। जीवन्धरकुमार की योजनानुसार उस कामदेव के मन्दिर में बुद्धिषेण विदूषक छिपकर बैठा था। सुरमंजरी ने पूजोपरान्त कामदेव से पूछा "मुझे इच्छित वर कब और कैसे मिलेगा।" सुरमंजरी की बात सुनकर छिपा हुआ बुद्धिषेण बोला "हे सुन्दरी ! इच्छित वर आपको प्राप्त हो चुका है, वह आपके साथ आपके पास ही है।" सुरमंजरी ने वृद्ध की ओर दृष्टि फेरी तो जीवन्धर को सामने खड़ा देखकर वह आश्चर्य में पड़ गई और लज्जित हो गई। तदनन्तर सुरमंजरी के पिता कुवेरदत्त जीवन्धर से उसका विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न करा देते हैं।

सुरमंजरी से विवाह करने के पश्चात् जीवन्धर अपने धर्म माता-पिता सुनन्दा एवं गन्धोत्कट के साथ सुखपूर्वक रहे। फिर अपने मामा गोविन्दराज के पास गये। गोविन्दराज अनेक दिनों से अपने भानजे जीवन्धर को राजा बनाने की योजनाओं पर विचार कर रहे थे। जीवन्धर के अपने घर पहुँचने पर गोविन्दराज के विचारों को और गति प्राप्त हुई। इसी समय दुष्ट काष्ठांगार का पत्र राजा गोविन्दराज के पास पहुँचा। उसमें लिखा था कि "महाराजा सत्यन्धर का मरण मदोन्मत्त हाथी के कारण हुआ था; तथापि मेरे पापोदय के कारण उनके मरण का कारण प्रजा मुझे मान रही है। अत: आप मुझसे आकर मिलोगे तो मैं निशल्य हो जाऊँगा।"

पत्र पढ़कर दुष्ट काष्ठांगार के खोटे अभिप्राय का पता गोविन्दराज को चल गया। गोविन्दराज ने भी अपनी कूटनीतिज्ञ चतुराई के साथ "काष्ठांगार के साथ हमारी मित्रता हो गई है"; ऐसा ढ़िढोरा पिटवा दिया और अपनी सेना के साथ राजपुरी नगरी के पास जाकर एक उद्यान में ठहर गये।

वहीं गोविन्दराज ने अपनी कन्या लक्ष्मणा के लिये स्वयंवर मण्डप की रचना की और घोषणा करा दी कि "जो चन्द्रकयंत्र को भेदन करेगा, उसी के साथ लक्ष्मणा का विवाह सम्पन्न होगा।"

घोषणा सुनकर अनेक धनुर्धारी राजाओं ने स्वयंवर मण्डप में आकर उस यंत्र को भेदन करने का प्रयास किया; पर सफलता किसी को नहीं मिली। अन्त में जीवन्धर आलातचक्र द्वारा उसका भेदन करने में सफल हुए। इस प्रसंग पर ही राजा गोविन्दराज ने जीवन्धर का यथार्थ परिचय सबको दिया – "जीवन्धर महाराजा सत्यन्धर के राजपुत्र और मेरे भानजे हैं।

जीवन्धरकुमार के इस परिचय से दुष्ट काष्ठांगार अत्यन्त भयभीत हुआ तथा राजा गोविन्दराज को दिए निमंत्रण पर पश्चाताप करने लगा; तथापि उसने अन्य राजाओं के बहकावे में आकर जीवन्धर के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। फलस्वरूप युद्ध में काष्ठांगार मारा गया। तब राजा

गोविन्दराज ने जीवन्धर का राजपुरी नगरी में वैभव के साथ राज्याभिषेक किया; जिससे सब को आनन्द हुआ। तदनन्तर गोविन्दराज ने अपनी कन्या 'लक्ष्मणा' का विवाह जीवन्धर के साथ हर्षोल्लासपूर्वक सम्पन्न करा दिया।

राजा जीवन्धर नीति-न्याय पूर्वक राजपुरी नगरी में राज्य करने लगे। कुछ समय पश्चात् राजमाता विजया और सुनन्दा ने पद्मा नामक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर ली और आत्म-साधना करने लगीं। राजा जीवन्धर ने तीस वर्ष तक निर्विघ्न रीति से राज्य किया। उनका प्रजा से पुत्रवत् व्यवहार था। प्रजा अत्यन्त सुखी और प्रसन्न थी। राज्य का कर चुकाना प्रजा को दान देने के समान आनन्दकारी लगता था।

एक समय राजा जीवन्धर बसन्त ऋतु में अपनी आठों रानियों के साथ जलक्रीड़ा करने के पश्चात् उद्यान में विश्राम कर रहे थे। तब वे देखते हैं कि एक बानरी अपने पति बन्दर का अन्य बानरी के साथ सम्पर्क देखकर रुष्ट और अप्रसन्न थी। उस बानरी को प्रसन्न करने के लिये बानर अनेक चेष्टाएँ कर रहा था। बन्दर ने एक कटहल का फल बानरी को देना चाहा, इतने में ही रक्षक माली ने आकर उस फल को छीन लिया। इस घटना का राजा जीवन्धर पर विशेष प्रभाव पड़ा और उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने सोचा कि कटहल के फल समान राज्य है। मैं माली के समान हूँ और काष्ठांगार बानर के समान है।

बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हुए जीवन्धर ने जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्र भगवान की पूजन की। वहीं चारण ऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मोपदेश सुनने के बाद अपने पूर्वभव के सम्बन्ध में पूछा।

मुनिराज ने बताया – "तुम पूर्वभव में धातकीखण्ड के भूमितिलक नगर में पवनवेग राजा के यशोधर नाम के पुत्र थे। तुमने वाल्यावस्था में क्रीड़ा करने के लिये हंस के बच्चों को पकड़ लिया था। पिता ने तुम्हें अहिंसाधर्म का स्वरूप समझाया। उसके पश्चात् तुम्हें अपने उस कार्य

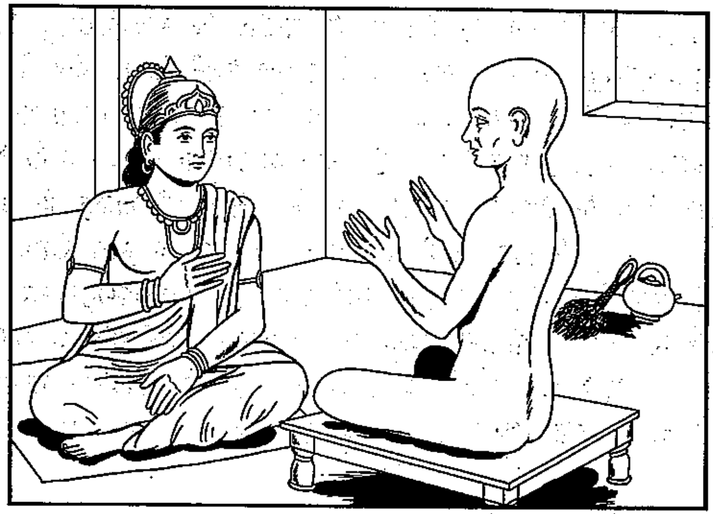

का बहुत पश्चाताप हुआ। पिता के रोकने पर भी तुमने जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। उस समय आपकी आठों पत्नियों ने भी आर्यिका के व्रत धारण कर तुम्हारा अनुकरण किया था, जिससे तुमने आठों देवियों सहित स्वर्ग में देव पर्याय धारण की। देव आयु पूर्ण कर इस राजपुरी नगरी के राजा जीवन्धर हुए और वे आठों देवियाँ तुम्हारी रानियाँ हुईं। तुमने पूर्वजन्म में हंस के बच्चों को माता-पिता और स्थान से अलग कर पिंजड़े में बन्द किया था। उसके परिणामस्वरूप तुमको अपने माता-पिता से अलग होना पड़ा और बन्धन में रहना पड़ा।''

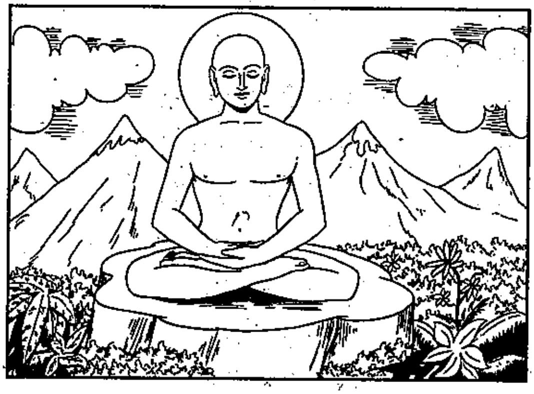

मुनिराज से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनकर राजा जीवन्धर की वैराग्य भावना वृद्धिंगत हुई और उन्होंने राजमहल में जाकर गन्धर्वदत्ता के पुत्र सत्यन्धर को राज्य भार सौंपा और भगवान महावीर के समवसरण में जिनदीक्षा धारण की। आपकी आठों रानियों ने भी अपना शेष जीवन आत्मकल्याण करने में लगा दिया।

मुनिश्री जीवन्धरस्वामी ने घोर तपश्चरण किया और एक दिन आत्मस्थिरतापूर्वक केवलज्ञान की प्राप्ति कर अन्त में रेवानदी के किनारे सिद्धवर कूट (मध्यप्रदेश) से सिद्धपद प्राप्त किया, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

– ब्र. यशपाल जैन

जो भव्य आत्माएँ अष्टकर्म रहित, अनन्त, अनुपम तथा लोकोत्तर मोक्षसुख की इच्छा रखते हैं; उनका कर्तव्य है कि वे दुर्मतिरूपी हस्तियों के नाश करने में समर्थ सिंह के समान परमसत्य, परमपवित्र अनादि-अनन्त 'जैनधर्म/जिनधर्म' को धारण करें। **–. क्षत्रचूड़ामणि, पृष्ठ - 561**

32

पशु से परमात्मा

(जो ऋषभदेव का पुत्र होकर मोक्ष गया)

भगवान ऋषभदेव का जीव पूर्व में वज्रजंघ राजा था, उस भव में उसने मुनियों को आहार-दान दिया था, तब अति विनम्रभाव से उसने मुनियों से पूछा– "हे नाथ ! यह मतिवर मंत्री वगैरह मुझे मेरे भाई के समान प्रिय लगते हैं। इसलिए आप कृपा करके उनके पूर्वभव का वृत्तान्त बताइये।"

तब मुनिराज ने कहा– "हे राजन् ! सुनो, यह मतिवर मंत्री का जीव पूर्वभव में विदेहक्षेत्र में एक पर्वत के ऊपर सिंह था। एक बार वहाँ का राजा प्रीतिवर्धन उस पर्वत पर आया और वहाँ पिहितास्रव नाम के मुनि को विधिपूर्वक आहार-दान कराया। सिंह (मतिवर मंत्री के जीव अथवा भरत चक्रवर्ती के जीव) को यह देखकर जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उससे वह सिंह अतिशय शान्त हो गया, फिर मुनिराज के उपदेश से उसने व्रत धारण करके संन्यास-मरण (समाधि-मरण) अंगीकार किया।"

जब मुनिराज पिहितास्रव ने उस सिंह के समाधि-मरण की सारी बात जान ली, तब राजा प्रीतिवर्धन से कहा– "हे राजन् ! इस पर्वत पर एक सिंह श्रावक व्रत धारण करके समाधि-मरण कर रहा है, वह निकट मोक्षगामी है, इसलिए तुम्हें उसकी सेवा करना योग्य है। वह सिंह का जीव अल्प भव में भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर का पुत्र भरत चक्रवर्ती होकर उस ही भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।"

वाह, सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के प्रति मुनियों को भी वात्सल्य भाव आता है। भरत चक्रवर्ती का जीव पूर्वभव में सिंह था, उससमय मुनिराज का आहार-दान देखकर वह बहुत आनन्दित हुआ और उसी समय जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उसके बाद उसने वैराग्य प्राप्त कर

संन्यास धारण किया, उसी समय मुनिराज ने एक राजा से उसकी सेवा करने के लिए कहा था।

मुनिराज के वचन सुनकर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने मुनिराज के साथ जाकर उस वैरागी सिंह को देखा। फिर राजा ने उसकी सेवा तथा समाधि में यथायोग्य सहायता की। सिंह को भव्यात्मा जानकर मुनिराज ने भी उसके कान में णमोकार मंत्र सुनाया।

"18 दिन तक आहार का त्याग करके पंचपरमेष्ठी के चिन्तन पूर्वक देह छोड़कर वह सिंह दूसरे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आयु पूर्ण कर यह तुम्हारा (व्रजजंघ राजा का) मंत्री मतिवर हुआ है। हे राजा ! अब आठवें भव में तुम जिस समय ऋषभदेव तीर्थंकर होगे, उसीसमय यह मतिवर मंत्री का जीव तुम्हारा पुत्र (भरत चक्रवर्ती) होकर उसी भव से ही मोक्ष प्राप्त करेगा।" –इसप्रकार मुनिराज ने राजा वज्रजंघ को मतिवर मंत्री के जीव का वृतांत बताया।

मतिवर मंत्री अपने भूत और भविष्य के भव की उत्तम चर्चा मुनिराज के श्रीमुख से सुनकर बहुत आनन्दित हुआ।

अन्त में राजा वज्रजंघ तो तीर्थंकर ऋषभदेव होकर व मतिवर मंत्री सम्राट चक्रवर्ती भरत होकर मोक्ष को प्राप्त हुए, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

– ब्र. हरिलाल जैन

मद्य-माँस-मधु तथा पाँच उदुम्बर फलों का निरतिचार त्याग – ये अष्ट मूलगुण हैं। **अण्डा भी पंचेन्द्रिय जीव का माँस ही है।** माँस को छोड़े बिना जो जीव धर्म की इच्छा करता है, वह मूर्ख जीव आँख के बिना नाटक देखने के इच्छुक अन्धे के समान है। **हे मित्र ! धर्म की प्राप्ति के लिए तू इन सभी का त्याग कर !**

द्यूत-क्रीड़ा, माँस, शराब, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री – इन सातों का सेवन महापाप रूप है और ये नरकों के सात द्वार हैं, इसलिए **हे भाई ! इन सात पाप-व्यसनों को तू सर्वथा छोड़ दे।**

33

पश्चाताप के आँसू

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सर्व समृद्धि से युक्त मगध देश है। इसी मगध देश में अति रमणीय राजगृह नाम का अतिमनोहर नगर है, जो अपनी शोभा से इन्द्र की राजधानी स्वर्गलोक की शोभा को भी लज्जित करता है इसमें महाप्रतापी एवं सर्व गुणालंकृत राजा श्रेणिक राज्य करते थे, उनकी शीलवान रानी चेलना थी। जिसका रूप-सौन्दर्य इन्द्राणीतुल्य अतुल एवं श्रेष्ठ था। वह बचपन से ही जिनधर्म के संस्कारों में पली थी। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उसे अटूट श्रद्धा थी।

राजा और रानी दोनों सर्व सम्पन्न थे और दोनों में पारस्परिक अनन्य प्रेम था, पर एक चिन्ता से दोनों सदा दुःखी रहते थे। महाराजा श्रेणिक का झुकाव बौद्धधर्म के प्रति था और रानी चेलना का समर्पण जैनधर्म के प्रति था। श्रेणिक चाहते थे कि चेलना कैसे बौद्ध बने और रानी चेलना चाहती थीं कि श्रेणिक कैसे जैनधर्म स्वीकार करें। दोनों अपने-अपने धर्मों की श्रेष्ठता सिद्ध किया करते थे।

एक बार रानी ने बौद्ध गुरुओं की परीक्षा की और अनेक प्रकार के तर्कों से उनके मत का खण्डन किया, उसके अकाट्य तर्कों के आगे क्षणिकवादी बौद्ध न टिक सके और हार गये। इस बात से श्रेणिक बहुत लज्जित हुए और उनके अन्दर अपमान के विद्वेष की ज्वाला भडक उठी, पर वे उससमय कुछ बोल न सके।

"वास्तव में गाढ़ मिथ्यात्व के अन्धकार में प्राणी की दृष्टि यथार्थता का अवलोकन नहीं कर पाती और अपात्र जीव को दिया गया उपदेश भी केवल सर्प को दूध पिलाने की तरह विषवर्धन ही करता है।"

(2)

सम्राट श्रेणिक को अनाथ-निरपराध मूक प्राणियों के शिकार का निन्दनीय शौक था। एक दिवस श्रेणिक घोड़े पर आरूढ़ होकर सामन्तों और शिकारी कुत्तों के साथ व्यसन पूर्ति के लिये चल पड़े। उन्हें देखकर समस्त वन के प्राणी भयाक्रान्त होकर इधर-उधर भागने लगे।

अरे ! रक्षक ही जहाँ भक्षक बना हो तो हे मूक प्राणियो ! तुम भागकर भी और किसकी शरण में जाओगे ?

अरे रे कुकृत्य ! एक ही बाण ने नवजात शिशु को दूध पिलाती हिरणी का प्राणान्त कर दिया। हाय ! इस पापी संसार में माँ और पुत्र के वियोग की दुःखभरी आह कौन सुने ?

आखेट में मदमस्त सम्राट शिकार खेलकर राजभवन की ओर लौटने लगे, सामन्तगण मरे हुए पशुओं को लादे और खूँखार कुत्तों को छुछकारते हुए चले जा रहे थे। श्रेणिक की दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेती हुई चारों तरफ घूम रही थी कि सहसा उनकी नजर एक नग्न प्राणी पर जा पड़ी, जिसकी कांति और मुखमण्डल की प्रभा सूर्यवत् उद्योत कर रही थी। 'यह कोई महान ऋषि ही ध्यान में लीन है' – ऐसा श्रेणिक को विश्वास हो गया।

ये ही महान ऋषि जैनमुनि यशोधर थे, जिनके सर्वांग से समरस धारा प्रवाहित हो रही थी। उनकी निष्पृह निर्लिप्त और शान्त-प्रकृति ने सम्पूर्ण वातावरण को शान्त और निष्तब्ध बना दिया था। मानों प्रकृति कोलाहल करके उनकी साधना में बाधक नहीं बनना चाहती हो। उनकी प्रतिकृति उपलवत् निश्चल एवं परम गम्भीर थी।

ऐसे उपशान्त और सुरम्य वातावरण में श्रेणिक की उपस्थिति कलंक की तरह खल रही थी।

"सामन्तो ! यह निश्चल ध्यान में लीन नग्न ऋषि कौन हैं ?"

– श्रेणिक ने अपने सामन्तों को बुलाकर पूछा।

सामन्तों ने हाथ जोड़कर कहा –

"राजन् ! ये ऋषि महारानी चेलना के गुरु निर्ग्रन्थ जैनमुनि हैं।"

यह कहने मात्र की ही देर थी कि श्रेणिक का सारा शरीर क्रोध से काँपने लगा, अन्दर में भयंकर विद्वेष की ज्वाला धधक उठी; अपमान के बदले की भावना उठ खड़ी हुई। आज रानी का गुरु मुझे मिला है, मैं भी प्रतिशोध लूँगा।

उन्होंने तत्काल गुस्से में तीक्ष्ण दाढ़ों वाले पाँच सौ शिकारी कुत्ते मुनिराज पर छोड़ दिये, मुनिराज के दिव्य प्रताप एवं शान्त मुद्रा से प्रभावित होकर कुत्ते सहज शान्त हो गये और उनकी प्रदक्षिणा देकर मंत्र से कीलित सर्प की तरह उनके चरण-कमल में बैठ गये।

जिसप्रकार शीतल घृत भी अग्नि पर डालने से उलटा जलाता ही है, उसी तरह इस घटना को देखकर श्रेणिक का हृदय और भी अधिक जल उठा। 'इस दुष्ट ने इन कुत्तों को मंत्र के द्वारा कीलित कर दिया है' ऐसा – सोचकर वे स्वयं क्रोध से मुनिराज की तरफ झपटे कि उनकी दृष्टि अचानक एक सर्प पर पड़ी, उसी को मारकर उन्होंने मुनिराज के ऊपर डाल दिया।

रे रे दुर्भाग्य ! श्रेणिक भी क्रोध और मतान्धता के मद में क्या अनर्थ कर बैठा, इसकी उसे खबर ही न थी। अरे रे ! ये तो समस्त जिनशासन पर उपसर्ग था। उसी समय इस भयानक रौद्रध्यान के परिणामस्वरूप उसने सातवें महातमप्रभा नरक में तेतीस सागर की महादुःखस्वरूप आयु का बन्ध कर लिया। **मिथ्यात्व के वश जीव क्या-क्या घोर पाप नहीं करता।**

बहुत समय से धधकती बैर की वासना की आग मुनिराज पर उंडेलकर श्रेणिक राजभवन की ओर चल पड़ा। बौद्ध गुरुओं को जब इस बात का पता चला तो उन्हें भी अपार हर्ष हुआ और वे भी इस पाप में भागीदार हो गये।

करुणामूर्ति मुनिराज यशोधर अपने पर अकारण उपसर्ग जानकर देह से उपयोग हटाकर शुद्धचिद्रूप में अन्तर्ध्यान हो गये। जिसप्रकार विपत्ति के समय कछुवा गहरे सागर में बैठ जाता है उसीप्रकार मुनिराज भी ज्ञानसिन्धु में समा गये।

(3)

राजकाज में व्यस्त रहने से महाराज श्रेणिक तीन दिन तक तो रानी चेलना के महल में न जा सके, जब चौथे दिन वहाँ पहुँचे तो कौतूहलपूर्वक हँसते-हँसते सारा वृत्तान्त रानी चेलना को कह सुनाया।

धर्मवत्सल चेलना यह बात सुनते ही काँप गई, आँखों में अन्धेरा छा गया, मानों उस पर कोई वज्रपात हो गया हो। उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी।

अरे रे धर्म पर उपसर्ग ! हाय-हाय, अरे नाथ ! ये आपने क्या अनर्थ किया, निष्पृह मुनिराज पर घोर उपसर्ग ! ये तो आपने अनन्त ज्ञानियों की विराधना का महापाप किया है, ये तो समस्त जिनशासन पर उपसर्ग किया है। हे नाथ ! एक जिनसूत्र की विराधना का फल नरक और निगोद की अपार वेदना है तो....

रानी के विलाप से दयार्द्र होकर श्रेणिक बीच में ही बात काटते हुए बोले –

"प्रिय ! तुम रंचमात्र शोक न करो, वह पाखण्डी साधु तो वहाँ से कब का चलता बना होगा, उसने अपने गले से सर्प भी निकालकर फेंक दिया होगा।"

महाराज की यह बात सुन चेलना विश्वास दिलाती हुई दृढ़ता से बोली –

"राजन् ! यह आपका भ्रम है, यदि वे मेरे पवित्र गुरु होंगे तो कभी भी वहाँ से चलायमान नहीं हो सकते। दिगम्बर मुनि परिषह सहन करने में शूरवीर होते हैं।"

अचल सुमेरु भी चलायमान हो जाय, जमीन-आसमान एक हो जाय, सागर भी अपनी सीमा छोड़ दे; पर धीर, वीर, गम्भीर मुनिराज उपसर्ग में अपनी साधना नहीं छोड़ सकते हैं।

नाथ ! क्षमाभूषण दिगम्बर सन्त तो पृथ्वी के समान अचल, सागर के समान गम्भीर, वायु के समान निष्परिग्रह, आकाशवत् निर्लेप, जल के समान स्वच्छ एवं मेघवत् परोपकारी होते हैं। सो ही मेरे गुरु हैं।

परिग्रही, पाखण्डी, विषयलम्पटी, माँसभक्षी मेरे गुरु नहीं।

प्रभो ! ऐसे निष्पृह वीतराग मुनिराज पर उपसर्ग करके आपने वृथा अपने को दुर्गति का पात्र बना लिया।

रानी के ऐसे वचन सुनकर श्रेणिक का हृदय भय से काँप उठा। मन मुनिराज के निकट जाकर प्रायश्चित करने के लिये तड़फने लगा। वे बार-बार अपने किये दुष्कृत्य पर पश्चाताप करने लगे.... मताग्रह के बंधन शिथिल पड़ गये, प्रगाढ़ मोहान्धकार धुन्धला हो गया, इस प्रकार मुनिराज के उपसर्ग की घोर वेदना का ख्याल आते ही करुणार्द्र श्रेणिक चेलना को साथ लेकर मुनिदर्शन के लिये चल पड़े।

उपसर्ग के कारण मुनिराज के सारे शरीर को चीटिंयों ने अपना घर बना लिया, पर मुनिराज यशोधर तो पूर्ववत्-शान्त और गम्भीर मुद्रा में ध्यानारूढ़ थे। श्रेणिक के इस जघन्य कृत्य को सम्पूर्ण उपवन धिक्कार रहा था, झरने आँसू बहा रहे थे, पशु आप्लावित नेत्रों से मुनिराज की ओर निहार रहे थे और पक्षी कलरव कर रहे थे, सारा वातावरण शोक-सन्तप्त था।

(4)

मुनिराज को देखते ही चेलना का हृदय रोमांचित हो उठा ! मुनिराज पर उपसर्ग देखकर उसकी आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी, पति का पाप उसकी आँखों में कौंध गया। वह अपने आपको धिक्कारने लगी। पुत्र अभयकुमार भी हाथ जोड़कर मुनिराज के चरणों में बैठ गया।

श्रेणिक ने भी जब मुनिराज को देखा कि मुनिराज तो पूर्ववत् ही स्तम्भ की तरह अडिग बैठे

हैं, मुखमण्डल बालकवत् निर्विकार है तो उन्हें देखते ही शर्म से उसका मस्तक झुक गया, हृदय पटल खुल गये, मन में भक्तिरस उमड़ पड़ा। अहो ! धन्य मुनिदशा ! धन्य वीतराग धर्म !!... और अश्रुपूर्ण नेत्रों से मुनिराज के गले से सर्प निकाला, फिर शरीर प्रक्षालन कर उपसर्ग दूर किया।

उसके बाद भक्ति युक्त हृदय से उन मुनिराज को बारम्बार नमस्कार करके सभी धर्म श्रवण की जिज्ञासा लिए उनके चरण-कमलों में बैठ गये।

उपसर्ग दूर हुआ जानकर मुनिराज का ध्यान टूटा और आँख खुली तो युगल दम्पति को देखकर सहज 'धर्मवृद्धि हो' – ऐसा दोनों को एक समान मंगल आशीर्वाद दिया, क्योंकि उन्हें तो –

"अरि-मित्र महल-मसान कंचन-कांच निंदन-थुतिकरन।
अर्घावतारन-असिप्रहारन में सदा समता धरन।।"

दोनों को एक-सा आशीर्वाद ! अहो, धन्य है वीतरागी सन्तों की अद्भुत क्षमा !! मुनिराज के समताभाव को देखकर श्रेणिक लज्जित हो गये। अपने कृत्य पर पश्चाताप करने लगे.... अरे रे ! मैंने मतान्ध होकर महान अपराध किया है।

श्रेणिक की पात्रता देखकर चेलना ने भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों में नमस्कार कर धर्म का उपदेश देने के लिये कहा। तब करुणामूर्ति मुनिराज यशोधर मृदु सम्बोधन करते हुए बोले –

"राजन् ! यह प्राणी मिथ्यात्व के वश होकर अनन्तकाल से अनन्त भवचक्रों में परिभ्रमण करता हुआ अपार दुःख भोग रहा है।

भाग्यवश काकतालीय न्याय से चिन्तामणि तुल्य यह मनुष्य पर्याय और उत्तम कुल मिला तो उसे कुगुरुरूपी लुटेरों ने लूट लिया। **अब सब प्रकार से उत्तम अवसर आ गया है, ऐसा अवसर मिलना कठिन है,** जीवन क्षणभंगुर है; इसलिये हे राजन् ! रत्नत्रय धर्म धारण करो। 'भगवान आत्मा' त्रिकालमुक्त है, उसके आश्रय से धर्म और आनन्द प्रगट होता है।

जिसप्रकार कोरा घड़ा एक-एक पानी की बूँद चूस लेता है, वैसे ही उपदेशामृत की एक-एक बूँद धर्मपिपासु श्रेणिक के कण्ठ में उतर रही थी, वह **मेंढे की भाँति टकटकी लगाकर मुनिराज की ओर निहार रहा था,** उसकी आँख से टप-टप आँसू टपक रहे थे, मन का मैल पश्चाताप के आँसुओं से धुल रहा था....। पश्चाताप से उनकी 7वें नरक की 33 सागर की आयु पहले नरक की 84 हजार वर्ष की रह गई।

जब मुनिराज ध्यानस्थ हो गये तो श्रेणिक और चेलना मुनिराज यशोधर और जिनशासन की जय-जयकार करते हुए मन में जिनधर्म प्रभावना का प्रण लेकर राजमहल की ओर चल दिये...

आज उन्हें सब कुछ नया-नया दिखलाई पड़ रहा था।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

हे वत्स ! तुम परमभक्ति से सम्यक्त्व को भजो !

वीतराग जिन-धर्म का सेवन छोड़कर मिथ्या धर्म के सेवन से जो मूढ़ जीव आत्म-कल्याण की इच्छा करता है, वह जीवन जीने के लिए जहर खाने वाले व्यक्ति के समान मूर्ख होता है।

बुद्धिमान (सम्यग्द्रष्टि) अल्प क्षयोपशम ज्ञान को पाकर उसका मद नहीं करता। अरे, अंग-पूर्व के महान श्रुत-धारकों के सामने मेरे इस अल्प ज्ञान की क्या तुलना है ?

विचित्र-अद्भुत सम्यग्दर्शन-कला के सामने लौकिक सुन्दर लेखनादि कला का अभिमान करना अशुभ है।

जिसप्रकार मलिन दर्पण में मुँह नहीं दिखता, उसीप्रकार मोह से मलिन मिथ्याश्रद्धा में आत्मा का सच्चा रूप नहीं दिखता, मुक्ति का मुँह उसमें नहीं दिखता।

जिसप्रकार निर्मल दर्पण में मनुष्य अपने रूप का अवलोकन करता है, उसीप्रकार उसके सम्यक्त्व रूपी निर्मल दर्पण में धर्मी जीव मुक्ति का मुँह देखता है, अपना सच्चा रूप देखता है।

- सकलकीर्ति श्रावकाचार से साभार

34

विराधना का प्रतिकार

(प्रभुदर्शन की भावना का फल)

आर्यखण्ड के मगध देश में राजगृह नामक नगर में महाधर्मवत्सल श्रेणिक राजा राज्य करते थे। नगर के ऊँचे-ऊँचे जिनालय उनकी शिखरों पर लहराती धर्मध्वजायें वीतराग धर्म का यशोगान चारों दिशाओं में बिखेर रही थीं। प्रजा परमधर्म वात्सल्य युक्त एवं सर्वसम्पन्न और न्यायप्रिय थी। ठीक ही है – **''यथा राजा तथा प्रजा''**

राजदरबार धर्म-धर्मात्माओं के लिये सदा खुला था। प्रजाजन सदा देवपूजा, सामायिक, स्वाध्याय में ही तत्पर रहते थे। सारा नगर समवसरणवत् धार्मिक वातावरण संयुक्त था।

इसी राजगृह नगर में धर्मवत्सल नागदत्त नाम के एक श्रेष्ठी निवास करते थे। उनकी भवदत्ता नाम की महाशीलवान और गुणवान सुन्दर स्त्री थी। दोनों दम्पत्ति दैनिक व्यवहार से निवृत्त हो शेष समय सामायिक, स्वाध्यायपूर्वक व्यतीत करते थे। सेठ नागदत्त का दोनों समय सर्व सांसारिक कार्यों से निवृत्त होकर सामायिक करने का विशेष नियम था। जिसे वे अनन्य श्रद्धा और भक्ति से पालन करते थे। सेठानी भी उनके धर्मकार्यों में हाथ बँटाकर उनकी साधक ही थी, न कि बाधक।

एकदिन दैनिक कार्यों से निवृत्त हो नागदत्त प्रतिदिन की भाँति भक्तिपूर्वक शान्त और एकान्त स्थान में सामायिक करने बैठ गये। सामने जलता हुआ दीपक देखकर उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक दीपक जलेगा तब तक निर्विघ्न सामायिक करता रहूँगा।

इधर सामायिक करते-करते उन्हें तृषा लग उठी और पानी का विकल्प सताने लगा। सेठजी ने सोचा – अभी दीपक बुझेगा तो सामायिक खत्म होने पर पानी पी लूँगा। विकल्प बार-बार आता, पर सेठजी धैर्य से सहन कर जाते। प्यास क्षण-क्षण तेज हो रही थी, धीरे-धीरे कण्ठ सूखने लगा और पानी की व्याकुलता होने लगी। दीपक जब टिमटिमाने लगा तो लौ धीमी पड़ गई, तब सेठजी को कुछ धैर्य हुआ।

अरे रे ! जरा-सा तृषा का विकल्प साधना में बाधक बन गया। **जैसी होनहार होती है, वैसा**

ही निमित्त मिल जाता है। जब दीपक बुझने लगा तो सेठानी ने सोचा कि दीपक बुझने से कक्ष में अन्धकार व्याप्त हो जायेगा। अतः उसने उसमें और तेल डाल दिया।

इसी प्रकार जब-जब दीपक बुझने लगे, तब-तब सेठानी उसमें तेल डालने लगी, यही क्रम चलता रहा।

वहाँ सेठजी के प्राण प्यास के कारण कण्ठगत होने लगे, पानी की व्याकुलता ने उन्हें अधीर बना दिया, सामायिक विस्मृत हो गई और उपयोग में पानी...पानी...पानी...घूमने लगा। इसी समय तीव्र आर्त्तपरिणामपूर्वक उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।

अहो ! जो आत्मसाधना आत्मा को परमात्मा बना देती है, उसकी विराधना ने उन्हें दुर्गति का पात्र बना दिया।

प्रतिज्ञा न लेने का तो दोष नहीं है, पर छोटी प्रतिज्ञा लेकर भी भंग करना महापाप है। धर्म तो शूरवीरों की साधना है, कायरों की नहीं। कोई बिरला जीव ही विपत्ति के समय साधना में अडिग रह पाता है। कर्म का उदय विचित्र है !

एक राज्य प्राप्त करने में जो पराक्रम चाहिये, उससे भी अधिक विशेष पराक्रम अपूर्व अभिप्राय सहित धर्मसंतति प्रवर्तने में चाहिये।

(2)

जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल भोगता है। धर्म की आराधना का फल जितना उत्कृष्ट है, विराधना का उतना ही निकृष्ट। होनहार बलवान होती है।

आर्त्तपरिणाम के फल ने थोड़े ही समय में सेठ को तिर्यञ्च गति का मेंढ़क बना दिया, पानी की चाह ने पानी का ही वासी बना दिया। कुछ दिनों में घर के समीप की वापिका में एक मेंढ़क उछलता-कूदता नजर आने लगा।

इधर सेठ के मरण से सेठानी शोकाकुल रहने लगी, दैनिक कार्यों में भी उसका मन नहीं लगता, वह अनेक प्रकार से अपना मन बहलाने लगी, कभी सखियों के साथ उपवन में केली करने चली जाती, कभी धर्मकार्यों में चित्त लगाती। पति के असीम स्नेह और धर्मपरायणता की उसे बार-बार याद आती। उसका चित्त कहीं न रमता।

अरे ! संसार की लीला विचित्र है ! कभी संयोग, कभी वियोग; संयोग में हर्ष, वियोग में शोक। **वास्तव में संयोग नहीं, संयोगाधीन बुद्धि दुःख का कारण है।**

अहो ! इस काल में मुमुक्षु जीव को संसार की प्रतिकूल दशाओं की प्राप्ति होना, यह उसे संसार से तरने में साधन है, वैराग्य का निमित्त है।

जगत में अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती, उन्हें परिणमित कराने का भाव मिथ्यात्व है।

अहो ! जगत का कण-कण स्वतंत्र है।

देखो, परिणामों की विचित्रता ! असीम वैभव के बीच रहनेवाला सेठ क्षण में वापिकावासी हो गया। एक दिन सेठानी, उसी वापिका में पानी भरने गई तो मेंढक ने उसे देख लिया, देखते ही उसे पूर्व-पर्याय का स्मरण हो आया।

अरे ! मैं अभागा सामायिक की विराधना करके पानी के विकल्प से आर्त्तपरिणाम करके मरा। अरे कहाँ सेठ ! और कहाँ पानी का मेंढ़क !! धिक्कार ! इस दुःखमय विचित्र संसार को, ये क्या हो गया ? किसे सुनाऊँ अपनी दुःखभरी व्यथा ! यहाँ कौन मेरी पुकार सुनेगा ? कौन मेरी भाषा समझेगा ? अहो ! कैसे समझाऊँ इस अपनी पत्नी को कि मैं ही तेरा अभागा पति हूँ।"

ऐसा विचार करते-करते मेंढक की आँखों में अश्रु की धार लग गई। पूर्व पर्याय का सारा वृत्तान्त उसे हस्तामलकवत् स्पष्ट दिख रहा था। वह पत्नी के प्रति असीम स्नेह को याद करके, शब्द करता हुआ उछल-उछल कर उसके वस्त्रों पर चढ़ने लगा। पत्नी को क्या खबर थी कि वह कौन है ? वह तो भय से उस मेंढक को पानी में ही धकेलकर घर चली गई।

अहो ! जिस पति के बिना एक क्षण भी न रहना चाहती थी, दिन-रात जिसकी याद में बेचैन रहती थी, अज्ञान में उसी के द्वारा अपने पति की ये दशा। रे रे संसार !!

"हे जीव ! इस क्लेशरूप संसार से विरत हो ! विरत हो !! कुछ विचार कर, प्रमाद छोड़कर जागृत हो ! जागृत हो !! नहीं तो चिन्तामणि रत्न जैसी यह मनुष्य देह निष्फल चली जायेगी।"

इसी प्रकार सेठानी जब-जब वापिका में पानी भरने जाती, तब-तब मेंढक उछल-उछल कर सेठानी की ओर दौड़ता, सेठानी उसे पानी में ही धकेलकर घर चली आती – यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा।

एक दिन सेठानी मन को बहलाने अपनी सहेलियों के साथ उपवन में गई थी, वहाँ केली करते-करते अचानक उसकी दृष्टि एक शिला पर विराजमान **सुव्रत** नामक अवधिज्ञानी वीतरागी मुनिराज पर पड़ी, मुनिराज सामायिक में ध्यानस्थ थे। उनको ध्यानस्थ अवस्था में देख सेठानी को अपने ध्यानस्थ पति की याद आ गई, उसकी आँखों में आँसू डबडबा आये, वह पति के विरह का दुख भुलाने सखियों के साथ मुनिराज के पास गयी।

ध्यान से हटने पर मुनिराज ने सबको धर्मवृद्धि का मंगल आशीर्वाद दिया, सेठानी ने मुनिराज को अवधिज्ञानी जानकर अपनी सम्पूर्ण व्यथा कह डाली और बोली –

"हे करुणानिधि ! मैं जब-जब अपनी वापिका में पानी भरने जाती हूँ तो एक मेंढक शब्द करता हुआ उछल-उछल कर मेरे ऊपर आता है, मुझे भी उस पर अपार स्नेह उमड़ता है, क्या कारण है ? कृपया इसका सम्बन्ध कहिये।"

अवधिज्ञानी मुनिराज भी करुणापूर्वक समझाते हुए बोले –

"पुत्री ! वह तुम्हारे पति का ही जीव है, आर्त्तपरिणामपूर्वक मरण से निकृष्ट बंध हो गया, उसे पूर्व पर्याय का जातिस्मरण हो गया है, वह पूर्व सम्बन्ध को जानकर स्नेह से तुम्हारे पास आता है, वह पात्र जीव है, अल्पकाल में अपने परिणामों को सुधारकर उत्तम गति की प्राप्ति करेगा।"

सेठानी ने जब यह जाना तो उसे संसार की दशा का विचार आया और वह मेंढक को पति का जीव जानकर आप्लावित नेत्रों से उसे सम्मानपूर्वक अपने घर ले आयी तथा पतिवत् स्नेह से उसका पालन करने लगी।

(3)

जब भव्यजीवों का भाग्य पकता है तो सहज कालयोग से महापुरुषों का गमन उस ओर हो जाता है। राजगृही के पवित्र अंचल ने वह योग्यता प्राप्त कर ली तो विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर स्वामी के समवसरण का आगमन हुआ।

समवसरण के आते ही दूर-दूर तक सुकाल हो गया, समस्त ऋतुओं के फल-फूल एक साथ आ गये, अन्धों को दिखने लगा, बहरे सुनने लगे, गूँगे बोलने लगे और लंगडे चलने लगे, रोगी रोगमुक्त हो गये। तीर्थंकर के पुण्य परमाणु कण-कण में फैल गये। अहो धन्य भाग्य !

वनमाली ने समवसरण के आगमन का समाचार राजदरबार में जाकर राजा श्रेणिक को दिया

तो श्रेणिक का रोम-रोम पुलकित हो गया राजा श्रेणिक ने राजसिंहासन से नीचे उतरकर भगवान को स्मरण करते हुए सात कदम चलकर अष्टांग नमस्कार किया तथा माली को बहुमूल्य पुरस्कार देकर विदा किया।

भव्यजीवों के हृदय-कमल को प्रफुल्लित करने वाले भगवान महावीर के आगमन की सूचनारूप आनन्द भेरी सारे नगर में राजा श्रेणिक ने बजवा दी। भगवान के आगमन का समाचार सुन प्रजाजन आनन्द-विभोर हो गये।

श्रेणिक जब धर्मश्रवण की उमंगों से भरकर विपुलाचल की ओर चले तो अपार जनसमूह आनन्द से नृत्यगान करता हुआ, उनके पीछे-पीछे चलने लगा। सारा नगर पूजन की सामग्री हाथों में लिये भगवान की जय-जयकार का उद्घोष करता हुआ समवसरण की ओर जाने लगा।

मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नर-नारी, पशु-पक्षी, सिंह-बाघ, गाय, कुत्ते-बिल्ली आदि समस्त प्राणी परस्पर के बैरभाव को भूलकर समवसरण की ओर जा रहे थे, वीतरागी का दरबार तो सदा सबके लिये खुला था, धन्य था वह दरबार ! धन्य थे वे भव्यजन ! और धन्य था वह पावन दृश्य !

मेंढक ने जब आनन्दभेरी सुनी और जय-जयकार करते हुए लोगों को जाते देखा तो पूर्वस्मरणज्ञान से उसके भी धर्मसंस्कार पुनः प्रस्फुटित हो गये, उसका मन भी जिनदर्शन के लिये तड़फने लगा, भगवान की भक्ति और पूजन का अपार उत्साह उसके हृदय में उमड़ने लगा, पर वह निरीह था... मूक था...असमर्थ था...कैसे भगवान के समवसरण में जाऊँगा ? – ऐसा विचारकर पश्चाताप करने लगा। अरे रे ! दुर्लभ मनुष्य पर्याय को मैंने वृथा गँवा दिया।

"हे आत्मन् ! तूने यदि यह मनुष्यत्व काकतालीय न्याय से प्राप्त किया है तो तुझे आत्मा का निश्चय करके अपना कर्त्तव्य सफल कर लेना चाहिये। तू देह की जितनी चिन्ता रखता है, उससे अनन्तगुणी चिन्ता आत्मा की रख, क्योंकि अनन्तभवों का अभाव एक भव में करना है। अनियमित और अल्प आयुष्यवाले इस देह में आत्मार्थ का लक्ष्य सबसे प्रथम कर्त्तव्य है।"

जब न रहा गया तो वह मेंढक भी मुख से एक पुष्प को दबाकर भक्ति के उत्साह में उछलता-कूदता हुआ समवसरण की ओर चल पड़ा। अपार भीड़ और हाथी-घोड़ों के बीच वह बचता

निकलता चला जा रहा था, भक्ति की धुन में उसे याद न रहा कि विपुलाचल पर्वत पर बीस हजार सीढ़ियों ऊपर समवसरण में मैं कैसे पहुँचूंगा ? मानों अभी तुरन्त ही भगवान के दर्शन और पूजन करूँ – ऐसी उमंग मन में लिये चला जा रहा था।

पर अरे ! गजराज पर गर्व से चलनेवालों को इसकी क्या खबर कि उनके पगतले कितने मूक प्राणी रोंदे जा रहे हैं।

रे रे दुर्भाग्य ! श्रेणिक के मदमाते हाथी ने उस निरीह मेंढक को पैर से कुचलकर उसका प्राणान्त कर दिया, उसकी जीवनयात्रा वहीं समाप्त हो गई। मेंढक की जीवन यात्रा तो समाप्त हो गई, पर उसकी भक्तियात्रा समाप्त न हो पायी और उस भक्ति के पवित्र परिणाम से क्षण में ही स्वर्ग का महर्द्धिक देव हो गया। सेठ की पर्याय में की धर्म विराधना का प्रतिकार मेंढक की पर्याय में कर लिया।

तत्काल अवधिज्ञान से भगवत् भक्ति के प्रभाव से देवपर्याय में उत्पाद जानकर अपनी ध्वजा में मेंढक का चिह्न स्थापित कर साक्षात् भगवान के दर्शन और जिनध्वनि श्रवण के लिये चल दिया। अहो ! धन्य है भगवद्भक्ति की महिमा ! जिसकी अनुमोदना मात्र से मेंढक क्षण में स्वर्ग का देव हो गया, तो उनके साक्षात् दर्शन और श्रवण के फलस्वरूप आत्मानुभूतिपूर्वक मुक्ति हो – इसमें क्या आश्चर्य है।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

सम्यग्दर्शन सहित जीव विशेष ज्ञान-व्रतादि बिना भी इन्द्र तीर्थंकर आदि विभूति पाते हैं।

ज्ञान-चारित्रादि का मूल सम्यग्दर्शन है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। उसके बिना ज्ञान और चारित्र अज्ञान और अचारित्र हैं, अतः मोक्ष के लिए निरर्थक हैं।

व्रत-चारित्र के बिना तथा विशेष ज्ञान के बिना अकेला सम्यक्त्व भी अच्छा है, प्रशंसनीय है; परन्तु मिथ्यात्व रूपी जहर से भरे हुए व्रत-दानादि अच्छे नहीं हैं। **– सकलकीर्ति श्रावकाचार से साभार**

35

सौतन की डाह

(विचित्रताओं से भरा सती चन्दना का जीवन चरित्र)

चंदना, महावीर की मौसी; उसने महावीर के साथ तत्त्वचर्चा पूर्वक सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और महावीर के जैसा ही शादी के बन्धन के बिना निर्बन्ध जीवन बिताने का निर्णय कर लिया, अन्तरंग में सम्यक्त्व रत्न से जिसका आत्मा विभूषित था तथा बाहर में उसकी कंचनवर्णी काया भी अत्यन्त मनोहर और सुन्दर थी। वैराग्यमय जीवन आत्मभावनापूर्वक मोक्षमार्ग की साधना में व्यतीत हो रहा था।

वह चंदना कुमारी एक दिन अपनी सखियों के साथ नगर के बाहर उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। उसके गुलाबी यौवन के रूप-सौन्दर्य पर आकर्षित होकर एक विद्याधर उसका अपहरण करके ले गया, परन्तु अपनी स्त्री के डर से उसने चंदना को कौशाम्बी के वन में ही छोड़ दिया और इसी घटना के साथ चंदना की कर्म-लीला प्रारम्भ हो गई। कहाँ वैशाली ?....और कहाँ कौशाम्बी ? वन में अपने आपको अकेला देखकर उसका हृदय काँपने लगा, किसी अशुभ होनहार की बात उसके हृदय में घूमने लगी। वन में एक वन-सरदार ने उसे फिर पकड़ लिया और ले जाकर एक वेश्या को सौंप दिया। अरे ! अचानक ये क्या से क्या हो गया ?

इस अद्भुत सुन्दरी को देखकर वेश्या ने सोचा कि वाह ! ऐसी सुन्दरी तो कौशाम्बी के लोगों ने कभी देखी भी न होगी। रूपबाजार में बेंचकर इसका बहुत धन मिलेगा। ऐसा सोचकर वेश्या सती चंदना को बेचने वेश्या बाजार में ले गई। **अरे रे ! इस संसार में पुण्य-पाप की कैसी विचित्रता है कि वेश्या के हाथों एक सती सरे बाजार बिक रही है। अपनी इस अशुभ होनहार को देखकर चंदना की आँखों से आँसू बहे जा रहे थे, वह मन ही मन पंचपरमेष्ठी का स्मरण करने लगी।** रे दैव ! जहाँ की महारानी मृगावती स्वयं चंदना की बहिन है, उस कौशाम्बी के वेश्या बाजार के बीच ही महावीर की मौसी एक दासी के रूप में बिक रही है।

वेश्या आतुरतापूर्वक किसी बड़े ग्राहक की राह देख रही थी, इतने में योग से नगरसेठ वृषभदेव वहाँ से निकले। सेठ सज्जन और उदार-प्रवृत्ति के थे। बाजार में खड़ी चंदना का रूप देखकर वे आश्चर्यचकित रह गये। अरे ! राजकुमारी जैसी यह कन्या यहाँ कहाँ से आयी ! और दासी के

रूप में क्यों बिक रही है ? उसकी निश्छल एवं निर्विकार मुद्रा को देखकर सेठ को लगा कि यह तो संकट में घिरी कोई खानदानी कुल की कन्या है। इसके मुख पर कोई विषय-लालसा का परिणाम भी नजर नहीं आता, यह भरे बाजार में वेश्या के रूप में बिक रही है – इसमें जरूर कोई रहस्य है ! इसको दुःख से छुड़ाऊँ, ताकि यह किसी दुष्टजीव के हाथ में न फँस पाये – ऐसा विचार कर सेठ उसके नजदीक गये और चंदना के सम्बन्ध में पूछताछ करने लगे।

सेठ को वेश्या के पास खड़ा देखकर नगरवासियों के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। अरे, नगर का धर्मात्मा यह वृषभदत्त सेठ, यहाँ वेश्या के पास इस रूपसुन्दरी की पूछताछ कर रहा है। क्या सेठ वृषभदत्त भी आत्मभान भूल कर इस पर मोहित हो गया है ? असम्भव ! तो फिर यह किसलिये बातचीत कर रहा है, इस तरह अनेक प्रकार का कौतुहल लोगों को हुआ।

'णमो अरिहंताणं....णमो अरिहंताणं....' – अरे ! यह कन्या तो णमोकार मंत्र का उच्चारण कर रही है, जरूर यह कोई संस्कारी जैन कन्या है; धन्य है इसको ! मेरे भी कोई सन्तान नहीं है, इसलिये घर ले जाकर इसको अपनी पुत्री की तरह पालन करूँगा – ऐसा विचार कर सेठ वेश्या को मुँहमाँगी स्वर्ण मोहरें देकर चंदना को ले गये। **धन्य है धर्मात्माओं का धर्म वात्सल्य।**

(2)

"प्रतिकूल प्रसंग मिलने पर ज्ञानी की ज्ञानचेतना विशेष जागृत हो जाती है। परीक्षा की घड़ी में वह तत्त्वविचार में सावधान हो जाता है। वह एक प्रेक्षक की तरह इस संसार की लीला देखता है। विरक्त हृदय से इन विषम परिस्थितियों में घबड़ाता नहीं है। धन्य है ज्ञानियों का अद्‌भुत चैतन्य-चमत्कार !"

घर में प्रवेश करते समय सेठ ने कहा – "पुत्री ! तू कोई खानदानी कन्या है, तुम्हारी निर्विकारी चेष्टा, तुम्हारे वस्त्र, तुम्हारे नेत्र, तुम्हारे खानदान की प्रसिद्धि करते हैं। बेटी ! यहाँ तू निर्भय होकर रहना। मैं जिनेन्द्र परमात्मा का अनुयायी श्रावक हूँ, यहाँ तू मेरी पुत्री की तरह रहना।"

दासी की तरह बिकने पर भी चंदना को लगा कि मानों कोई पूर्व जन्म का धर्मपिता ही उसे मिल गया हो। उसका मन एक श्रावक के घर आ जाने से बहुत संतुष्ट हुआ, उसके शीलधर्म की रक्षा यहाँ सुगम हो गई।

अहो ! जगत् के परमेश्वर की मौसी भी कर्मोदय से दासी बन गई ! सेठ-सेठानी को खबर नहीं कि यह दासी कौन है ? अरे ! एक धर्मात्मा राजकुमारी कर्मयोग से पर के घर दासी के रूप में सेवा करे। देखो, यह संसार की दशा !

"हे आत्मन् ! इस जगत में क्षणभंगुर जाति, कुल, रूप-सौंदर्य, धन, यौवन पर मद करने जैसा नहीं है। कर्मोदय से राजा भी क्षण भर में रंक हो जाता है।"

'स्त्रियों को संदेह खाते देर नहीं लगती और संदेह की कोई दवा नहीं होती।' सेठानी को भ्रम हो गया कि सेठजी इसके रूप-सौन्दर्य पर मोहित होकर इसे मेरी सौतन बनाने लाये हैं। नहीं तो घर में दासियों की क्या कमी थी ? वह चंदना को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखने लगी, उसे देखकर निरन्तर उसका कलेजा जलने लगा, वह डायन की तरह उसे डसने की सोचने लगी। वह योग्य अवसर की तलाश करने लगी। परन्तु सेठजी का उसके प्रति असीम स्नेह देखकर वह कुछ कर न सकी और अन्दर ही अन्दर कुढ़ती रही।

एक दिन सेठजी जब बाहर से कुछ थककर आये, तब सेठानी कहीं बाहर गई थी और कोई नौकर-चाकर भी हाजिर नहीं था। अतः हमेशा की भाँति चंदना पानी लाकर पिताजी के पग धोने लगी। पैर धोते समय चन्दना के बाल बिखर कर जमीन पर धूल में लिपट गये तो सेठजी ने वात्सल्य से पुत्री के बाल हाथ में उठाकर ऊपर कर दिये। उसी समय सेठानी सुभद्रा भी वहाँ आ पहुँची और यह देखकर उसके हृदय में आग लग गई, क्रोध से उसकी आँखें जलने लगी। उसका भ्रम मजबूत हो गया कि मेरी अनुपस्थिति में सेठजी इससे प्यार करते हैं। उसके सन्देह का भूत पराकाष्ठा पर पहुँच गया, द्वेष की आग सीमा पार कर गई। किसी भी तरह हो, इस सर्पिणी को घर से निकालना है; जब तक यह काँटा नहीं निकलेगा, तब तक मुझे चैन नहीं पड़ेगी।

"रे दैव ! तेरे भण्डार में भी क्या-क्या भरा है ! अपने किये कर्म का फल भोगे बिना नहीं छूटता। कर्म करते समय जीव पीछे नहीं हटता, पर उदय आने पर रोता है।"

"अपने किये शुभाशुभ कर्म का फल जीव को न मिले तो ब्रह्माण्ड शून्य हो जाये। अशुभ कर्म का फल न मिले तो नरक गति शून्य हो जाये। शुभकर्म का फल न मिले तो देवगति शून्य हो जाये और यदि शुद्धोपयोग का फल न मिले तो सिद्धगति शून्य हो जाये। ज्ञानी जीव नवीन कर्म करते नहीं और उदयागत कर्म से घबराते नहीं। वह अनेकों कर्म के थपेडे लगने पर भी अपने ध्रुव चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन एक पल भी नहीं छोड़ते।"

(3)

एक दिन सेठजी किसी कार्यवश अन्यत्र चले गये, तब सेठानी ने अनुकूल अवसर देखकर अपना कार्य सिद्ध करने की ठान ली। उसने चंदना को एकान्त में ले जाकर उसके बाल मुँडवा दिये। हाय ! रूपवन्ती राजकुमारी को विडरूप कर दिया। इतने पर भी उसकी डाह शान्त न हुई

तो उसके हाथ-पैरों में बेड़ियाँ डालकर भयानक कोठरी में उसे बन्द कर दिया और उसे अनेक नीच दुर्वचन सुनाये। उसका सम्पूर्ण खाना-पानी भी बन्द कर दिया, तब जाकर उसे कुछ चैन पड़ी। अरे रे ! **सौतन की डाह** ने ये क्या अनर्थ कर दिया ! रे, विचित्र संसार ! निर्दोष चंदना पर भी ये अत्याचार !!

अहो ! ऐसी विषम परिस्थिति में भी चंदना का धर्म न छूटा। उसने संयोग से चित्त हटाकर स्वभाव में जोड़ दिया और त्रिकालमुक्त शुद्धात्मा की धुन में देह-बन्धन और भोजन-पानी की भी सुध भूल गई। वह आत्मा की देहातीत निर्बन्ध दशा का विचार करने लगी। अहो ! ज्ञानियों को बन्धन कहाँ ? देह देह में, बन्धन बन्धन में, और भगवान आत्मा, भगवान आत्मा में ही निवास करता है। धन्य है ज्ञानियों की अन्तरंग दशा !!

एक दिवस हुआ....दो दिवस हुए....तीन दिवस बीत गये। पर सेठजी न आये और चंदना को भी न भोजन, न पानी....अहो ! उसके तो निरन्तर परमानन्द का ही भोजन था।

चौथे दिन जब सेठजी आये तो घर का वातावरण एकदम सुनसान था, मानों कोई मर गया हो; उन्हें कुछ अजीब-सा लगा। "चन्दना....बेटी चन्दना !...." पर चन्दना कहाँ ? वह तो कर्म की बेड़ियों में जकड़ी कालकोठरी में कैद थी। चंदना को न कहीं पाकर सेठजी चिंतित हो गये, कहाँ गई चंदना ? वह बिना पूछे तो कहीं जाती नहीं। तब उन्होंने सेठानी सुभद्रा से पूछा–

"सुभद्रा...! चंदना बेटी कहाँ है ?"

"मुझे नहीं मालूम, तुम्हारी लड़की का" – सेठानी कटाक्ष करती हुई बोली।

तब सेठजी दास-दासियों की ओर देखकर बोले –

"तुम सब उदास क्यों हो ? बोलते क्यों नहीं ? कहाँ गई चंदना ?"

अन्त में उन्होंने अत्यन्त उदास होकर एक वृद्ध दासी से पूछा – "चंदना कहाँ है ?"

उसने भी कोई जवाब न दिया, पर उसकी आँखें भर आयीं, वह एक दीर्घ निश्वास लेकर कोठरी की तरफ नजर करके चली गई।

सेठजी भी समझ गये कि जरूर कोई गम्भीर घटना घट गई है। कोठरी में जाकर देखा तो अवाक् रह गये, आँखों में अन्धेरा छा गया, मानों कोई दुःस्वप्न देख रहे हों....मुँडा हुआ सिर...हाथ-पैर में बेड़ियाँ...शरीर सूखकर विडरूप हो गया...सहसा उनके मुख से चीख निकल पड़ी – "चंदना बेटी ! बेटी चंदना !! बोलती क्यों नहीं ? किसने किया तेरा यह हाल ?"

उसकी दयनीय दशा देखकर सेठजी रो पड़े।

चंदना बोले बिना ही स्नेह भरे अश्रुपूर्ण नेत्रों से स्तब्धपने अपने धर्मपिता की ओर देखती रही।

सेठजी ने तुरन्त दरवाजा खोला और शीघ्र ही बेडियाँ तोड़ने लोहार को बुलाने चल पड़े...जाते-जाते उपवास के पारने के लिये उसे उबली हुई उडद और उबला हुआ पानी भी देते गये।

(4)

भावना संसार और मोक्ष की आधार-शिला है। आत्मभावना भाता हुआ जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है। भावना के अनुकूल फल आये बिना नहीं रहता। कहा भी है – "भावना भवनाशिनी।"

चंदना भावना भा रही थी कि कोई मुनिराज आहार के लिये आवें तो पहले उन्हें आहारदान देकर पश्चात् स्वयं पारणा करूँ, परन्तु 'मुझ अभागिन को ऐसा सौभाग्य कहाँ ?' – ऐसा विचारते-विचारते उसकी आँखों से आँसू टपकने लगे; लेकिन **भावना भी बलवान होती है, वह होनहार के अनुकूल फलती ही है।**

मुनिराज महावीर बार-बार कौशाम्बी में आहार के लिये आते, पर प्रतिज्ञा पूरी न होती और वापिस चले जाते। अन्त में आज पाँच माह पच्चीस दिन के उपवास के बाद मुनिराज महावीर पुनः कौशाम्बी में आहार के लिये पधारे।

मुनिराज महावीर वृषभदत्त सेठ के घर की तरफ ही आ रहे हैं, ऐसा देखकर चंदना का रोम-रोम हर्षानन्द से पुलकित हो गया...भक्ति से...आश्चर्य से उल्लसित हो उठा। पधारो...पधारो... प्रभु मेरे आँगन में पधारो। मुनिराज को अपनी ओर आता देखकर चंदना रोमांचित हो गई। वह अपना सब दुःख भूलकर प्रभु का सत्कार करने प्रमुदित होकर आगे बढ़ी।

आश्चर्य ! बन्धन स्वयमेव टूट गये....सिर पूर्ववत् सुन्दर बालों से सुशोभित हो गया...रूप-सौन्दर्य जगमगा उठा, सारा वातावरण ही एकदम पलट गया।

वह टकटकी लगाकर मुनिराज की ओर निहार रही थी, उसका बन्धन टूटने की ओर लक्ष ही न गया और हर्षविभोर हो मुनिराज का नवधा-भक्तिपूर्वक पडगाहन करने द्वार पर पहुँच गई। अहो ! पधारो...पधारो...प्रभु पधारो...हे नाथ ! मुझे कृतकृत्य करो।

तीर्थंकर मुनिराज के भी मानों सभी अभिग्रह आज पूर्ण हो गये, वे आकर चंदना के द्वार पर ठहर गये। चंदना के आनन्द का पार न रहा, उसने शीघ्र पडगाहन कर लिया और उबली हुई उडद से ही मुनिराज को पारणा कराने लगी। अहो ! धन्य दाता ! धन्य पात्र !! दाता और पात्र के उत्कृष्ट

पुण्ययोग से आहार सरस खीररूप परिणमित हो गया। इस मंगल प्रसंग को देखकर देवगण भी आकाश से जय-जयकार करते हुए पंचाश्चर्य / रत्नवृष्टि करने लगे, दुन्दुभी बाजे बजने लगे,

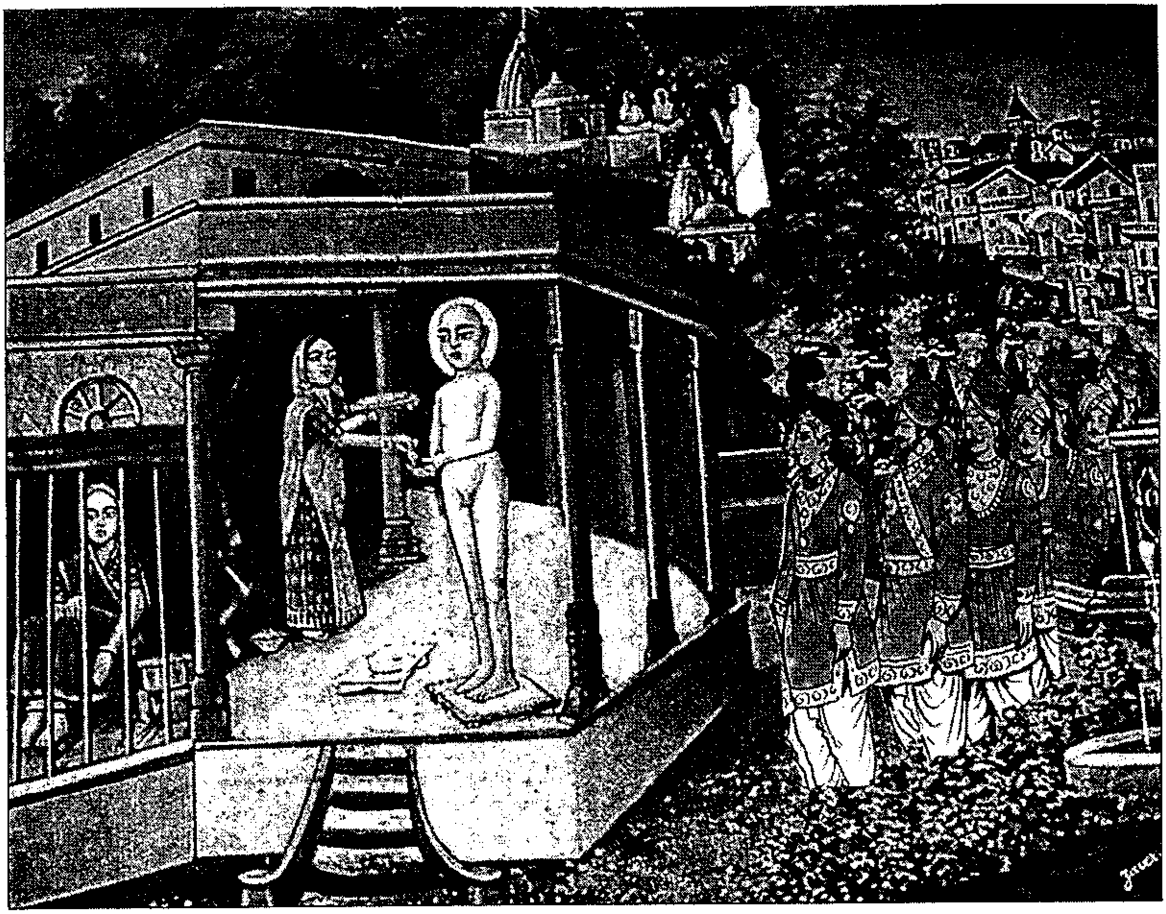

चारों ओर महान हर्षानन्द का मंगल वातावरण छा गया।

मुनिराज के आहारदान के प्रसंग का समाचार सुनकर सम्पूर्ण नगर का जनसमूह सेठ वृषभदत्त के घर की ओर उमड़ पड़ा, जय-जयकार से सारा वातावरण गुँजायमान हो गया।

यहाँ बेचारे सेठजी लोहार को साथ लिये शीघ्रता से घर की ओर आ रहे थे। रास्ते में कोलाहल और हर्ष से लोगों को भागते हुए देखकर सेठ ने पूछा –

"आप लोग प्रसन्नता से कहाँ भागे जा रहे हैं ?

तब लोगों ने सेठजी को देखकर आश्चर्य से कहा – "अरे सेठ ! तुम्हारे भाग्य खुल गये... तुम्हारे घर चंदना के हाथों मुनिराज महावीर का पारणा हुआ है... धन्य भाग्य तुम्हारे।" – यह सुनकर

सेठ के हर्ष का पार न रहा। क्या हुआ ? कैसे हुआ ? चंदना के बन्धन कैसे खुले ? उसने प्रभु का पारणा कैसे कराया होगा ? – यही विचारते हुए सेठ वृषभदत्त घर की ओर चल दिए।

घर पहुँचते ही सेठजी ने देखा कि वहाँ तो सम्पूर्ण वातावरण ही बदल गया है। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा रहा है। चंदना का रूप पहले से भी अधिक सुन्दर लग रहा है। धन्य भाग्य ! "बेटी चंदना तुम धन्य हो ! तुमने तो इस घर को पवित्र कर दिया ! तुम्हारे कारण इस कौशाम्बी का कलंक आज मिट गया, जो प्रभु के आहार न होने से हो रहा था। बेटी, तू तो साक्षात् देवी है !...जगत् पूज्य माता है !...अरे रे ! हमने आज तक तुझे न जान पाया...क्षमा कर बेटी, हमारे अपराध को क्षमा कर !"

चंदना सरलभाव से बोली – "पिताजी ! भूल जाओ सब बातों को, आपने तो हमारे ऊपर महान उपकार किया है। आपने ही हमारे शीलधर्म की रक्षा की है। आप मुझे संकट में शरण न देते तो वहाँ मेरा कौन सहारा था। धन्य हैं आप !"

यह अद्भुत बनाव देखकर सेठानी सुभद्रा तो दिग्विमूढ हो गई, उसके चित्त के भ्रम के सभी बादल छट गये। उसका सारा अभिमान चूर-चूर हो गया। वह शर्म से पानी-पानी हो गई...अपने खोटे कर्म का अनेक प्रकार से पश्चाताप करने लगी...चंदना के पैरों पड़कर क्षमा माँगने लगी –

"बेटी ! मुझ पापिनी को क्षमा कर दे...मैंने तुझे बहुत दुःख दिया है। मैंने तुझ शीलवती का अपमान किया है, क्षमा कर...! मेरे अपराध को क्षमा कर...!!"

चंदना उनके हाथ पकड़कर बोली – "माता ! भूल जाओ सब, मेरे ही कर्मोदय से यह घटित हुआ है, आपका इसमें कोई दोष नहीं। मानों प्रभु का अभिग्रह पूरा होने के लिये ही यह सब बनाव बना था। प्रभु के मंगल पदार्पण से आज हम सब धन्य हो गये...कृतकृत्य हो गये।

महारानी मृगावती भी उक्त समाचार सुनकर हर्षित होकर सेठ के घर आईं और वहाँ चंदना को देखकर अचम्भित रह गई... "अरे चंदना ! तू यहाँ कहाँ ?" – यह कहकर रानी ने तुरन्त बहिन चंदना को गले से लगा लिया। अहो ! कैसा अद्भुत आनन्दकारी था यह प्रसंग !

अहो, धन्य काल ! पुण्ययोग होने पर सभी अनुकूल संयोग चंदना को मिल गये। चेलना और बहिन त्रिशला ने भी जब यह समाचार सुना तो उनका शोक भी हर्ष में बदल गया। क्षण में समस्त वातावरण मंगलमय हो गया। अपने धर्मपिता से आज्ञा माँगकर चंदना अपनी बड़ी बहिन मृगावती के साथ राजमहल की ओर चल दी। अहो ! शील का प्रभाव अप्रतिम है !!

36

भोगी से योगी

(राजकुमार सुकुमाल का वैराग्य)

उज्जयिनी नगर में राजा वृषभांक राज्य करता था। इसी नगर में अटूट वैभव के धनी सुरेन्द्रदत्त नाम के श्रेष्ठी निवास करते थे। उनकी पत्नी का नाम यशोभद्रा था। उनके कोई सन्तान नहीं थी। इस कारण यशोभद्रा निरन्तर पुत्र दर्शन के लिये बेचैन रहती थी। पुत्र के बिना सम्पूर्ण वैभव उसे विषतुल्य जान पड़ता था। सुरेन्द्रदत्त विरागी प्रकृति के थे, वे दीक्षा के लिये अवसर देख रहे थे। पुत्र प्राप्ति के लिये यशोभद्रा ने सभी कृत्य कर लिये थे।

"मोहान्ध प्राणी वीतरागी से भी राग की भीख माँगता है। भोगों और पुत्रादिकों को तृणतुल्य समझकर छोड़कर जानेवालों से भी भोगों और पुत्रादि-प्राप्ति की अभिलाषा करता है। सन्तान का उन्माद इस जीव को अन्धा **कर देता है। उसका विवेक कुण्ठित हो जाता है। वह सर्वत्र माथा फोड़ने के लिए (टेकने) तैयार हो जाता है।"**

एक बार मुनिराज के आगमन पर राजा ने नगर में आनन्द-भेरी बजवाई। तब यशोभद्रा भी मुनिदर्शन के लिये गई और मुनि की वन्दना करके पूछा – "हे नाथ ! अपार धन सम्पन्न होने पर भी अब तक मेरी गोद खाली है, इसलिये मैं बहुत दुःखी हूँ, मुझे पुत्रदर्शन होंगे या नहीं ?"

मुनिराज बोले – "पुत्र तो होगा, किन्तु उसका मुख देखकर तुम्हारे पति दीक्षा ले लेंगे।"

संयोग-वियोग की ऐसी विचित्र बात सुनकर उसकी आँखों से हर्ष-विषाद के आँसू निकल पड़े। **"संयोग-वियोग यह तो जगत का स्वरूप है, अज्ञानी उन्हें बदलना चाहता है; इसलिये निरन्तर दुःखी है और ज्ञानी उन बदलते हुए संयोगों को मात्र जानता है, इसलिये निरन्तर सुखी है।"**

कुछ समय पश्चात् यशोभद्रा के महान गुणवान और रूपवान पुत्र की प्राप्ति हुई। पति को मालूम न पड़े, इसलिये इस समाचार को गुप्त रखा गया। पुत्र की सम्पूर्ण व्यवस्था तलघर में कर दी गई, परन्तु **"होनहार बलवान होती है, अनहोनी कभी होती नहीं और होनी कभी टलती नहीं।"**

दासी के द्वारा रुधिरादि से लिप्त मलिन वस्त्रों को धोता हुआ देखकर किसी ब्राह्मण ने उनके पुत्र-प्राप्ति का अनुमान कर लिया और धन के लोभ में सेठ को पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुना दिया। सेठ ने पुत्र का मुख देखकर ब्राह्मण को बहुत द्रव्य देकर विदा किया।

पत्नी के इस छल को देखकर उनका वैराग्य प्रबल हो उठा, वे सोचने लगे –

"अहो ! इस जीव के धर्मधन को लूटने के लिये यह कुटुम्बरूपी ठगों की टोली है। अरे ! इन भोगों के लिये यह देव-दुर्लभ मनुष्य पर्याय बर्बाद करना, वह तो चिन्तामणि रत्न देकर काँच खण्ड खरीदना है, अमृत छोड़ विष पीना है, सूत्र के अर्थ मणिमय हार तोड़ना है, ईंधन के लिये कल्पवृक्ष छेदना है, लोहे की कील प्राप्त करने के लिये पानी में दौड़ती नाव को तोड़ना है, तथा अपने कण्ठ में भारी पाषाण बाँधकर अगाध समुद्र में प्रवेश करने जैसा अहितकारी है।" – ऐसा विचार करके पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी बनाकर स्वयं नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण कर वन की ओर चले गये।

(2)

अतिस्नेह के कारण यशोभद्रा ने अपने पुत्र का नाम 'सुकुमार' रख दिया। पति का वियोग होने पर उसका स्नेह पुत्र पर और अधिक बढ़ गया। कहीं मुनि को देखकर वह भी दीक्षा न ले ले – ऐसा भय उसके हृदय में व्याप्त हो गया। वह मुनिदर्शन न कर सके – ऐसी उसने कठोर व्यवस्था कर दी।

उसने सम्पूर्ण भोगसामग्री अपने महल में ही जुटा दी, विशाल वेष्टित प्राचीरों से एक रत्नजडित स्वर्ण महल बनवाया, उसके चारों ओर बत्तीस रजतमय महल बनवाये। इस स्वर्ण महल में रहता हुआ वह कुमार दिन-रात का भेद भी न जान पाया। राजा-प्रजा, शीत-गर्मी, दुःख-दरिद्रता से वह पूर्णतः अनभिज्ञ था, मुनिदर्शन तो उसे स्वप्न में भी दुर्लभ थे। जहाँ सूर्य अपनी किरणें न भेज सका, वहाँ मुनिराज का गमन कैसे होता ?

"अहो ! उस सुकुमार का सम्पूर्ण संसार ममता के विषय की चार-दीवारी में संकीर्ण हो गया। माँ की ममता ने उसके हित के सम्पूर्ण रास्ते बन्द कर दिये। महल नहीं, मोह के 'कारागृह' में उसे कैद कर दिया। अरे ! माँ ने ही पुत्र के मार्ग में काँटे बिछा दिये।"

युवावस्था आने पर बत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया। एक सुकुमार को मोह की जेल में बत्तीस बेड़ियों से जकड़ दिया गया।

अंजुलि के जल की तरह उसका जीवन-जल खिरने लगा। भोग और विलास की करवत् उसके गले पर चलने लगी। वह भोगों की रंग-रलियों में अपना सब-कुछ भूल गया। माँ की ममता ने उसे मदहोश कर दिया।

(3)

"यह विषयभोग जीव को अग्नि की तरह दाह उपजानेवाले; कालकूट जहर की तरह अचेत करनेवाले; तृष्णा बढ़ानेवाले; महावैर, मूर्छा, प्रलाप, दुःख, भय, शोक, भ्रम उपजानेवाले हैं। इन विषयों का चिन्तवन ही जीव को अचेत कर देता है। तब सेवन तो...?"

"जब एक-एक इन्द्रियों के विषय के अभिलाषी हस्ति, मीन, भ्रमर, पतंगा और हिरण मरण को प्राप्त होते हैं, तो पाँचों इन्द्रियों के भोगों की निरन्तर अभिलाषा से पस्त **इस जीव की संसार में क्या दशा होगी ?"**

एक दिन किसी व्यापारी ने आकर एक रत्नमय अमूल्य कम्बल राजा को दिखलाया, राजा ने मूल्य न दे सकने के कारण उसे वापिस कर दिया। यशोभद्रा ने उसका मूल्य चुकाकर अपने पुत्र के लिये उसे खरीद लिया, परन्तु सुकुमार ने उसे देखकर कहा कि यह कठोर है, इसलिये मेरे योग्य नहीं। तब यशोभद्रा ने उस कम्बल की अपनी पुत्रवधुओं के लिये जूतियाँ बनवा दीं।

एक दिन एक पक्षी माँस का टुकड़ा समझकर उनमें से एक जूती उठा ले गया और उसे राजभवन में ले जाकर छोड़ दिया।

राजा ने आश्चर्य से उसे देखकर पूछा – " यह क्या है ?"

तब किसी ने कहा – "यह सुकुमार की पत्नी की पादुका है।"

– यह सुनकर राजा कौतूहल पूर्वक सुकुमार को देखने के लिये चल दिये।

यशोभद्रा ने राजा के आगमन पर उनका बहुत सम्मान किया और रत्न सिंहासन पर उन्हें बिठाया।

"हे देव ! आपका शुभागमन कैसे हुआ ?" विनम्रता से यशोभद्रा ने पूछा।

"सुकुमार को देखने आया हूँ" – राजा ने जवाब दिया।

सुकुमार को देखकर राजा ने बहुत स्नेह से अपने ही साथ सिंहासन पर उसे बिठा लिया।

तत्पश्चात् यशोभद्रा ने राजा से भोजन करने का आग्रह किया। भोजन के पश्चात् राजा ने अन्यमनस्क होकर कहा –

"कुमार को तीन व्याधियाँ जान पड़ती हैं, आप उनकी उपेक्षा क्यों कर रही हो ?"

"कौन-सी राजन् ! – यशोभद्रा ने विनम्रता से पूछा।

"1. वह अपने आसन पर स्थिर नहीं बैठता; 2. प्रकाश में इसकी आँख से पानी बहता है और 3. भोजन में एक-एक चावल खाता है और थूकता है।" – राजा ने खेदपूर्वक कहा।

यह सुनकर यशोभद्रा बोली – "राजन् ! यह दिव्यशय्या पर सोता है और दिव्यगद्दी पर बैठता है, आज आपके साथ सिंहासन पर बैठा, तो राई के दाने जो आप पर न्यौछावर किये गये थे, वह इसे चुभ रहे थे; इसलिये ठीक से न बैठ सका। इसने अब तक रत्नों की प्रभा को छोड़कर कभी दीपक की प्रभा को नहीं देखा, अतः जब आपकी दीपक से आरती उतारी, तब उसे देखकर इसकी आँखों में आँसू आ गये। और राजन् ! तीसरी बात यह है कि उसके लिए सूर्यास्त के समय चावलों को तालाब के भीतर कमल की कर्णिका में रख दिया जाता है, तब दूसरे दिन उन चावलों से बने भात को खाता है। आज उन चावलों में कुछ अन्य चावल मिला दिये गये थे; इसलिये वह उन्हें चुन-चुन कर खा रहा था।"

राजा को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह उस कुमार का नाम 'अवन्ति सुकुमार' रखकर वापिस राजभवन चला गया।

"विपत्ति का एक क्षण भी बहुत काल जैसा व्यतीत होता है, जबकि सुख का बहुत समय एक क्षण जैसा चला जाता है।"

सुकुमार के जीवन का अमूल्य समय भोगों की मग्नता में ही व्यतीत हो गया। माँ की ममता और भोगों की प्रचुरता में उसने जीवन का सब कुछ भुला दिया था।

"इस मनुष्य पर्याय का एक पल भी अमूल्य वस्तु के समान महादुर्लभ है। एक पल को व्यर्थ खोना एक भव हार जाने के समान है। चक्रवर्ती की समस्त सम्पत्ति से भी इस देह का मात्र एक समय भी विशेष मूल्यवान है – ऐसी यह मनुष्य देह और आत्महित के अनुकूल ऐसा संयोग प्राप्त होने पर भी जो जन्म-मरण से रहित परमपद का ध्यान नहीं रखता, उस मनुष्य में अधिष्ठित आत्मा को अनन्तबार धिक्कार हो !!"

(4)

एक दिन सुकुमार के मामा यशोभद्र मुनिराज को अवधिज्ञान-से विदित हुआ कि अब सुकुमार की आयु बहुत अल्प रह गई है और उसकी माँ ने उसके हित के सभी दरवाजे बन्द कर दिये हैं और वह पुत्र के व्यामोह में उन्मत्त हो गई है। तब वह सुकुमार को बोध जागृत करने के लिये वर्षायोग ग्रहण करने के दिन ही उसके भवन के निकटवर्ती उद्यान में स्थित जिनमन्दिर में आये।

वनपाल ने मुनिराज के आगमन का समाचार यशोभद्रा को दिया। वह मुनिराज के पास पहुँची और वंदना करके बोली –

"हे नाथ मुझे पुत्र का मोह बहुत है, वह आपके वचनों को सुनते ही दीक्षा ग्रहण कर लेगा, तब मैं उसके वियोग में जीवित नहीं रह सकूँगी; इसलिये आप यहाँ से अन्यत्र विहार कर जावें।

अहो ! पुत्र के व्यामोह में उसे मुनिराज का आगमन भी शत्रु के समागमतुल्य दिख रहा था।

मुनिराज बोले – "हे माता ! आज वर्षायोग का दिन है, अब अन्यत्र जाना सम्भव नहीं, अब मुझे चातुर्मासिक प्रतिमायोग से यहीं रहना पड़ेगा।"

यशोभद्रा दुःखी मन से घर गई और सुकुमार की सुरक्षा और अधिक कड़ी कर दी, ताकि मुनिराज की गंध भी वहाँ न पहुँच पाये।

कार्तिक की पूर्णिमासी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में मुनिराज ने वर्षायोग समाप्त किया। जब उन्होंने जाना कि सुकुमार की निद्रा भंग हो चुकी है, तो उन्होंने '**त्रिलोक-प्रज्ञप्ति**' का पाठ प्रारम्भ कर दिया और जब उसमें अच्युत स्वर्ग के पद्मनाभ देव की विभूति का वर्णन आया तो उसे सुनकर सुकुमार को जातिस्मरण हो गया और उनका हृदय वैराग्य से भर गया, सम्पूर्ण वैभव उसे क्षण में विषतुल्य भासने लगा और भोग भुजंग समान दिखने लगे। वह पिंजड़े में बन्द पंछी की तरह इस 'कारागृह' से मुक्ति के लिये तड़फने लगा।

वह कुमार भवन से जाने को उद्यमी हो गया, पर उसे कोई उपाय नहीं दिखा, इससे वह व्याकुल हो उठा। इतने में उसे एक वस्त्रों की भरी पेटी दिखी, उसने वस्त्रों को निकालकर परस्पर में जोड़ लिया और उस वस्त्रमाला को खिड़की से बाँधकर पुण्योदय से नीचे उतर गया।

पश्चात् मुनिराज के निकट जाकर वन्दना करके दीक्षा लेने की प्रार्थना करने लगा।

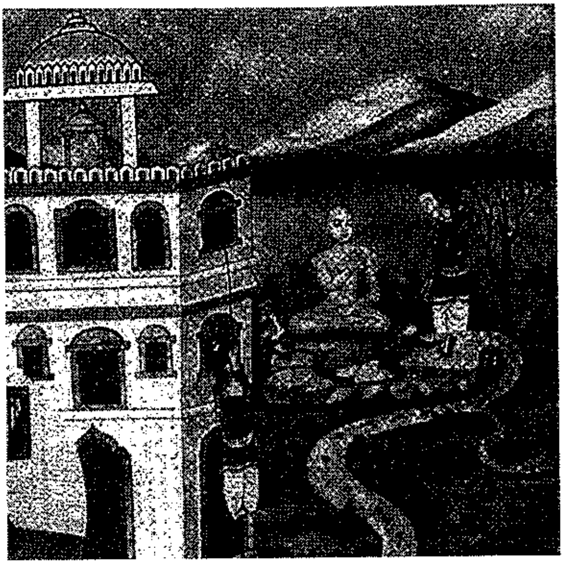

मुनिराज मधुर एवं वैराग्य सम्पन्न सम्बोधन देते हुए बोले – वत्स ! तुमने सम्यक् विचार किया है। **यह समस्त धन सम्पदा, आज्ञा, ऐश्वर्य, भोग-सामग्री तो देखते-देखते वियोग को प्राप्त होंगे। यौवन मध्याह्न की छाया की तरह ढ़ल जायेगा।**

चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि तो अस्त होकर फिर उदित होते हैं, ऋतुयें जाने पर पुनः पुनः वापिस आती हैं, परन्तु एक बार जाने पर इन्द्रियाँ, यौवन, आयु, कायादिक वापिस नहीं आते। जैसे पर्वत की नदी बेखटक चली जाती है, वैसे ही यह आयु क्षण-क्षण में अरोक चली जा रही है। **सिरपर मौत सवार है,** ऐसे अवसर में आत्महित को भूलना यह बड़ा अनर्थ है। **यह मनुष्य जन्मादिक सामग्री बारम्बार नहीं मिलती।** इसलिये हे पुत्र ! आत्महित में शीघ्र सावधान हो जाओ ! अवसर चूकना योग्य नहीं, अब तुम्हारी आयु मात्र तीन दिवस मात्र शेष है।

मुनिराज का करुण एवं वैराग्यपूर्ण तात्विक सम्बोधन सुनकर सुकुमार की वैराग्य-वीणा झनझना उठी। जैसे शत्रुओं के आक्रमण को देखकर सोता हुआ सिंह जागकर सावधान हो जाता है, वैसे ही सुकुमार भी नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण करने के लिये कटिबद्ध हो गया और जिनेश्वरी भगवती दीक्षा धारण करके वन की ओर चल दिया। '**अहो ! एक भव्यात्मा भोगी से योगी बन गया।**'

"कहाँ राई का दाना चुभता था और कहाँ कंटीली भूमि, कहाँ कोमल सेज और कहाँ भूमिशयन, कहाँ रत्नपात्र और कहाँ पाणिपात्र। कल जिस देह पर अनन्त अनुराग था, आज उस देह से पडोसी की तरह निर्ममत्वभाव था। कोमल काया आज कठोर तप करने चल पड़ी।"

अरे ! कोमल पग भूमि पर पड़ते ही पैरों से खून बह निकला, रास्ते में रुधिर की धार लग गई, सम्पूर्ण रास्ता खून से लथपथ हो गया। मुनिराज सुकुमार वन में जाकर एक शिलातल पर प्रतिमायोग से ध्यानस्थ हो गये, **देह से विरक्त हो आत्मस्थ हो गये।** आज स्वयं का आत्मा, उसके अनन्तगुण और पर्यायें ही उनका सम्पूर्ण वैभव था। **भोग तो था; पर जड़ का नहीं,**

चैतन्य का। आज उनका आत्मा चैतन्य के नन्दनवन में विहार कर रहा था।

उसी समय सुकुमार की भाभी जिसे सुकुमार ने पूर्व भव में लात मारी थी, वह अनेक भवों में परिभ्रमण करती हुई, कर्मयोग से उसी वन में श्यालनी हुई। वह खून चाटती हुई अपने पुत्रों सहित वहाँ आ पहुँची, जहाँ सुकुमार ध्यानस्थ थे। सुकुमार को देखते ही उसे पूर्व संस्कार से बैर के कारण प्रतिशोध की आग भड़क उठी और वह अतिक्रूर परिणाम से सुकुमार के शरीर को भखने लगी, दूसरी ओर उसके बच्चे भक्षण करने लगे।

"जिसप्रकार कछुवा अपने पर विपत्ति जानकर गहरे पानी में चला जाता है, उसी प्रकार देह पर उपसर्ग हुआ जानकर मुनिराज सुकुमार चैतन्य के सहारे उपसर्ग सहन करते हुए समता जल में निमग्न हो गये। अहो ! धन्य मुनिदशा।"

बैर के कारण श्यालनी तीन दिन तक सुकुमार के शरीर को चोंट-चोंट कर खाती रही, अन्त में तीसरे दिन जब उसने पेट की आँतों को निकाल कर फाड़ दिया तो उनके प्राण-पखेरू उड़ गये, प्रतिशोध की आग में उनकी देह भस्म हो गई।

अहो ! वह धन्यात्मा परम समाधि से मरण कर दूसरे ही क्षण सर्वार्थसिद्धि में जाकर देव पर्याय में उत्पन्न हुआ और अल्पकाल में परमपद को भी प्राप्त होगा।

"धनि धन्य हैं जे जीव नरभव पाय यह कारज किया।
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तज वर सुख लिया।।"

जब एक-एक इन्द्रियों के विषय के अभिलाषी हस्ति, मीन, भ्रमर, पतंगा और हिरण मरण को प्राप्त होते हैं, तो पाँचों इन्द्रियों के भोगों की निरन्तर अभिलाषा से पस्त इस जीव की संसार में क्या दशा होगी ?

37

वासना विजयी सुदर्शन

इसी भरतक्षेत्र के बंगदेश के अन्तर्गत चम्पापुर नामक पवित्र नगर में धात्रीवाहन राजा राज्य करता था, उसकी रानी का नाम अभयमती था। इसी नगर में एक वृषभदास नाम के श्रेष्ठी निवास करते थे, उनकी महाशीलवान पत्नी जिनमती थी।

सेठ के यहाँ सुभग नाम का एक ग्वाला था। एक दिन जब वह वन से घर के लिये वापिस आ रहा था कि अचानक उसे एक शीतल शिला पर ध्यानमग्न एक दिगम्बर मुनिराज दिखाई दिए। उस समय सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हो चुका था। मौसम बहुत शीतल था, पशु-पक्षी ठंड से काँप रहे थे। मुनिराज को देखकर ग्वाले ने विचार किया कि वह नग्न मुनिराज ऐसे शीतकाल में रात्रि के समय कैसे जीवित रह सकेंगे ? ऐसा विचार करके उसने चारों ओर लकड़ियाँ लगाकर अग्नि जला दी और उनकी शीतबाधा को दूर किया। स्वयं भी भक्तिभाव से सम्पूर्ण रात्रि उनके समीप ही बैठा रहा।

यह तो मुनिराज पर उपसर्ग था, पर अज्ञानी ग्वाले को क्या खबर थी कि मैंने कोई अपराध किया है। उसके हृदय में तो मुनिराज के प्रति अत्यन्त भक्ति का परिणाम था, अतः उस भोले ग्वाले ने तो पुण्योपार्जन ही किया, क्योंकि उसके छल का परिणाम न था और **फल तो अभिप्राय का ही लगता है।**

प्रातःकाल सूर्योदय होने पर मुनिराज ने उस आसन्नभव्य ग्वाले की ओर दृष्टिपात किया, ग्वाला मुनिराज की दृष्टिमात्र से कृत्कृत्य हो गया और भावविभोर हो उठा। मुनिराज ने उसे पात्रतानुकूल प्रत्येक कार्य में "**णमो अरिहंताणं**" इस मंत्र वाक्य का जाप करने को कहा और स्वयं आकाशमार्ग से विहार कर गये। ग्वाले को उस मंत्रवाक्य पर अनन्य श्रद्धा हो गई। अन्त में मरणसमय वह उसी मंत्रोच्चार करता हुआ इस निदान पूर्वक मरा कि मैं अगले भव में "इसी सेठ के यहाँ ही पुत्ररूप से उत्पन्न होऊँ।" तदनुसार थोड़े समय तक ही की गई मुनिराज की सत्संगति से उस ग्वाले का समस्त परिणमन चक्र बदल गया।

(2)

"सत्पुरुष के वचन सुनना दुर्लभ है, विचारना दुर्लभ है, उनपर श्रद्धा करना दुर्लभ है,

तो अनुभवना दुर्लभ हो इसमें क्या आश्चर्य ! सत्संग की एक घड़ी जो लाभ दे सकती है, वह कुसंग के करोड़ वर्ष भी नहीं दे सकते। सत्संग बिना सारा जगत पाप में डूब रहा है। आत्मा पर जो सत्य का रंग चढाये, वही वास्तविक सत्संग है। सत्संग आत्मा की परम-हितैषी औषधि है।''

कुछ समय पश्चात् जिनमती के यहाँ कामदेव की सुन्दरता को भी लज्जित करने वाला महारूपवान और गुणवान पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम गुणानुरूप ही सुदर्शन रखा गया। वह पुरोहित पुत्र कपिल के साथ उत्तरोत्तर रूप और गुणों में वृद्धिंगत होने लगा। धीरे-धीरे उसके रूप और सौंदर्य की चर्चा सर्वत्र फैल गई।

युवावस्था आने पर सेठ वृषभदास ने अपने पुत्र सुदर्शन का विवाह एक अप्सरातुल्य रूपवान और गुणवान कन्या मनोरमा के साथ कर दिया। समयानुसार सुदर्शन के एक सुकान्त नाम का पुत्र हुआ। वह भी रूप-सौन्दर्य में अतुल्य था। सुदर्शन ने धीरे-धीरे उसे धर्म और विद्या में सुशिक्षित किया।

शीलवान सुदर्शन का जीवन ज्ञान और वैराग्य से ओत-प्रोत था। पराई माँ-बहिन देखकर उनके नेत्र झुक जाते थे। गृह में रहने पर भी उनका जीवन जल में कमलवत् निर्लिप्त था। ध्यान, स्वाध्याय और आराधना ही उनका व्यापार था। वे अपनी अन्तरंग लक्ष्मी के अयाचीक लक्षपति थे। देह-सौन्दर्य और अटूट जड वैभव का संयोग तो उन्हें तृणतृल्य भासित होता था।

युवावस्था आने पर उसका रूप-सौन्दर्य देवतुल्य निखर गया था और वह कामनियों के चित्त को लुभाने लगा था। कपिल ब्राह्मण की पत्नि कपिला का हृदय सुदर्शन के रूप-सौन्दर्य पर आसक्त हो गया। **'वासना की आग'** उसके हृदय में जलने लगी। वह उपयुक्त अवसर की ही प्रतीक्षा कर रही थी।

एक दिन कपिल किसी कार्यवश बाहर चला गया। उसी समय सुदर्शन कपिला के घर के समीप से कहीं जा रहे थे। कपिला ने उन्हें देख लिया और छल से मित्र के बीमार होने के बहाने उन्हें दासी के द्वारा घर बुलवा लिया। मित्र से मिलाने के बहाने वह उन्हें एक एकांन्त कमरे में ले गई। सुदर्शन उसकी कुटिलता न जान पाये, क्योंकि – ''उस स्त्री के वचन में अमृत और हृदय में हलाहल विषय भरा था। उस पर विश्वास करना – व्याघ्र, विष, चोर, सर्प और शत्रु पर विश्वास करने जैसा भयानक था।''

जब वह अपने हाव-भाव से सुदर्शन को लुभाने की कोशिश करने लगी तो सुदर्शन कम्पायमान चित्त से डरकर बोले –

"देवी ! मैं देखने में ही सुन्दर दिखता हूँ, परन्तु पुरुषार्थ से रहित (नपुंसक) हूँ। तुम जिस देह की चाम को देखकर मोहित हो रही हो, वह तो विष्टा के घड़े पर चढ़े स्वर्ण के वर्क समान घृणित है। इसका रोम-रोम महादुर्गन्धमय अशुचि मल-मूत्र का बना है। यह कच्चे घडे के समान विनश्वर व अनेक रोगों का घर है। मल-मूत्र की खान – ऐसी अपवित्र देह तो वैराग्य का निमित्त है, इससे राग करना वृथा है।" इसप्रकार सुदर्शन की बात सुनकर कपिला ने निराश होकर उन्हें छोड़ दिया।

"अहो ! इस संसार में पग रखना ही पाप है। इस देह पर मोहित होकर प्राणी संसार में अनन्त देह धारण करता हुआ परिभ्रमण करता है। देह का अनुराग ही देह धारण करने का कारण है। धन्य हैं वे, जो देह होने पर भी देह से विरक्त रहते हैं।" इसप्रकार मोह की दशा का विचार करते हुए सुदर्शन अपने घर आ गये।

"कुटुम्बरूपी काजल की कोठरी में रहने से मोह की कालिख से दुःखदाई संसार ही बढ़ता है। चाहे जितना उसका सुधार करो, तो भी स्वरूप की साधनापूर्वक स्वावलम्बन सहित एकान्तवास से जितना संसार क्षय होनेवाला है, उसका सौवाँ हिस्सा भी उस काजल की कोठरी में होनेवाला नहीं है। वह कषाय का निमित्त है, मोह के रहने का अनादिकालीन पर्वत है। जिन्दगी छोटी है और जंजाल लम्बा है।"

– ऐसा विचार करते-करते सेठ सुदर्शन ने प्रतिज्ञा कर ली कि अष्टमी और चतुर्दशी उपवास के दिन रात्रि में श्मशानादि एकान्त स्थान में जाकर ही आत्मसाधना करूँगा। अतः वे अब प्रत्येक पर्व के दिन प्रतिमायोग से निश्चल आत्मध्यान करके इस नियम का दृढ़ता से पालन करने लगे।

संसार का स्वरूप तो उन्हें निरन्तर 'कारागृह' जैसा प्रतिभासित होता और उनका मन पिंजडे के पंछी की तरह निरन्तर छूटने के लिये तड़फता। वे सदा यही विचार करते थे कि –

"जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो अथवा जो मृत्यु से भागकर छूट सकते हों अथवा 'मैं नहीं मरूँगा' – जिसे ऐसा निश्चय हो, वह भले सुख से सोये।" परन्तु इस संसार में तो यह सम्भव है नहीं, ऐसा विचार कर वे सदा ही अपने आत्मसाधना रूपी कार्य में जागृत रहते।

(3)

एक बार वसन्तोत्सव के दिन राजा धात्रीवाहन अपनी रानी अभयमती के साथ उद्यान में जा

रहे थे। रास्ते में सुकान्त पुत्र को गोद में लिये मनोरमा दिखी। उसे देखकर जब रानी ने कौतूहलपूर्वक सखी से पूछा – "यह सुन्दर पुत्रवाली महासौभाग्यवान स्त्री किसकी है ?"

तब सखी ने कहा – "यह सुदर्शन सेठ की वल्लभा मनोरमा है महारानीजी"

बीच में ही कपिला बात काटती हुई बोली – "मैंने तो सुना है सुदर्शन नपुंसक है, उसके पुत्र कैसे हो सकता है ?"

उत्तर में अभयमती ने कहा – "ऐसा पुण्यशाली पुरुष नपुंसक कैसे हो सकता है ? किसी ने दुष्ट अभिप्राय से वैसा कहा होगा।" तब अवसर पाकर कपिला ने अपना सारा वृत्तान्त रानी को सुना दिया। तब रानी भी सुदर्शन के साथ भोग भोगने के लिये उत्कण्ठित हो गई, उसे भी कामरूपी सर्प ने डस लिया। वह सुदर्शन को फँसाने का षड़यंत्र रचने लगी।

"यह कामरूपी सर्प विकृत मानसिकतारूपी अण्डे से पैदा होता है। राग-द्वेष उसकी जिह्वायें हैं। विषय चाह उसका तिल है। रति उसका मुख है। लज्जा उसकी काँचली है, जिसे वह छोड़ देता है। मद उसकी दाढ़ है। अनेक प्रकार की पीड़ा उसका जहर है। ऐसे कामरूपी सर्प से डसा प्राणी चैन को प्राप्त नहीं होकर अन्त में नाश को प्राप्त होता है।"

रानी ने प्रतिज्ञा कर ली या तो उसके साथ भोग भोगूँगी, अन्यथा प्राण दे दूँगी। वह महल में जाकर उदास होकर शय्या पर पड़ गई।

"जहाज समुद्र के पार पहुँचते हैं तथा नक्षत्र आकाश के पार पहुँचते हैं, परन्तु उस रानी के दुश्चरित्र के पार कोई नहीं पहुँच सकता।"

पण्डिता धाय के पूछने पर रानी ने अपनी चिन्ता का कारण उसे बता दिया, पण्डिता ने उसे अनेक प्रकार से समझाया, पर वह न मानी। तब पण्डिता ने उसे मिलाने का वचन दे दिया।

द्वारपालों को रानी का भय दिखाकर अष्टमी की रात को वह श्मशान में पहुँच गई, जहाँ सेठ प्रतिमायोग से ध्यानस्थ थे। उसने अनेक मधुर वचनों से उन्हें आकृष्ट करना चाहा, पर वे तो सुमेरुवत् निश्चल खड़े थे। जब उसकी किसी कला-चातुर्य का असर उन पर न हुआ तो उसने उन्हें कन्धे पर उठा लिया और रानी के शयनागार में ले जाकर छोड़ दिया।

(4)

"पाप के उदय से कोई पापी नहीं होता, पाप भाव से पापी होता है। ज्ञानियों के पाप का उदय तो होता है, पर पाप भाव नहीं। **"उपसर्ग, वह ज्ञानियों के साधना की कसौटी है।"**

रानी ने अनेक हाव-भाव से स्त्री-सुलभ कुचेष्टायें कीं और अपनी वासना की आग सुदर्शन पर उंडेल दी। पर जब वह उन्हें विचलित न कर सकी तो हताश होकर पण्डिता धाय से बोली–

"इस दुष्ट को वहीं श्मशान में ले जाकर छोड़ आओ।"

पण्डिता ने बाहर दृष्टिपात किया तो देखा – सवेरा हो चुका था। अब वह उन्हें बाहर नहीं ले जा सकती थी।

क्या किया जाय ? यह सोचकर अभयमती किंकर्तव्यविमूढ हो गई। अन्त में जब उसे कोई उपाय न दिखा तो उसने अपने शरीर को नोंचकर विडरूप कर लिया और स्वयं जोर-जोर से चिल्लाने लगी – "हाय ! मुझ शीलवती को इस दुष्ट ने क्षत-विक्षत कर दिया है।"

"कामान्ध स्त्री सिंहनी की तरह क्रूर और वेश्या की तरह निर्लज्ज हो जाती है। जो अनर्थ क्रूर सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा नहीं कर सकते; वह अनर्थ कामान्ध स्त्री कर देती है।"

जब राजा को उक्त घटना की खबर पड़ी तो राजा ने अन्ध विश्वास में रानी की बात पर भरोसा करके बिना कुछ सोचे-समझे अपने अनुचरों को आदेश दे दिया कि – "जाओ ! इस दुष्ट को श्मशान में ले जाकर खत्म कर दो।"

उपसर्ग ! घोर उपसर्ग !! अरे, निरपराध ज्ञानियों की भी ये दशा ! लेकिन जब दुष्ट अपने दुष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ते, तो ज्ञानी भी अपने क्षमा स्वभाव को कैसे छोड़ें ? उन्हें तो –

"बहु उपसर्ग करें उन पर न क्रोध हो,
वन्दे चक्री तथापि कुछ न मान हो।
देह जाय पर माया होय न रोम में,
लोभ नहीं हो प्रबल सिद्ध निदान हो॥"

क्रूर सेवक सुदर्शन को पकड़कर उन्हें श्मशान में ले गये और तलवारें निकालकर उन्हें मारने को ज्यों ही उद्यत हुए, त्यों ही उनके खड्गप्रहार गले का पुष्पहार बन गये, उन्होंने जितने प्रहार किये उतने ही पुष्पहार बनते गये। मारने वाले वहीं कीलित होकर रह गये।

विचित्र है पुण्य-पाप का नाटक ! एक ओर प्रहार, दूसरी तरफ हार ! धीरे-धीरे यह समाचार सम्पूर्ण राज्य में फैल गया।

राजा भी यह सुनकर अपने कृत्य का पश्चाताप करने लगा, क्षमायाचना करने लगा।

लज्जित होकर राजा सुदर्शन की शरण में पहुँचा और बोला – "हे श्रेष्ठी ! मेरे अपराध को क्षमा करो, अनजाने और क्रोधवश मुझसे यह महापाप हो गया। धर्म का प्रताप अतुल्य है, मैं वृथा नीचगति का पात्र हुआ।"

उधर रानी को जब उक्त घटना का पता चला तो लज्जा से दुखी होकर उसने प्राणान्त कर लिया। "**विषय-चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुःख सह्यो।**"

राजा उक्त घटना से बहुत प्रभावित हुआ और बोला – "हे श्रेष्ठी ! आप मेरे अर्द्धराज्य को स्वीकार करके मुझे कृतार्थ कीजिये।"

श्रेष्ठी बोले – "हे राजन् ! मैंनें संसार का स्वरूप देख लिया। **ये विषय आत्मा के स्वरूप को भुलानेवाले हैं। इनमें रचकर तीन लोक के जीव दुःखी हो रहे हैं। विषयों से सुख चाहना, वह जीवन के अर्थ विष पीना है। मिष्ट भोजन के लिये विषवृक्ष को सींचना है। मरण अचानक दबोच देगा; फिर यह मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, जिनेन्द्र धर्म का योग-अनन्तकाल में दुर्लभ है।**

जैसे नदी की तरंग निरन्तर चली जाती है, लौटकर वापिस नहीं आती; वैसे ही आयु, काय, रूप, बल, ऐश्वर्य, इन्द्रियशक्ति गये हुए वापिस नहीं आते। कुटुम्ब का संयोग स्वप्नवत् क्षणभंगुर है तथा यह सम्पदा इन्द्र और चक्रवर्तियों के भी स्थिर नहीं रही तो अन्य पुण्यहीनों की कैसे स्थिर रहेगी ?

राजन् ! इसलिये मैं तो अब आत्म-साधना पूर्ण करने के लिये दिगम्बरी दीक्षा धारण करूँगा।"

तब वे नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण कर पाटलिपुत्र (पटना) की ओर विहार कर गये।

वहाँ पाटलिपुत्र के उपवन के सुरम्य वातावरण में एक दिन ध्यानस्थ अवस्था में उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और अल्पकाल में मुक्त हो गये। धन्य हो गया वह आत्मा !

"ज्ञानियों के लिए उपसर्ग साधना की कसौटी है।"

38

धन्यकुमार चरित्र

अहो ! देवता भी शिवसुख की प्राप्ति के लिये जिस उज्जयिनी नगरी में जन्म लेना चाहते हों, उस उज्जयिनी नगरी के गुणों का वर्णन कैसे सम्भव है ? उसी उज्जयिनी नगरी में धर्मबुद्धि और धर्मात्माओं के प्रति प्रेम रखने वाला 'अवनिपाल' नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में सरल स्वभावी 'धनपाल' नामक एक वनिक (सेठ) रहता था। उसके अनेक शुभ लक्षणों वाली 'प्रभावती' नामक पत्नी थी। इनके परस्पर में प्रेम करने वाले सात पुत्र थे।

तत्पश्चात् प्रभावती ने आठवें पुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म के समय जब उसकी नाल को जमीन में गाड़ने गये तो वहाँ जमीन में से रत्नों का खजाना प्राप्त हुआ।

रत्नों का खजाना मिलने पर पिता धनपाल आदि इस आश्चर्य को देखकर राजा अवनिपाल के पास गये, और कहा – हे नाथ ! मेरे यहाँ उत्तम पुत्र का जन्म हुआ है और उसकी नाल गाड़ते समय मुझे बड़ा खजाना मिला है। यह सुनकर महाराज बोले कि हे श्रेष्ठी ! जिस पुत्र के पुण्य से धन निकला है, वही इसका मालिक है, मुझे प्रजा के किसी धन की अभिलाषा नहीं है।

महाराज की इस प्रकार की निस्पृहता देखकर धनपाल को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने घर जाकर पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में जिनमन्दिरों में कल्याण के कारणभूत, विघ्न विनाशक जिनेन्द्र भगवान की महापूजा की, कुटुम्बीजनों तथा याचकजनों को अनेक प्रकार का दान देकर सन्तुष्ट किया। पुण्यशाली पुत्र जन्म से परिजनों के धन्य व कृतार्थ होने के विचार से पुत्र का सार्थक नाम भी 'धन्य कुमार' रखा। वह पुत्र माता-पिता आदि को आनन्दित करता हुआ देवकुमारों की भाँति क्रम से वृद्धिंगत होने लगा।

उसे कुमार अवस्था प्राप्त होने पर देव-गुरु और साधुओं का परिचय कराके विद्या – कला आदि के अभ्यास के लिये विद्यागुरु के समीप रखा गया, फलस्वरूप उसने थोड़े ही काल में सभी प्रकार की विद्यायें प्राप्त कर लीं। वह कुमार अवस्था में भी निर्लोभी रहकर निरन्तर देव-गुरु-धर्म के लिये प्रचुर धन खर्च करता था और दीन-अनाथ आदि को दान देता था।

इस प्रकार निरन्तर उदारता से धन खर्च करना, उसके बड़े भाईयों को सहन नहीं हुआ; उन्होंने एक दिन माता से कहा कि हम सब मेहनत करके धन कमाते हैं और धन्यकुमार उसे खर्च करता रहता है और वह कोई व्यापार भी नहीं करता।

उनकी बात सुनकर प्रभावती ने धनपाल से कहा कि अब धन्यकुमार युवा हो गया है; किन्तु फिर भी आप उसे व्यापार में नहीं लगाते, इस कारण उसके बड़े भाई भी उससे द्वेष करते हैं।

अपनी पत्नी के कहे अनुसार सेठ धनपाल शुभ मुहुर्त में पुत्र धन्यकुमार को बाजार ले गये और कहा – पुत्र ! अपने पास यह एक सौ दीनार रखो और बाजार में कोई अच्छी वस्तु बिकने के लिये आवे तो उसे खरीद लेना और उस खरीदी हुई वस्तु से अन्य कोई अच्छी वस्तु बिकने आवे तो उसे खरीद लेना। इस प्रकार भोजन के समय तक खरीदना और भोजन के समय उस वस्तु को नौकरों के साथ लेकर घर आ जाना। इसप्रकार पिता ने शिक्षा देते हुये उसे एक सौ दीनार व्यापार के लिए दे दी।

सरलहृदय धन्यकुमार बाजार में खड़ा है। वहाँ लकड़ी की गाड़ी बिकने हेतु आई तो धन्यकुमार ने एक सौ दीनार देकर उसे खरीद ली और फिर लकड़ी की गाड़ी को बेचकर ... । – इसप्रकार दिनभर खरीद-बेच करता रहा और अन्त में एक चारपाई – खाट खरीदी और भोजन का समय हो जाने से नौकर द्वारा चारपाई उठवाकर धन्यकुमार घर आ गया। उसे घर आया देखकर माता बहुत आनन्दित हुई और कहने लगी कि आज धन्यकुमार पहले दिन व्यापार करके घर आया है, अत: उत्सव करना चाहिये।

धन्यकुमार द्वारा लाई हुई लकड़ी की चारपाई को देखकर सातों बड़े भाई कहने लगे कि वाह ! कैसी आश्चर्य की बात है कि पिता ने आज ही एक सौ दीनारें दी थीं, जिसे गँवाकर धन्यकुमार घर आया है फिर भी हमारी माता उत्सव कर रही है, जबकि हम तो रोजाना बहुत-सा धन कमाकर लाते हैं तो भी हमारी तरफ देखती भी नहीं। अरे ! इसमें इसका क्या दोष है ? हमारे पूर्वोपार्जित कर्मों का ही दोष है।

माता ने प्रसन्नचित्त से सातों पुत्रों के इस वचन को हृदय में रख लिया और समस्त पुत्रों से

पूर्व धन्यकुमार को भोजन कराकर स्वयं ने भी भोजन कर लिया। फिर एक बड़े बर्तन में पानी भरकर अपने ही हाथ से उत्साहपूर्वक चारपाई के पाये धोने-पोंछने लगी, धोते-पोंछते एक कील से एक पुराना धब्बा मिटाते समय चारपाई का एक पाया टूट गया।

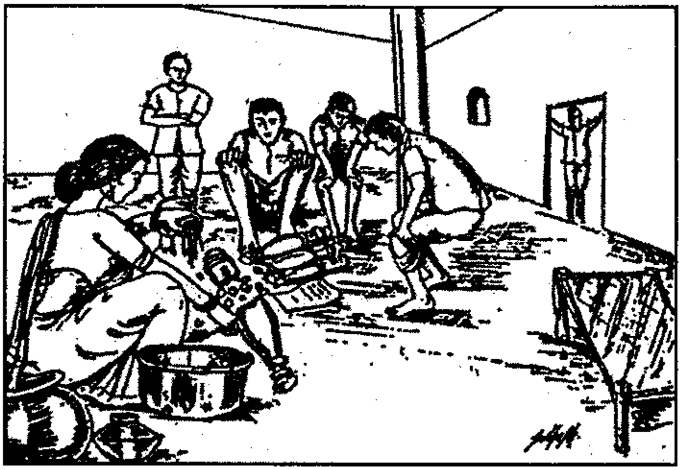

धन्यकुमार के प्रचुर पुण्योदय से उसमें से रत्न बिखरने लगे, साथ ही एक पत्र भी निकला, जिसमें लिखा था कि –

"इस नगरी में पुण्यशाली, महाधनी वसुमित्र राजश्रेष्ठी हो गये हैं। उनके प्रचुर पुण्योदय से उनके यहाँ समस्त भोगोपभोग सम्पदा को देने वाली नवनिधि उत्पन्न हुई थी। एक दिन वसुमित्र ने उपवन में पधारे हुये अवधिज्ञानी मुनिराज से जाकर पूछा कि प्रभो ! ऐसा कौन पुण्यवान नररत्न उत्पन्न होगा कि जो इन नवनिधि का स्वामी होगा ? मुनिराज ने अवधिज्ञान से देखकर कहा कि महाराज अवनिपाल की उत्तम राजधानी में धनपाल सेठ के यहाँ धन्यकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न होगा। वही पूर्वोपार्जित पुण्योदय से इस नवनिधि का स्वामी होगा और उसके द्वारा लोगों को बहुत सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार अवधिज्ञानी मुनिराज का वचन सुनकर वसुमित्र सेठ ने घर जाकर एक पत्र लिखकर उत्तम रत्नों के साथ में चारपाई के पायों में रखकर उन्हें बंद कर दिया। कुछ समय पश्चात् सेठ वसुमित्र समाधिमरण पूर्वक स्वर्ग सिधारे और उनके पीछे परिवारजन भी मरण दशा को प्राप्त हुए। उनमें से जो सबसे अन्तिम मनुष्य मरण को प्राप्त हुआ उसे जलाने के लिये चारपाई सहित श्मशान में ले गये और वह चारपाई चाण्डाल को प्राप्त हुई, जिसे पुण्योदय से धन्यकुमार ने चाण्डाल से खरीद ली।

अहो ! पुण्योदय से अत्यन्त दुर्लभ वस्तु भी बिना प्रयत्न के चरणों में आ पड़ती है।

धन्यकुमार चारपाई से प्राप्त पत्र को पढ़कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उस पत्र को लेकर राजा के समीप गया। राजा ने पत्र में लिखे अनुसार समस्त निधियाँ धन्यकुमार के सुपुर्द कर दीं। धन्यकुमार ने उत्कृष्ट नवनिधियों को अपने अधिकार में लेकर सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु की

महापूजा में अतिशय धन खर्च किया और भक्तिपूर्वक सत्पात्रों को दान दिया तथा दीन-दुखियों को इच्छित दान दिया।

इसप्रकार के महान पुण्योदय से धन्यकुमार परिजनों तथा पुरजनों को अत्यन्त प्रिय होने लगा और ग्राम के अन्य श्रेष्ठी अपनी सुन्दर कन्याओं का सम्बन्ध उसके साथ करने हेतु तत्पर होने लगे; परन्तु धन्यकुमार का इस प्रकार का अभ्युदय उसके बड़े भाइयों से सहन नहीं हुआ – इस कारण वे उससे ईर्ष्या करने लगे और उसे मार डालने के षडयंत्र रचने लगे, किन्तु सरल चित्त धन्यकुमार उनके इस दुष्ट अभिप्राय से अनजान था।

एक दिन सातों बड़े भाई धन्यकुमार को मार डालने के अभिप्राय से उसे उपवन की वापिका में जल क्रीड़ा के लिये ले गये और वापिका के किनारे पर बैठे हुए धन्यकुमार को बड़े भाइयों ने पीछे से धक्का देकर वापिका में गिरा दिया व ऊपर से पत्थरों की मार मारने लगे। उस समय धन्यकुमार ने णमोकार मंत्र का स्मरण किया और इसे अपने पूर्व कर्म का उदय समझकर धैर्य धारण कर सहन किया। सभी बड़े भाई इसे मरा हुआ जानकर वहाँ से चले गये। पश्चात् धन्यकुमार अपने पुण्योदय से बच गये, तब बाहर निकलने पर अपने बड़े भाइयों की दुष्टता पर विचार कर यह निर्णय किया कि अब घर जाकर दुष्ट भाइयों के साथ रहना योग्य नहीं है। ऐसा विचार कर धन्यकुमार अन्य देश के लिये रवाना हो गये। चलते-चलते एक खेत में किसान को हल चलाते देख उसे आश्चर्य हुआ कि यह किस जाति की विद्या है ? मैंने तो कभी ऐसी विद्या देखी नहीं – इस प्रकार उसे देखते-देखते वे अपनी थकान दूर करने के विकल्प से वहीं बैठ गये।

किसान धन्यकुमार को थका हुआ देखकर उनके हाल-चाल पूँछने उनके पास आया, तथा धन्यकुमार को देखकर आश्चर्य में पड़ गया और विचारने लगा कि 'अवश्य ही यह कोई महापुरुष है' अत: उसने धन्यकुमार को अपना अतिथि मानकर उनसे निवेदन किया –

हे सज्जनोत्तम ! मेरे पास शुद्ध दही और भात है, उन्हें आप कृपा करके स्वीकार करें, आप मेरे अतिथि हैं। धन्यकुमार की स्वीकृती पाकर किसान को बहुत प्रसन्नता हुई और वह दही-भात

परोसने के लिये पात्र (पत्तल) लेने चला गया। इधर कोतुहलवश धन्यकुमार ने हल चलाया तो हल का काँटा एक विशाल सोने की मोहरों से भरे हुये बर्तन से टकराया। उसे देखकर धन्यकुमार को लगा कि अरे ! ऐसे अपूर्व विज्ञानाभ्यास से बस होओ ? यदि इस विशाल धन को किसान देख लेगा तो वह भी भाइयों की तरह दुष्ट वर्ताव करेगा।

– ऐसा विचार कर उस धन के खजाने पर मिट्टी डाल दी और वापिस यथास्थान आकर बैठ गये।

इतने में ही किसान पात्र (पत्तल) लेकर आ गया और शुद्ध जल से उसे साफ करके दही-भात का भोजन धन्यकुमार को कराकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कुमार भी भोजन करके राजगृह नगर का मार्ग पूछकर वहाँ से रवाना हो गए। धन्यकुमार के जाने के बाद जब किसान पुन: हल चलाने लगा, तब उसकी नजर धन से भरे खजाने पर पड़ी। उसे देखकर किसान को आश्चर्य हुआ कि अहो ! यह धन इन भाग्यशाली के भाग्य से निकला है – इस कारण इसका स्वामी वही भाग्यशाली पुरुष है। अत: यह धन मुझे स्वीकारना योग्य नहीं है।

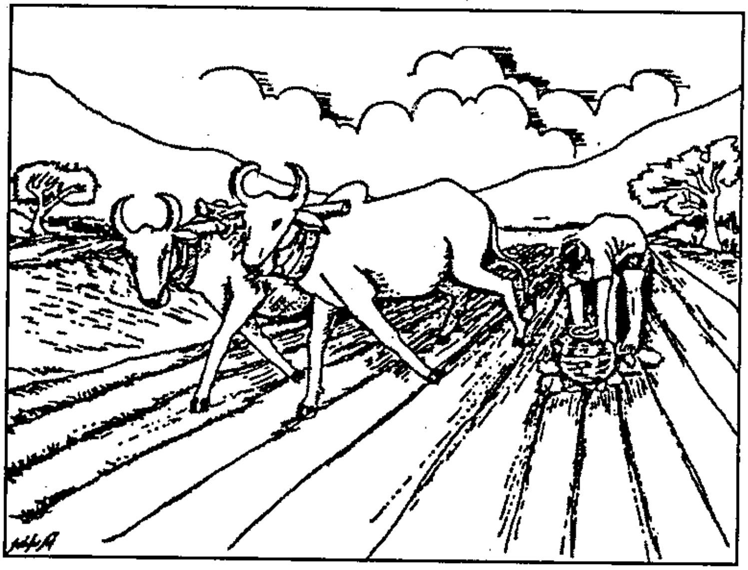

अहो ! देखो, किसान गरीब है, फिर भी उसमें कितनी निर्लोभता और सज्जनता है कि अपने खेत में से इतना बड़ा खजाना मिलने पर भी मैं उसका स्वामी नहीं, किन्तु जिसके भाग्य से निकला है अत: वही उसका मालिक है – ऐसा मानता है।

वह किसान धन्यकुमार के पीछे-पीछे आवाज लगाता हुआ दौड़ता है। कुमार भी किसान की आवाज सुनकर खड़े रहते हैं। किसान धन्यकुमार के समीप आकर विनम्रता से कहता है कि हे भाग्यशाली ! आपके पुण्योदय से जो यह खजाना निकला है, आप ही उसके स्वामी हैं।

धन्यकुमार ने कहा – हे भाई ! मैं तो अपने साथ कुछ लाया नहीं, मैंने तो तुम्हारे दही-भात खाये हैं। जो धन तुम्हारे खेत में से निकला है तुम्हीं उसके मालिक हो, मैं नहीं। तब किसान बोला

कि हम अपने बाप-दादा के जमाने से यह खेत जोतते हैं, परन्तु धन का ऐसा खजाना कभी नहीं मिला। अत: आज जो खजाना निकला है, वह तो आपके पुण्योदय से ही निकला है – इस कारण इसके स्वामी आप ही हैं। तब धन्यकुमार ने कहा कि भले ही ऐसा हुआ हो; परन्तु यह धन का खजाना मैं तुम्हें भेंट देता हूँ, तुम इसे स्वीकार करो। इस बात को सुनकर किसान ज्यादा कुछ नहीं बोल सका, मात्र इतना ही कहा कि 'इस दास के योग्य कोई कार्य-सेवा हो तो अवश्य याद करना।' – ऐसा कहकर वे दोनों अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं।

राजगृही चलने के लिये आगे बढ़ते-बढ़ते धन्यकुमार अपने महाभाग्य से एक अवधिज्ञानी मुनिराज को एकान्त स्थान में बैठे देखते हैं। मुनिराज के दर्शन से धन्यकुमार को बहुत प्रसन्नता होती है।

मुनिराज को वन्दन करके वे उनसे धर्म का स्वरूप पूछते हैं, जिसके उत्तर में मुनिराज विस्तार से धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। उसे सुनकर धन्यकुमार को बहुत आनन्द आता है। तत्पश्चात् वे मुनिराज से पूछते हैं कि प्रभो ! मुझे किस पुण्योदय से धन के खजाने मिलते हैं और माता अत्यधिक प्रेम करती है तथा किस पापोदय के कारण भाई मुझसे द्वेष करते हैं – यह सब कृपा करके कहो ?

मुनिराज धन्यकुमार को आसन्नभव्य जानकर उनके पूर्वजन्म की कथा कहते हैं –

हे भव्य ! तू चित्त को स्थिर करके अपने पूर्वभव की कथा सुन ! क्योंकि उसे सुनकर तुझे संसार से वैराग्य उत्पन्न होगा और धर्म में रुचि होगी, पापों से डर लगेगा, दान, शील, तप, नियमादि में प्रवर्तन होगा, तेरे पूर्व भव की कथा सुनने से अन्य जीवों का भी उपकार होगा।

मगध देश के अन्तर्गत् भोगावती नाम की एक नगरी थी। उसके स्वामी का नाम कामवृष्टि था और उसकी स्त्री का नाम मृष्टदाना था। उसके घर में सुकृतपुण्य नाम का एक नौकर था। जब मृष्टदाना गर्भवती हुई, तब पापोदय से उसके पति कामवृष्टि का मरण हो गया। तत्पश्चात् ज्यों-ज्यों गर्भ वृद्धिंगत होता गया, त्यों-त्यों उसके परिवार के सभी मनुष्य मरते गये। जब पुत्र का जन्म हुआ, तब मृष्टदाना की माता भी मर गई और पुण्यकर्म भी नष्ट हो गया। अत: बुद्धिमान पुरुषों को अनिष्ट संयोग का प्रधान कारण जो पाप है, उसे प्राण जाने पर भी नहीं करना चाहिये।

जब मृष्टदाना के पास कुछ भी नहीं बचा तो वह उस पापी पुत्र का पेट अनाज पीस-पीसकर भरने लगी। कामवृष्टि के मरणोपरान्त उसका नौकर सुकृतपुण्य पुण्योदय से भोगावती नगरी का स्वामी बन गया।

देखो ! इस बालक ने पाप के अलावा कभी पुण्यकर्म नहीं किया – इस कारण उसकी दारुण दुःखदायक दशा हुई। इस कारण से उसकी माता ने अपने उस अभागे पुत्र का नाम अकृतपुण्य रखा।

इतना सुनकर धन्यकुमार ने मुनिराज से पूछा कि हे भगवन् ! पापी अकृतपुण्य ने पूर्व में कौन-कौन से पाप किये थे, जिस कारण उसकी ऐसी दुःखदायक दशा हुई।

मुनिराज धन्यकुमार के प्रश्नों का उत्तर देते हुए आगे की कथा कहने लगे। –

इसी देश में भूतिलक नाम का एक सुन्दर नगर था; उसमें महादानी, महाधनी, बुद्धिमान शुभकर्म करने वाला धनपति नाम का एक सेठ रहता था। एक दिन धनपति सेठ को विचार आया कि यह लक्ष्मी तो पुण्योदय से मिली है और इसका सही उपयोग पात्रदान से ही है। परन्तु उत्तम पात्र साधु तो आहार के सिवाय कुछ लेते नहीं। अतः इसका सदुपयोग करने के लिये बड़े-बड़े जिनालय बनवाने चाहिये और जिनालयों में जिनप्रतिमाओं के साथ-साथ चारों अनुयोगों के शास्त्रों को विराजमान करना चाहिए, जिससे अनेक जीव जिनेन्द्र दर्शन, भक्ति, पूजन, स्वाध्याय आदि कर धर्मलाभ प्राप्त करें। इसप्रकार महान पुण्योपार्जन का कारण होने से जिनमन्दिर बनवाकर विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने से धन की सफलता होती है। – ऐसा विचारकर उसने विशाल जिनमन्दिर बनवाया और उसमें सुन्दर मणि-रत्नों की प्रतिमायें पधराईं तथा चारों अनुयोगों के अनेक शास्त्र विराजमान किए। जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि हुई, दूर-दूर से यात्री दर्शनार्थ आकर लाभ लेते और महान धर्मप्रभावना होती।

उसे सुनकर एक दुर्व्यसनी चोर ने लोभ के वशीभूत होकर विचार किया कि इन मणि रत्नों की प्रतिमाओं की चोरी के लिये त्यागी का वेश धारण करने से चोरी में सुगमता रहेगी। इसलिये मायाजाल से कपटपूर्वक ब्रह्मचारी का वेश धारण करके मिथ्या तपश्चरणादि करने लगा और उससे भोले लोगों में उसकी बहुत प्रशंसा होने लगी। गाँव-गाँव में भ्रमण करते हुये वह कपटी ब्रह्मचारी एकबार भूतिलक नगर में आया और धनपति सेठ ने लोगों के मुख से उसकी प्रशंसा

सुनी। इस कारण धनपति सेठ ब्रह्मचारी के पास जाकर विनती करके उसे अपने जिनालय में ले आया। वहाँ उस ब्रह्मचारी ने बगुले की तरह मायाचार से काय क्लेश आदि द्वारा लोगों में मान प्राप्त किया।

एक समय धनपति सेठ ने ब्रह्मचारी से विनती करके कहा कि मैं धन उपार्जन के लिये विदेश जाता हूँ, जब तक मैं वापिस नहीं आऊँ तब तक आप इस जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमाओं की संभाल रखना; परन्तु कपटी ब्रह्मचारी तो कहने लगा कि अरे सेठ ! हम तो त्यागी हैं, ऐसी उपाधि में हमारा काम नहीं है। फिर भी सेठ अत्यन्त आग्रह पूर्वक ब्रह्मचारी को सब सौंपकर परदेश चला गया।

सेठ के परदेश जाते ही कपटी वेशधारी को मौका मिल गया। उसने जिनालय के कीमती उपकरणों को व्यसनादि के लिये खर्च कर दिया। परन्तु ऐसे पाप कब तक छिपे रहते ? उसके सम्पूर्ण शरीर में कोढ़ का रोग फूट निकला, जिससे उसे महापीड़ा होने लगी। शरीर महादुर्गन्धमय हो गया। सत्य ही कहा है कि '**अधिक पुण्य अथवा पाप का फल तुरन्त ही आ जाता है।**'

अरे, हलाहल जहर खाना तो ठीक है, क्योंकि वह तो एक ही भव में प्राण हरता है; परन्तु निर्माल्य द्रव्य खाने से तो अनन्त भव बिगड़ते हैं। इस बात को ध्यान में लेकर बुद्धिमानों को देव-शास्त्र-गुरु का निर्माल्य द्रव्य कभी नहीं लेना चाहिये।

ब्रह्मचारी कोढ़ की भीषण वेदना में वहाँ रहता था। ऐसे में सेठ धनपति विदेश यात्रा से घर वापिस आ गया। उसे देखकर ब्रह्मचारी का क्रोध भभक उठा कि अरे पापी सेठ परदेश में मरा नहीं और घर वापिस आ गया। इस प्रकार क्रोध ही क्रोध में उसकी रोग की वेदना बढ़ गई और महारौद्रध्यान से महाकष्ट से प्राण छोड़कर वह सातवें नरक में गया।

वहाँ जाकर विचारता है कि अरे ! इन घोर दुःखों का अन्त कब आयेगा ? – ऐसा विलाप करता है। इस तरह सातवें नरक के तैंतीस सागर तक दुःख सहन करके महामच्छ हुआ और वहाँ भी अत्यन्त कठोर पाप किये, फिर सातवें नरक में गया , महादुःख भोगकर वहाँ से निकलकर त्रस-स्थावर योनियों में बहुत काल तक भ्रमण किया और वहाँ से निकलकर अकृतपुण्य हुआ।

मुनिराज कथा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि – वह अकृतपुण्य एक दिन सुकृतपुण्य के खेत पर गया और सुकृतपुण्य की खुशामद करके कहने लगा कि दूसरे लोग तुम्हारे खेत में से चने उखाड़ते हैं, यदि मैं भी उखाड़ूँ तो मुझे क्या दोगे ?

ऐसे दीन वचन सुनकर सुकृतपुण्य विचारने लगा कि – अहो ! संसार में यह सब कर्मों की

ही विचित्रता है। जो स्वामी है वह तो नौकर हो जाता है और जो नौकर हो वह स्वामी बन जाता है। हाय ! यह तो मेरे ही सेठ का पुत्र है, परन्तु कर्मोदय से मेरे पास याचना करता है। धिक्कार है ऐसे कर्मों को ! ऐसा विचारकर दया से सुकृतपुण्य ने उसे स्वर्ण से भरा हुआ कलश दे दिया; परन्तु अकृतपुण्य के पाप कर्म इतने तीव्र थे कि हाथ में लेते ही उसे वे कलश अग्नि के अंगारों की तरह जलाने लगे, इससे अकृतपुण्य कहने लगा कि भाई ! तुम दूसरों को तो चने देते हो, तब मुझे ये अंगारे क्यों दे रहे हो ?

इसे देखकर सुकृतपुण्य ने सोचा कि अभी इसके पापकर्म दारुण हैं। अतः उसने कहा कि भाई ! तू मेरे अंगारे मुझे दे दे और जितने चने तुझसे ले जाये जा सकें, ले जा। अकृतपुण्य अपने साथ जितने चने ले जा सका, उतने चने बाँधकर घर ले गया। उसकी माता ने चने देखकर पूछा कि तू चने कहाँ से लाया ?

तब उसने कहा – मैं सुकृत पुण्य के खेत पर काम करने गया था वहाँ से लाया हूँ। यह सुनकर उसकी माता दुःखित हृदय से विचारने लगी कि हाय ! जो सुकृतपुण्य हमारा ही नौकर था, वह मालिक हो गया और हम मालिक थे सो भिखारी हो गये। अहो ! भाग्य की गति न्यारी है। ऐसा विचारकर उसने देशान्तर जाने के लिये चने का नाश्ता बनाया और माता-पुत्र – दोनों अन्य गाँव की ओर रवाना हो गये। दोनों चलते-चलते अवंति देश के सोसवाक गाँव में जा पहुँचे और मार्ग की थकावट दूर करने के लिये उस गाँव के सेठ बलभद्र के घर के सामने जा बैठे।

सेठ बलभद्र ने पूछा कि बहिन ! आप कहाँ से आई हो और कहाँ जाने के लिये निकली हो ? यह सुनकर दुःखी मृष्टदाना रोते-रोते कहने लगी कि भाई ! हम मगध देश से निकले हैं और जहाँ हमारी आजीविका चले वहाँ जाना है। यह सुनकर सेठ बलभद्र को दया आई, उसने कहा कि बहिन ! यदि तुम्हें आजीविका की आवश्यकता है तो यहीं मेरे यहाँ ही रहो और मेरी रसोई बना दिया करो तथा तुम्हारा पुत्र है वह मेरी गायों की चर्या कर दिया करेगा। मैं आपको उचित

वेतन व भोजनादि दूँगा। मृष्टदाना ने यह बात स्वीकार कर ली। अत: सेठ ने उनके रहने के लिये अपने ही घर के पीछे की एक झोपड़ी दे दी।

सेठ बलभद्र के सात पुत्र थे। उनके खाने के लिये प्रतिदिन सवेरे खीर का भोजन बनता था। उसे देख-देखकर अकृतपुण्य भी रोजाना अपनी माता के पास खीर खाने के लिये रोया करता था। माता उसे समझाती कि तूने पूर्वभव में कोई पुण्य कर्म नहीं किया। अत: मैं तुझे ऐसा उत्तम भोजन कहाँ से लाकर दूँ ? परन्तु अकृतपुण्य तो बालक है, इस कारण रोजाना सेठ के पुत्रों को खीर खाते देखकर माता से खीर माँगता और खीर नहीं मिलने से रोता। यह देखकर सेठ के दुष्ट पुत्र उसे मारते थे। एकबार मारने से उसे अधिक लग गई और उसका मुँह सूझ जाने से विकृत हो गया।

अकृतपुण्य की ऐसी दशा देखकर सेठ बलभद्र ने पूछा कि यह मुख कैसे सूज गया ?

तब उसकी माता ने कहा कि यह खाने के लिये खीर माँगा करता था, परन्तु पाप के उदय से खीर कैसे मिल सकती है ? उसके बदले में आपके पुत्रों ने इसकी यह दशा की है। यह सुनकर सेठ को बहुत दया आई और उसने अकृतपुण्य की माता से कहा कि तू मेरे घर से घी, दूध, चावल और शक्कर अपने घर ले जा और उनकी खीर बनाकर पुत्र की अभिलाषा पूर्ण कर। सेठ के कहे अनुसार वह दूध आदि सामग्री अपने घर लाई और पुत्र से कहा कि आज मैं तुझे खीर बनाकर खिलाऊँगी, तू बछड़ों की टहल करके शीघ्र आ जाना।

अकृतपुण्य प्रसन्नचित्त से बछड़ों की चर्या करने गया और माता के कहे अनुसार जल्दी आ गया। इतने में माता ने खीर बनाकर तैयार कर दी। माता ने अकृतपुण्य से कहा कि बेटा ! मैं पानी भरकर अभी घर आती हूँ। यदि इतने मैं कोई साधु आवें तो उन्हें जाने मत देना; क्योंकि उत्तम पात्रदान से महान पुण्य बँधता है। उत्तम पात्रों को दान देने से अपने को उत्तम भोजन मिला करेगा तथा उत्तम पात्रदान से ही गृहस्थाश्रम की सफलता है। हमने पहले कभी दान नहीं दिया, इस कारण दरिद्रता के दु:ख सहन करने पड़ रहे हैं इत्यादि प्रकार से धार्मिक भावना समझाकर माता घड़ा लेकर पानी भरने गई।

इतने में महान पुण्योदय से अकृतपुण्य को रत्नत्रय के धारक व अनेक ऋद्धियों से विभूषित महापात्र 'सुव्रत' नामक मुनिराज एक माह के उपवास के पारणे के लिये शरीर की स्थिति के लिये बलभद्र के घर की तरफ आते दिखाई देते हैं। यह देखकर अकृतपुण्य शुद्धमन से विचारता है कि अहो ! यह महान साधु महात्मा हैं।

देखो, इनके पास वस्त्रादिक कुछ भी नहीं है। अहो ! मेरे महान पुण्योदय से ये साधु महात्मा

पधारे हैं। मैं इनको जाने नहीं दूँगा। इसप्रकार विचार करते हुये वह मुनिराज के सामने जाकर विनती करने लगा कि प्रभो ! मेरी माता ने बहुत ही सरस खीर बनाई है वह आपको भोजन में देनी है। मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप यहीं ठहरें। मेरी माता अभी पानी भरकर आती ही है; परन्तु मुनिराज का यह मार्ग नहीं है इसलिये वे धीमे-धीमे आगे बढ़ने लगे।

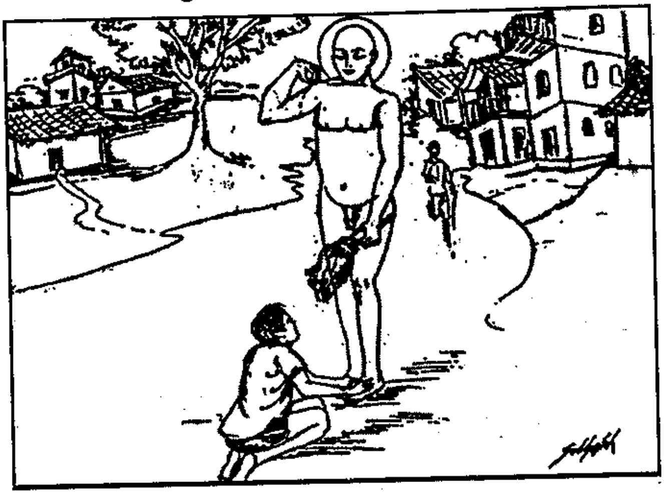

तब अकृतपुण्य मुनिराज के चरण पकड़ कर अत्यन्त विनय पूर्वक पुनः बोलता है कि तात् ! मेरे उपर दया करो, कुछ देर खड़े रहो आप यहाँ से आगे मत पधारो – इस प्रकार प्रार्थना करने लगा। इतने में ही उसकी माता पानी भरकर आ जाती और मुनिराज को देखकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता होती है। जैसे अनायास दुर्लभ धन मिलने से प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता इस समय उसे हुई। उसने तुरन्त अपने सिर से पानी का घड़ा उतारकर मुनिराज के चरणों में नमस्कार किया और हे स्वामी ! नमोऽस्तु...नमोऽस्तु...अत्र...अत्र...अत्र...तिष्ठः, तिष्ठः, तिष्ठः, ठः ठः ठः, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, भूमिशुद्धि, आहार-जलशुद्ध है – ऐसा कहकर मुनिराज का पड़गाहन किया।

तत्पश्चात् मुनिराज को घर में ले जाकर उच्च-आसन पर विराजमान किया और नवधाभक्ति से अत्यन्त हर्षित होकर पुत्र के साथ-साथ माता ने मुनिराज को खीर का आहार कराया। मुनिराज को आहार करते देखकर अकृतपुण्य बहुत ही आनन्दित हुआ – इस कारण उसने महान पुण्य का उपार्जन किया। वह विचारने लगा कि अहो ! आज मैं कृतार्थ हुआ, आज महादान से मेरा जन्म सफल हुआ। अहो ! आज मैं कितना भाग्यशाली हूँ। देव, राजा, महाराजा और विद्याधरों से वन्दनीय महापात्र मुनिराज मेरे घर आहार कर रहे हैं। इसप्रकार अकृतपुण्य उल्लासपूर्वक पवित्र भावना से महान पुण्य का उपार्जन करता रहा है।

जितेन्द्रिय योगीराज ने खड़े-खड़े शान्तभाव से पाणिपात्र में आहार करके दाता को पावन किया और शुभ-आशीर्वाद प्रदान कर वन-जंगल की तरफ विहार कर गये। अहा ! देखो बालक की उत्तम भावना ! कि जो खीर के लिये कितने ही समय से रोता था और जैसे-तैसे सेठ की कृपा

से खीर मिली तो भी उसने उसे खाने के लिये ऐसी लोलुपता नहीं की, कि यह खीर मुझे बड़ी कठिनाई से मिली है; अत: मैं किसी को नहीं खाने दूँगा, बल्कि सारी ही खीर मैं खा जाऊँगा; परन्तु साधु महाराज को खीर देने के लिये धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करता है और सद्भाग्य से मुनिराज के आ जाने पर निर्लोभता से भक्ति से – उल्लासपूर्वक खीर का दान देकर आनन्दित होता है।

वे मुनिराज अक्षीण ऋद्धि से विभूषित थे – इस कारण मुनिराज का आहार होने से खीर अक्षीण हो गई (चक्रवर्ती की समस्त सेना भोजन करे तो भी उस दिन अक्षय ऋद्धि के कारण भोजन खत्म नहीं होता) जब मुनिराज आहार करके चले गये तो मृष्टदाना ने अकृतपुण्य को बहुत खीर जिमाई और स्वयं भी पेट भरकर खाई, तो भी खीर रंचमात्र कम नहीं हुई। यह देखकर उसको बहुत आश्चर्य हुआ और सेठ बलभद्र के कुटुम्ब को भोजन के लिये बुलाया तो भी भोजन कम नहीं हुआ। तब पूरे गाँव को दिन भर भोजन कराया – इस महादान से माता-पुत्र की बहुत प्रशंसा-प्रसिद्धि हुई।

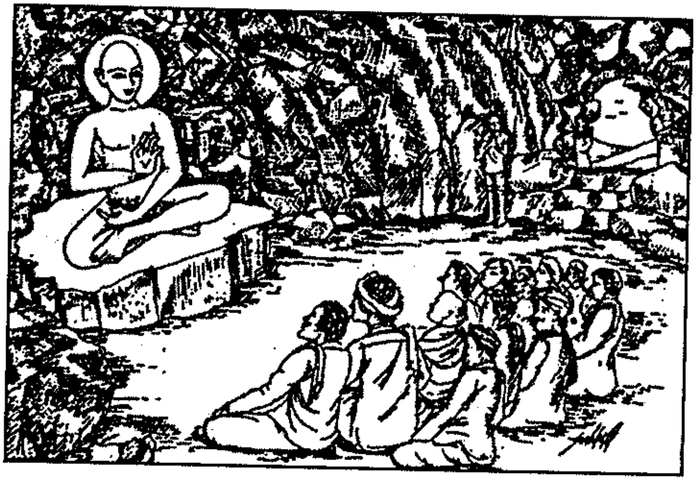

खीर खाकर अकृतपुण्य बछड़ों को चराने के लिये वन में ले गया। किन्तु पेट भर गरिष्ट भोजन खाने से उसको निद्रा आ गई और गायें स्वयं वापिस घर आ गईं। गायों को अकेला आया देखकर उसकी माता सोचने लगी कि पुत्र वापिस घर क्यों नहीं आया ? उसे क्या हुआ होगा ? ऐसी चिन्ता से वह रोने लगी और सेठ से उसकी खोज कराने को कहा। मृष्टदाना के आग्रह से सेठ अपने नौकरों सहित अकृतपुण्य को खोजने के लिये निकला।

इधर जब अकृतपुण्य की निद्रा उड़ी तो उसने गायों को नहीं देखा, अत: व्याकुल होकर उन्हें चारों तरफ खोजते-खोजते घर की तरफ आने लगा। इतने में अपने सामने सेठ बलभद्र को आते देखकर डरकर पर्वत पर चढ़ गया। बलभद्र ने उसकी बहुत खोज की, परन्तु उसके नहीं मिलने पर वह वापिस घर आ गया।

अकृतपुण्य पर्वत ऊपर गुफा के दरवाजे पर खड़ा रहा। गुफा में सुव्रत मुनिराज धर्म का उपदेश दे रहे थे, सो अकृतपुण्य भी उसे प्रसन्नता पूर्वक सुनने लगा।

उपदेशपूर्ण होने के बाद श्रावक- गण णमो अरहंताणं का उच्चारण करते हुये गुफा में से बाहर निकले। अकृतपुण्य भी उन लोगों के साथ मंत्र का उच्चारण करते हुये पीछे-पीछे जा रहा था, इतने में एक क्षुधातुर बाघ ने उसे पकड़ लिया और अकृतपुण्य ने मंत्र के स्मरण सहित समाधिपूर्वक देह का त्याग किया और उपार्जित किये हुये महान पुण्य के उदय से सौधर्म स्वर्ग में महर्धिक देव हुआ।

अहो ! देखो, कहाँ तो उसके प्रबल पापोदय और कहाँ उस दुर्लभ पात्रदान का योग और कहाँ उत्तम भावना से प्राप्त स्वर्ग ?

इधर रात भर पुत्र के न आने से चिंतातुर माता सवेरा होते ही सेठ बलभद्र को लेकर पुत्र को खोजने के लिये निकली। वे उसे खोजते-खोजते उसी पर्वत पर जा पहुँचे, कि जहाँ प्रिय पुत्र का आधा खाया हुआ शरीर पड़ा था। उसे देखकर पुत्र की मृत्यु जानकर उसकी माता महाशोकपूर्वक रुदन करने लगी।

इधर अकृतपुण्य स्वर्ग में उत्पन्न होने पर विचार करने लगा कि अहा ! मैं कौन हूँ ? और यह सुखमय स्थान कौन-सा है ? इत्यादि विचार करते उसे अवधिज्ञान प्रकट हो गया और पूर्वजन्म की सारी बातें जान ली तथा अपनी माता को रुदन करते देखकर उसने सर्वप्रथम तो जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्रदेव की महापूजा-भक्ति की और पश्चात् बहुत वैभव के साथ माता को समझाने के लिये पृथ्वी पर आया। शोक से रुदन करती माता को देखकर कहा कि हे माता ! तू रुदन मत कर, मैं ही तेरा पुत्र हूँ। परन्तु पात्रदान तथा नमस्कार मंत्र के प्रभाव से मैं देव हुआ हूँ।

– ऐसा कहकर स्वर्ग के उत्तम-उत्तम सुखों का वर्णन किया और अन्त में कहा कि हे माता! यह सब प्रताप दान, व्रत आदि का है, अतः तू भी व्रतादि का पालन कर और रुदन छोड़ ! रुदन करने से पाप बंध होता है। अंतः तू दुर्लभ संयम को ग्रहण करके मनुष्य जन्म सफल कर ! इत्यादि सम्बोधन करके देव (भूतपूर्व पुत्र का जीव) स्वर्ग में गया और माता मृष्टदाना को महान आश्चर्य हुआ कि अहो ! कहाँ तो अकृतपुण्य की दारुण दुःखमय दशा और कहाँ महान पात्रदान लाभ और व्रतादि की भावना से स्वर्ग का उत्तम सुख !

– ऐसा जानकर वह भी घर-बार का परित्याग करके संसार से विरक्त होकर दीक्षित हुई और यथायोग्य तपादि करके समाधिपूर्वक प्राणों का परित्याग किया। जहाँ अकृतपुण्य का जीव था वहीं बलभद्र का जीव देव और मृष्टदाना का जीव देवी हुआ।

मुनिराज धन्यकुमार से कहते हैं कि हे कुमार ! वही बलभद्र स्वर्ग में से यहाँ तेरे पिता धनपाल हुये हैं और माता मृष्टदाना स्वर्ग में से तेरी माता हुई है, जो पूर्व के स्नेह से तुझ पर विशेष प्रेम रखती है। अकृतपुण्य का जीव पात्रदान के प्रभाव से जो स्वर्ग में देव हुआ था, वह अब तुम्हारे रूप में धन्यकुमार बना है और बलभद्र के सात पुत्र तुम्हारे भाई के रूप में उत्पन्न हुये हैं जो तुम्हें मारना चाहते हैं। तुम्हें वर्तमान में जो स्थान-स्थान पर लक्ष्मी, सौन्दर्यता, यश आदि मिलते हैं, वह सब पूर्व के पात्रदान का तथा व्रतादि की भावना का व नमस्कार मंत्र के स्मरण का फल है। अब तुम इस भव में भी प्रयत्नपूर्वक धर्म करने में सावधान रहना इत्यादि आशीर्वाद दिया। धन्यकुमार अपने पूर्व भव जानकर व पात्रदान आदि का फल जानकर बहुत प्रसन्न हुआ और धर्म में विशेष दृढ़ हुआ।

अब धन्यकुमार मुनिराज के द्वारा सुनाये गये धर्म के उत्तम फल का विचार करते हुए राजगृही नगर की तरफ जा रहा है। राजगृही नगर के बाहर एक सूखे हुये वन में जाकर विश्राम करता है। जब धन्यकुमार वन में सूखे वृक्ष के नीचे विश्राम के लिये बैठता है, तब सारा ही वन एकदम हरा-भरा हो जाता है।

सूखी बावड़ी पानी से भर जाती है। इस वन का मालिक सेठ कुसुमदत्त है। वह अपने वन को सूख जाने से काटने का विचार करता था, इतने में एक अवधिज्ञानी मुनिराज से उसकी भेंट हो गई। सेठ कुसुमदत्त मुनिराज को भक्ति से नमस्कार करके पूछता है कि प्रभो ! यह वन सूख गया है सो फिर से नंदनवन समान होगा या नहीं ? मुनिराज कहते हैं कि कोई भाग्यवान पुरुष आकर यहाँ बैठेगा, उस समय यह वन नंदनवन के समान हो जायेगा। इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर सेठ कुसुमदत्त उस भाग्यवान पुरुष की प्रतीक्षा करता था।

धन्यकुमार के आने से यह सूखा वन फल-फूलादि से नंदनवन समान बन जाने से आश्चर्य युक्त कुसुमदत्त सेठ धन्यकुमार के पास आकर नम्रता से पूछता है कि आप भाग्यशाली कौन हैं ? और किस स्थान से पधारे हैं ? तब धन्यकुमार कहता है कि मैं उज्जैनी का निवासी वणिक

पुत्र जैन हूँ। तब सेठ अत्यन्त प्रसन्नता से कहता है कि मैं भी जैनी ही हूँ – इस कारण आप मेरे साधर्मी हैं, अतः आप मेरे घर पधारने की कृपा करें। सेठ का वात्सल्य देखकर धन्यकुमार उसके घर जाता है। सेठ अत्यन्त आदर सत्कार पूर्वक उसे घर ले जाता है और अपनी पत्नी से कहता है कि यह अपने अतिथि/मेहमान हैं; अतः इनका भली-भाँति स्वागत करना। सेठानी धन्यकुमार को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है और यह मेरा भावी दामाद है – ऐसा जानकर बहुत सत्कार करती है।

कुसुमदत्त सेठ के पुण्यावती नाम की सुन्दर कन्या है। वह धन्यकुमार के रूपादि देखकर मोहित होती है और कुमार की चतुराई की परीक्षा के लिये सुन्दर फूल और डोरा देती है। कुमार उसकी सुन्दर चित्ताकर्षक फूलमाला गूँथ देता है। कुमारी पुण्यावती उस फूलमाला को अपनी सखी राजा श्रेणिक की पुत्री राजकुमारी गुणवती को अर्पण करती है। गुणवती माला देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है और पूछती है कि – ऐसी सुन्दर गूँथी हुई पुष्पमाला किसने बनाई है ? तब पुण्यावती कहती है कि हमारे घर एक सेठ पुत्र आया है, उसी बुद्धिमान ने बनाई है। राजकन्या गुणवती सेठ पुत्री से कहती है कि – अहो ! तू बहुत भाग्यशाली है जिससे तुझे ऐसे उत्तम वर की संगति मिलेगी।

एक समय धन्यकुमार बाजार में जाता है और एक सेठ की दुकान पर बैठता है। उसके बैठने से सेठ को व्यापार में बहुत लाभ होने से उसका कारण पुण्यशाली धन्यकुमार को जानकर वह कुमार से विनती करता है कि मेरी पुत्री सुन्दर, रूपवान और गुणवान है मैं उसका विवाह आपके साथ करूँगा। इसी तरह दूसरे दिन शालीभद्र सेठ की दुकान पर जाकर कुमार बैठा तो उसे भी व्यापार में बहुत लाभ हुआ। वह इस लाभ का कारण पुण्यशाली कुमार है – ऐसा जानकर कुमार से कहता है कि – हे भद्र ! कृपया, मेरी सुभद्रा नामक बहिन को स्वीकार कर अनुग्रहीत करें, मैं आपके साथ उसका विवाह कर अपने को भाग्यशाली समझूँगा। इसी प्रकार अन्य भी कितने ही श्रीमंतों ने अपनी कन्याओं का विवाह धन्यकुमार के साथ करने का निश्चय किया। 191

राजा श्रेणिक की पुत्री गुणवती भी धन्यकुमार के रूप-गुण से मोहित होकर दिन-प्रतिदिन दुबली होने लगी। यह जानकर राजा श्रेणिक ने अपने पुत्रों से सलाह माँगी कि गुणवती का विवाह धन्यकुमार के साथ करना उचित लगता है ?

तब राजपुत्र कहते हैं – पिताजी ! उसकी शूरवीरता आदि की परीक्षा करना चाहिये और उसके लिये नगरी के बाहर राक्षस गृह है, उसे उसमें एक रात्रि रखना चाहिए, यदि वह राक्षस गृह के उपद्रवों पर विजय प्राप्त कर ले, तो गुणवती का विवाह उसके साथ कर देना। इसप्रकार विचार

कर धन्यकुमार से रात्रि में किसी कार्य का बहाना करके राक्षसगृह जाने को कहा। धन्यकुमार ने भी उनका यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। अन्य अनेक श्रीमंतों ने उसे जाने को मना किया कि जो उस राक्षसगृह में जाता है वह मृत्यु से बचता नहीं है, अतः आप वहाँ नहीं जावे; परन्तु कुमार तो निडर है, इसलिये उसने किसी की बात न मानकर अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक राक्षस गृह में जाना स्वीकार किया।

धन्यकुमार को राक्षस गृह में आते देख गृह का रक्षक राक्षस बहुत प्रसन्न होता है और नमस्कार करके कहता है कि हे प्रभो ! आप मुझे अपना सेवक समझें, मैंने इतने समय से आपके धन-खजाने से परिपूर्ण इस भवन की रक्षा की है। अब आप आ गये हैं तो अपना धन-खजाना संभालें और जब कभी भी ऐसी आवश्यकता पड़े तब इस सेवक को अवश्य याद करना, मैं हाजिर हो जाऊँगा – ऐसा कहकर अन्तर्हित हो गया। कुमार रात्रि में सुखपूर्वक वहाँ रहा और प्रातःकाल उठकर सामायिकादि क्रिया करके प्रसन्नतापूर्वक गाँव में आ गया। यह देखकर राजा श्रेणिक आदि को आश्चर्य के साथ यह निर्णय हो गया कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, महान गुणवान पुरुष है – ऐसा जानकर उन्होंने अपनी पुत्री गुणवती का विवाह कुमार के साथ कर दिया और साथ ही आधा राज्य भी दे दिया। अब धन्यकुमार राजा हो गये हैं, यह सब पुण्योदय का फल है, जो धर्म सेवन से होता है – ऐसा जानकर कुमार अत्यन्त रुचिपूर्वक धर्म का पालन करता है और समय-समय पर धर्म की महान प्रभावना करता है और सुखपूर्वक आनन्द से रहता है।

जब धन्यकुमार भाइयों की दुष्टता से गाँव छोड़कर चला आया था तभी से उनके नवनिधि विलुप्त हो गई तथा सभी हैरान-परेशान होकर उस घर को छोड़कर किसी पुराने मकान में रहने गये तथा भाइयों की दुष्टता से गाँव के लोग उनकी निन्दा करने लगे और कुपुत्रों के पापोदय से धन समाप्त हो गया, पेट भरना भी मुश्किल हो गया – इस प्रकार वे सब महादुःखी हो गये।

एक दिन सेठ धनपाल अपने धनवान भानजे सेठ शालिभद्र के यहाँ जाने को रवाना हुआ। राजगृही पहुँचकर धन्यकुमार के महल के नीचे बैठकर शालिभद्र का मकान कहाँ है ? – यह पूछने लगा। धन्यकुमार महल के ऊपर बैठा था, उसकी नीचे नजर पड़ते ही, अहो ! ये तो मेरे पिताश्री ही है – ऐसा पहिचानते ही तुरन्त नीचे आकर पिताजी के चरणों में नम्रीभूत हो गया। बेचारे पिताजी तो उस समय फटे हुये कपड़े पहिने भिखारी के जैसे हो रहे थे। उन्हें राजा धन्यकुमार को नमस्कार करते देखकर राज्य कर्मचारी और नगरजन आश्चर्य करने लगे। पिता धनपाल तो धन्यकुमार को पहिचान ही नहीं पाये – इस कारण राजा को अपने पैरों में पड़ने से लज्जित हो जाते हैं और कहते है – अहो नराधीश ! आप तो महान पुण्यात्मा हो, आप तो पृथ्वीपालक हैं,

अत: मुझे आपको नमस्कार करना चाहिये ? यह सुनकर धन्यकुमार कहता है कि – आप ही नमस्कार करने योग्य हैं; क्योंकि आप मेरे पूज्य पिताजी हैं और मैं आपका सबसे छोटा पुत्र हूँ – ऐसा सुनते ही पिता पुत्र को पहिचान लेते हैं और उनकी आँखों से आनन्द की अश्रुधारा बह निकलती है, यही दशा धन्यकुमार की हो जाती है।

धन्यकुमार पिताजी को अपने महल में ले गये और माता तथा भाइयों के कुशल समाचार पूछे। पिताजी ने उसके जाने के बाद घटित समस्त दु:खद वृतान्त कह सुनाया। तब धन्यकुमार ने सेवकों के साथ धन-धान्य, वस्त्रादि भेजकर उज्जैनी से माता व भाइयों को बुलाने भेजा। माता और भाई धन्यकुमार के समाचार जानकर बहुत आनन्दित हुये और राजगृही आ गये। राजगृही आने पर धन्यकुमार माता और भाइयों का बड़ा सत्कार – स्वागत करते हैं और माता-पुत्र परस्पर मिलकर बहुत आनन्दित होते हैं। सबको रहने के लिये कुमार भवन देते हैं, भाई अपने अपराध की क्षमा माँगते हैं। पश्चात् धन्यकुमार धनादि की व्यवस्था कर देते हैं। इस प्रकार धन्यकुमार, माता-पिता और सभी भाई सुख-शान्ति से रहते हैं और विशाल जिनमन्दिरों का निर्माण कराकर धर्मध्यान में समय व्यतीत करते हैं।

एक दिन धन्यकुमार अपनी सुभद्रा नाम की पत्नी का मुख मलिन देखकर पूछते हैं कि – हे प्रिये ! आज तुम्हारा मुख मलिन क्यों दिख रहा है ? तुम्हें कुछ शोक है – ऐसा लगता है ? तब सुभद्रा कहती है कि हे स्वामी ! मेरा भाई शालिभद्र बहुत दिनों से कुटुम्ब घर आदि से उदासीन होकर वैराग्य के चिन्तनपूर्वक घर में तप का अभ्यास करता है; परन्तु आज ज्ञात हुआ है कि वह जिनदीक्षा लेने के लिये तैयार हुआ है – इस कारण से मुझे शोक है। अन्यथा मैं आपके राज्य में सब प्रकार से अत्यन्त सुखी हूँ। यह सुनकर धन्यकुमार सुभद्रा से कहता है कि मैं अभी जाकर शालिभद्र को सुमधुर वचनों से समझा दूँगा – तू शोक छोड़ !

धन्यकुमार उसी समय अपने साले के घर गया और कहा – अरे शालिभद्र ! तुम आजकल घर क्यों नहीं आते ? तब शालिभद्र कहता है कि हे प्रियवर ! संयम बहुत कठिन है अत: उसकी सिद्धि के लिये घर में रहकर तपश्चरण का अभ्यास करता हूँ – इस कारण आपके यहाँ नहीं आ पा रहा हूँ। यह सुनकर धन्यकुमार कहता है कि अरे भाई ! तुम्हें जिनदीक्षा लेनी हो तो जल्दी करो, जो ऋषभदेव आदि महापुरुष मोक्ष गये हैं, क्या उन्होंने घर में तपश्चरण का अभ्यास किया था ? वे तो उल्कापात आदि किंचित् मात्र वैराग्य का कारण पाकर करोड़ों वर्षों से भोगे हुये भोगों को क्षणमात्र में छोड़कर तप द्वारा मुक्त हो गये। वस्तुत: उन्हें ही पुरुषोत्तम कहा जाता है। तुम तो डरपोक दिखते हो इस कारण घर में रहकर तप का अभ्यास कर रहे हो।

देखो ! मैं अभी ही कठिन दीक्षा और तप को उसके अभ्यास किये बिना ही ग्रहण करता हूँ। क्या तुम नहीं जानते कि पापी काल कब आकर भक्षण कर लेगा, इसका कुछ भी विश्वास करने योग्य नहीं है। इस कारण जो संसार से छूटना चाहता है, उसको जब तक वृद्धदशा नहीं आवे, इन्द्रियाँ शिथिल न होवें, उसके पूर्व ही मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिये – इत्यादि हितकर और वैराग्यपूर्ण वचनों से शालिभद्र के रोम-रोम में वैराग्य रस जागृत करके उन्हें तत्काल ही मुनिपद के लिये तैयार कर दिया और स्वयं भी उनसे अधिक विरक्ति पूर्वक अपने घर गये, राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपा और माता-पिता श्रेणिक आदि से आज्ञा लेकर शालिभद्र आदि अनेक लोगों के साथ भगवान महावीर के समवसरण में गये।

समवसरण में जाकर भगवान के दर्शन-पूजन किये, अनेक प्रकार के गुणगान करके भगवान की भक्ति की; तत्पश्चात् प्रभु से विनती की कि हे नाथ ! हमें मोक्ष प्रदायक भगवती जिनदीक्षा प्रदान करो – ऐसा कहकर हाथ जोड़कर खड़े हुए और भगवान की आज्ञा अनुसार धन्यकुमार, शालिभद्र आदि के साथ बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर मोक्ष की माता रूपी दिगम्बर दीक्षा अंगीकार कर अनेक प्रकार की कठिन तपश्चर्या करने में तत्पर हुए।

इसप्रकार मुनिराज धन्यकुमार तपश्चरण कर अन्त में सल्लेखना का पालन कर प्रायोपगमन मरण से ध्यान और समाधिपूर्वक बाह्य दश प्राणों का त्याग कर धर्म के प्रभाव से सवार्थसिद्धि स्वर्ग में अहमिन्द्र हुए। तथा वहाँ से चय कर मनुष्य पर्याय प्राप्त कर मोक्ष जायेंगे।

शालिभद्र आदि मुनिराज भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार तपश्चरण करके समाधिमरण पूर्वक देह त्याग कर यथायोग्य स्वर्गों में गये।

अहो ! देखो, पवित्र जैन धर्म की महानता ! जो जीव इसको अपने अन्दर उतारता है, उसका कल्याण नियम से होता ही है। देखो, धन्यकुमार के जीव ने पूर्व में पापी चोर होकर जिनमन्दिर का निर्माल्य द्रव्य चोरी किया, सातवें नरक में गया, वहाँ के घोर दुःख भोगे। उसके बाद अकृत-पुण्य हुआ और मात्र मुनिराज को आहारदान देने की भावना मात्र से महान पुण्यार्जन कर स्वर्ग गया, तत्पश्चात् महाभाग्यशाली के रूप में धन्यकुमार हुआ और मुनि होकर तपश्चरण किया तथा समाधिपूर्वक प्रायोपगमन मरण कर सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हुआ तथा अगले भव में मोक्ष जायेगा।

ऐसे पापी जीवों को भी पवित्र बनाकर मोक्षमार्ग में लगाने वाला यह महान जैनधर्म हमें भी अपना कर अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

39

दृढ़श्रद्धानी श्री वारिषेण

संसार के श्रेष्ठ वैभव से सम्पन्न मगध देश के अन्तर्गत राजगृह नामक नगर में सम्यक्त्व-भूषण सम्पन्न अनेक गुणालंकृत नीति-निपुण श्रेणिक राजा राज्य करते थे। तत्त्वदृष्टा, सुन्दर, बुद्धिमान, शीलवान, सरलचित्त उसकी महारानी चेलना थीं। वारिषेण नाम का उनका एक महाधर्मवत्सल पुत्र था, जो ध्यान और स्वाध्यायादि में सदैव निरत रहता था।

इसी राजगृह नगर में एक श्रीकीर्ति नाम के राजश्रेष्ठी निवास करते थे। एक दिन वे वनक्रीड़ा के लिये नगर के उद्यान में गये थे। सेठ के गले में एक बहुत कीमती मणियों का हार पड़ा था। वहाँ मगधसुन्दरी नाम की वेश्या उस हार को देखकर मुग्ध हो गई। वह उस हार को प्राप्त किये बिना अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगी। समस्त संसार उसे हारमय ही दिखाई देने लगा। वह उदास होकर घर लौट आयी।

जब रात्रि में उस वेश्या का अनन्य प्रेमी विद्युतचोर उसके पास आया तो उसे उदास देखकर प्रेम से पूछने लगा – "प्रिय ! इतनी उदास क्यों हो ? क्या किसी ने कुछ कह दिया है ? मुझसे तुम्हारी ये उदासी देखी नहीं जाती।"

वेश्या कटाक्ष करती हुई बोली – "चलो देख लिया तुम्हारा प्रेम; मैं तो तुम्हें सच्चा प्रेमी तभी जानूँगी, जब तुम मेरी प्रिय वस्तु मुझे लाकर दोगे। मैंने आज श्रीधर सेठ के गले में एक सुन्दर हार देखा है। आप जैसे प्राणवल्लभ के होते हुए भी यदि मैं वह हार प्राप्त न कर सकी तो मेरा जीवन व्यर्थ है। मैं तभी अन्न-जल ग्रहण करूँगी, जब मुझे वह हार मिल जायेगा।"

– इसप्रकार विद्युतचोर को उसने अपने जाल में फँसा लिया।

"**वेश्या विषवृक्ष की तरह व्यक्ति को मूर्छित कर देती है। वह जोंक की तरह व्यक्ति का ज्ञान और धन चूस लेती है और उसका सर्वस्व हरण कर छोड़ देती है।** वेश्या के कटाक्षबाण जीव को घायल कर देते हैं। उसके नकली प्रेम में पागल होकर प्राणी सब-कुछ अनर्थ करने को तैयार हो जाता है।"

मगधसुन्दरी की कठिन प्रतिज्ञा को सुनकर विद्युतचोर हतप्रभ रह गया। वह कामान्ध होकर हार चुराने को बाध्य हो गया। अपने जीवन का सब-कुछ भूलकर प्रेमिका के प्रेमपांस में बँधकर वह सेठ के महल में घुस गया। अपनी कार्यकुशलता से वह दिव्यहार चुराकर वहाँ से भागा, परन्तु हार का दिव्य प्रकाश छिप न सका और सिपाहियों ने उसे देख लिया। उसे पकड़ने के लिये वे उसके पीछे दौड़ पड़े। विद्युतचोर भागता-भागता श्मशान की ओर जा निकला। उस समय वहाँ राजा श्रेणिक का पुत्र वारिषेण कायोत्सर्ग पूर्वक श्मशान में ध्यानस्थ था। उसने मौका देखकर हार को वारिषेण के आगे डाल दिया और स्वयं वहाँ से भाग गया।

इतने में सिपाही भी वहाँ आ पहुँचे और वारिषेण को हार के समीप ध्यानस्थ खड़ा देखकर अचम्भित रह गये और हँसकर मजाक उड़ाते हुए बोले –

"वाह ! चाल तो खूब चली, ध्यान में बैठे देखकर हम तुझे धर्मात्मा और निर्दोष मानकर छोड़ जायेंगे। रे धूर्त ! धर्मात्मा बनकर ऐसा नीच कृत्य करता है। चल, राजदरबार में; वहाँ स्वयं ही तुझे तेरे किये की सजा मिलेगी।"

सिपाहियों ने तत्काल उन्हें बाँध लिया और राजदरबार की ओर चल पड़े।

(2)

"पाप के उदय में कभी-कभी निरपराध ज्ञानियों को भी घोर अपमान का सामना करना पड़ता है। जिनका हृदय स्फटिकवत् निर्मल होता है, अशुभकर्म का उदय उनके जीवन में भी कलंक की कालिमा लपेटना चाहता है।"

न्याय पिता-पुत्र को नहीं देखता। अपने पुत्र वारिषेण की उस घटना को सुनकर महाराजा श्रेणिक का हृदय क्रोध से तमतमा गया, आँख से क्रोधाग्नि की चिंगारियाँ निकलने लगीं। वे सिंह के समान गरजकर बोले –

" रे दुष्ट, पापी, कुलकलंक, धर्मात्मा और ध्यानी का ढोंग बनाकर लोगों को ठगता है। देख लिया, तेरे धर्म का पाखण्ड। जिसे मैं सिंहासन पर बैठाकर राज-राजेश्वर बनाना चाहता था, वह कुलकलंक ऐसा नीच निकला। इसे देखना भी मुझे कष्टकारी लगता है। अरे ! इस दुराचारी को यहाँ से ले जाकर इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालो।"

अपने पुत्र के लिये ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर प्रजा भय से काँपने लगी, सबकी आँखों में पानी

भर आया। पर किसका साहस जो राजा की बात का प्रतिवाद कर सके। ऐसा दण्ड-विधान सुनकर अन्यायियों का कलेजा काँप गया, उन्होंने मन ही मन अपने दुष्कृत्य छोड़ने की प्रतिज्ञा ले ली।

जल्लाद उसीसमय निरपराध वारिषेण को बध्यभूमि में ले गये। राजपुत्र को ले जाते समय उनके हाथ काँप रहे थे।

अहो ! जहाँ पुत्र के लिये पिता की ही ऐसी कठोर आज्ञा हो, वहाँ अन्य की तो बात ही क्या ? अरे ! अब इस राजकुमार की रक्षा कौन करे ? परन्तु राजकुमार वारिषेण को तो एक अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्यतत्त्व ही शरण था और उनका पुण्य ही उनका रक्षक। निर्जनवन, श्मशान, शत्रु, जल अग्नि, पर्वत सादि अनेक विषम परिस्थितियों में केवल पुण्य ही जीव की रक्षा करता है।

"पुण्य के प्रताप से प्रतिकूल सामग्री भी अनुकूल परिणमन कर जाती है। हलाहल विष भी अमृत हो जाता है, अग्नि शीतल जलरूप हो जाती है, और तलवारों के प्रहार पुष्पहार हो जाते हैं।"

जल्लादों का हृदय भी राजपुत्र पर वार करने के लिये काँप रहा था, पर वे राजाज्ञा पालन करने के लिये मजबूर थे। उन्होंने ज्यों ही खड्ग निकाल कर वारिषेण की गर्दन पर वार किया, त्यों ही वारिषेण को लगा कि मानों किसी ने उनके गले में पुष्पहार डाल दिया हो। अनेक तलवारों के वार किये, पर वज्र की तरह उनके गले में कुछ भी असर न हुआ और खड्ग प्रहार पुष्पहार बन गये। यह देखकर जल्लाद आश्चर्यचकित रह गया।

देव धर्म की प्रभावना देखकर जय-जयकार करते हुए पुष्पवर्षा करने लगे। सारा जनसमूह वारिषेण को निरपराध जानकर और धर्म का प्रभाव देखकर जय-जयकार करने लगा। बिजली की तरह सम्पूर्ण मगध में यह समाचार फैल गया। प्रजाजन के मुखकमल प्रसन्नता से खिल उठे। वह सब देखकर वारिषेण विचार करने लगे –

पुण्य-पाप फलमाहिं हरख-बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल पर्याय उपजि-विनसे फिर थाई।।

(3)

"कल्पवृक्ष तो याचना करने पर फल देते हैं, चिन्तामणि भी चिन्तवन करने से फल

देते हैं; परन्तु धर्म से तो बिना याचना किये और बिना चिन्तवन किये ही कोई परम अद्भुत फल प्राप्त होता है।

हे भव्य ! यह घर तो बन्दीगृह समान है। बान्धव बन्धन के मूल हैं। स्त्री आपदा का द्वार है। काल अलंघ्य है, इसलिये शरीर की रक्षा छोड़ धर्म की रक्षा करना। इस अल्प आयु और चंचल काय के बदले शाश्वत पद मिले तो समझ लेना कि फूटी कौडी में चिन्तामणि रत्न प्राप्त कर लिया।''

बिना विचार किये कृत्य पर अन्त में पश्चाताप करना पड़ता है। महाराजा श्रेणिक ने जब इस अलौकिक घटना का वृत्तान्त सुना तो वे स्तम्भित रह गये। धर्म का प्रभाव देखकर अपने बिना विचारे किये कृत्य पर पश्चाताप करने लगे। धीरे-धीरे उनके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये। वे बारम्बार अपने को धिक्कारने लगे।

दुखित हृदय श्रेणिक शीघ्र ही पुत्र वारिषेण के पास वध्यभूमि में गये। वारिषेण की निश्चल पुण्यमूर्ति को देखकर उनका हृदय पुत्र-प्रेम से भर आया। आँखों से आनन्दाश्रुपात होने लगा। अपार स्नेह और आप्लावित नेत्रों से पुत्र को शीघ्र ही गले से लगा लिया और रुँधे कण्ठ से बोले–

'' पुत्र ! मेरे अपराध को क्षमा करो। मैं क्रोधावेश में अन्धा हो गया था, इसलिये न्याय-अन्याय का निर्णय न कर सका। हे पुत्र ! पश्चाताप की ज्वाला से मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमा-जल से उपशान्त करो। मैंने धर्म का अनादर किया है, उसका मैं प्रायश्चित लेता हूँ। मुझे अपने अविवेक पर अत्यन्त खेद है।''

पिता को पश्चाताप करते हुए देखकर वारिषेण के नेत्र भर आये और वे सरलभाव से बोले–

''तात् ! आप यह क्या कर रहे हैं ? आप अपराधी कैसे ? आपने तो अपना कर्तव्य पालन किया है। आप पुत्र-प्रेमवश मुझे दण्ड न देते तो प्रजा आपको न्याय-वत्सल न कहती। आपकी

नीति परायणता को देखकर मेरा हृदय आनन्द से गर्वित है। आपने अपने पवित्र न्यायधर्म की लाज रखी है। मेरा अशुभकर्म का उदय ही ऐसा था, जो मुझे निरपराध होने पर भी कलंक का टीका लगा। अपने किये शुभाशुभकर्म का फल तो भोगना ही पड़ता है।''

पुत्र के ऐसे पवित्र और उदार विचारों को सुनकर श्रेणिक का हृदय स्नेह से गद्‌गद् हो गया। वे अपना सब दुःख भूल गये।

(4)

जिसतरह सिंह को सामने देखकर हिरण भय से मुख का तृण भी छोड़ देता है, उसीतरह वारिषेण के पुण्य का प्रभाव देखकर विद्युतचोर बहुत भयभीत हो गया। उसने सोचा कि राजा को यदि मेरा इनके चरणाग्र में हार फैंकने का वृत्तान्त मालूम हो गया तो मुझे बहुत कठोर दण्ड देंगे और यदि मैं स्वयं जाकर सत्य-सत्य बात कह दूँ तो शायद मेरे अपराध को क्षमा कर दें अथवा सजा कम कर दें। अपने पापकर्म का फल तो मुझे भोगना ही पड़ेगा।

धिक्कार ! मेरे जीवन को, जो मैंने कामान्ध होकर इस नीच वेश्या के बहकावे में आकर ऐसा अनर्थ किया है – ऐसा विचार कर वह विद्युतचोर राजा के पास पहुँचा और अति विनम्र होकर सहजभाव से प्रार्थना करने लगा –

''महाराज ! यह सब पापकर्म मेरा है, पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष हैं। पापिन वेश्या के बहकावे में आकर मैंने यह नीच कृत्य किया है। आज से मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा नीच कर्म कभी नहीं करूँगा और अपना सम्पूर्ण जीवन आज से जिनधर्म की साधना-आराधना में ही अर्पण करूँगा। हे कृपानाथ ! दयार्द्र होकर मेरे दुष्कृत्य को क्षमा कीजिये।''

राजा श्रेणिक ने विद्युतचोर को अपने नीचकर्म का पश्चाताप करते हुए देखकर उसे अभयदान देकर दुःखमुक्त किया।

अहो ! धन्य है धर्म का प्रताप ! जिसे देखकर कल का महापापी चोर भी आज धर्मात्मा बन गया। ''हे आत्मन् ! इस जीव की भूल मात्र एक समय की ही है। अनादिकाल से भूला भगवान मात्र एक समय की भूल में भ्रमित हो रहा है। एक समय की भूल सुधारकर यही आत्मा परमात्मा बन सकता है। अहो ! स्वभाव-अपेक्षा तो सभी जीव भगवान हैं; किस पर राग-द्वेष करना। अपने भगवान आत्मा का भरोसा ही जीव को भव के अभाव की झनकार जगा देता है।''

(5)

वारिषेण को निरपराध देखकर श्रेणिक बोले –

"पुत्र ! अब शीघ्र राजमहल चलो, तुम्हारी माता तुम्हारे दर्शनों की प्रतीक्षा कर रही है; उन्हें दर्शन देकर उनके नेत्रों को तृप्त करो।"

लेकिन वारिषेण तो उक्त घटना को देखकर संसार से विरक्त हो चुके थे। वे पिता को सम्बोधित करते हुए बोले –

"हे तात् ! मुझे क्षमा करो, मैंने संसार की विचित्र-लीला बहुत देख ली, अब तो मेरा हृदय संसार-दुःख से थक गया है। अब मैं एक क्षण भी इस मोह के 'कारागृह' में नहीं रहना चाहता। आयु अल्प और जीवन क्षणभंगुर है। अब तो मेरे धर्म साधने का अवसर आया है।

यह मनुष्यता तो घुन लगे काले गन्ने के समान निष्फल है। यह आपदारूपी गाँठों से तन्मय है और अन्त में नीरस है। इसका मूल चूसने योग्य नहीं और मध्य क्षुधा, रोग, कोढ़ादि भयानक छिद्रों से सहित है; इसलिये मध्य भोगने योग्य नहीं। यह नाममात्र के लिए ही रमणीक है – ऐसी निस्सार मनुष्य पर्याय को धर्म का बीज बनाकर सफल करना ही योग्य है।

हे तात् ! यह स्नेही जनों का संयोग तो पर्वत शिखर पर वायु के थपेड़े खाते हुए दीपक के समान चंचल है। जिस प्रकार भवन में आग लगने पर उसे छोड़ देना ही हितकर है। उसी प्रकार मेरा आत्मा भी इस मोह की ज्वाला से भभकते संसार की दावाग्नि से बाहर निकलना चाहता है, अतः आप मुझे पुनः उस ज्वाला में न धकेलें।

जैसे लहराते हुए भयंकर समुद्र को तैरकर कोई मुश्किल से किनारे आ पाये और कोई उसे धक्का देकर पुनः समुद्र में धकेल दे; उसी तरह इस घोर संसार-सागर से वैराग्य द्वारा तैरकर मेरा आत्मा मुश्किल से किनारे पर आया है, आप पुनः इसे संसार-सागर में न धकेलें। मेरे परम अमृत के भोग में विष घोलने का कार्य न करें। अतः मुझे क्षमा करें।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के जनक के आत्मा। अहो ! इस पुरुष के शरीर की जननी के आत्मा। इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित नहीं है – ऐसा तुम निश्चय करो। इसलिये तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक के पास जा रहा है; इसलिये प्रसन्न-चित्त से मुझे विदा करो।

हे माता ! एक बार तुझे भी रोना हो तो रो ले, मगर अब मैं वचन देता हूँ कि किसी दूसरी माता को नहीं रुलाऊँगा। मेरे रोम-रोम में वैराग्य छा रहा है। मैं परमानन्द की प्राप्ति के लिये वन में जाना चाहता हूँ, इसलिये हे जनेता ! मुझे आनन्द से विदा करो।''

अहो, धन्य आत्मा ! धन्य काल ! माता की आँखों में आँसू की धार चली आ रही है, वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से पुत्र को विदा करती है – ''बेटा ! तेरे सुख के पंथ में हम विघ्न नहीं करते, हमारा धन्य भाग्य ! कि आज हमारा पुत्र केवलज्ञान लक्ष्मी का वरण करने के लिये जा रहा है। जा...बेटा जा...! अपने साध्य की सिद्धि कर – यह हमारा आशीर्वाद है, हमारी अनुमोदना है। हमें भी अल्पकाल में इसी पंथ पर आना है।''

''अहो ! कैसा अद्भुत होगा यह वैराग्य प्रसंग !!''

वारिषेण वैराग्य से ओतप्रोत होकर माता-पिता से जिनेश्वरी दीक्षा की आज्ञा लेकर वन की ओर चल दिये और दीक्षा धारण कर अडोल अकम्प साधनापूर्वक विचरण करने लगे।

अहो ! उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानों सिद्ध भगवान ही साक्षात् विचरण करते हों....वाह रे वाह !....धन्य मुनिदशा !!

(कहानी संख्या 33 से 39 के लेखक पण्डित राजकुमार जैन हैं। - आभार)

सम्यक्त्व का माहात्म्य

दुःखों से भरे हुए नरक में भी सम्यक्त्व सहित जीव शोभायमान होता है, उसके बिना जीव देवलोक में भी नहीं शोभता; क्योंकि नरक का जीव तो सारभूत सम्यक्त्व के माहात्म्य के कारण वहाँ से निकल कर लोकालोक को प्रकाशित करने वाला तीर्थंकर हो सकता है; लेकिन मिथ्यात्व के कारण भोगों में तत्पर देवलोक का जीव आर्तध्यान से मरकर स्थावर योनि में जाता है।

तीन काल या तीन लोक में सम्यक्त्व के समान अन्य कोई इस जीव का हितकारी नहीं है। जगत में, जीव का सम्यक्त्व ही एक परम हितकारी है।

सम्यक्त्व के अलावा दूसरा कोई जीव का मित्र नहीं, दूसरा कोई धर्म नहीं, दूसरा कोई सार नहीं, दूसरा कोई हित नहीं, दूसरा कोई माता-पितादि स्वजन नहीं या दूसरा कोई सुख नहीं। मित्र-धर्म-सार-हित-स्वजन-सुख – ये सभी सम्यक्त्व में समा जाते हैं।

– सकलकीर्ति श्रावकाचार से साभार

40

क्षमामूर्ति बालि मुनिराज

सद्गुरु का उपदेश सुन, जगा धर्म का प्रेम।
तत्क्षण बाली ने किया, सविनय सादर नेम ।।
यह सुनकर लंकेश तो, हुए क्रोध आधीन।
क्षमामूर्ति बाली हुए, तभी स्वात्म में लीन ।।

इस भूतल पर यह सर्वत्र विदित है कि मनुष्यादि प्राणियों के लिए उपजाऊ भूमि ही सदा जीवनोपयोगी खाद्य पदार्थ प्रदान करती है। सजलमेघ ही सदा एवं सर्वत्र स्वच्छ, शीतल जल प्रदान करते हैं। इसी प्रकार इस जम्बूद्वीप में अनेक खण्ड हैं, उनमें से जिस खण्ड के प्राणी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ को साध मुक्ति सुन्दरी के वल्लभ होते हैं, उसी खण्ड को उनकी इस आर्यवृत्ति के कारण आर्यखण्ड नाम से जाना जाता है। इसी आर्यखण्ड की पुष्पवती किष्किंधापुरी नामक नगरी में विद्याधरों के स्वामी कपिध्वजवंशोद्भव महाराजा बालि राज्य करते थे।

एक दिन सदा स्वरूपानन्द विहारी, निजानन्दभोगी, सिद्ध सादृश्य पूज्य मुनिवरों का संघ सहित आगमन इसी किष्किंधापुरी के वन में हुआ, जिन्हें देख वन के मयूर आनन्द से नाचने लगे। कोयलें अपनी मधुर ध्वनि से कुहुकने लगीं, मानों सुरीले स्वर में गुरु महिमा के गीत ही गा रहीं हों। पक्षीगण प्रमोद के साथ गुरु समूह के चारों ओर उड़ने लगे, मानों वे श्री गुरुओं की प्रदक्षिणा दे रहे हों। वनचर प्राणी गुरुगम्भीर मुद्रा को निरखकर अपने आगे के दोनों पैर रूपी हाथों को जोड़कर मस्तक नवाकर नमस्कार करके गुरु पदपंकजों के समीप बैठ गये। सदा वन में जीवन-यापन करने वाले मनुष्यों ने तो मानों अनुपम निधि ही प्राप्त कर ली हो। वन में मुनिराज को देखकर वनपाल का हृदय पुलकित हो गया और वह दौड़ता हुआ राजदरबार में पहुँचा और हाथ जोड़कर राजा साहब को मंगल सन्देश देता हुआ बोला – हे राजन् ! आज हमारे महाभाग्य से अपने ही वन में संघ सहित मुनिराज का मंगल आगमन हुआ है।

महाराजा बालि ने तत्काल हाथ जोड़कर सात कदम चलकर मस्तक नवाकर गुरुवर्यों को परोक्ष नमस्कार किया, पश्चात् वनपाल को भेंट स्वरूप बहुमूल्य उपहार दिए। उसे पाकर वनपाल अपने स्थान को लौट आया।

महाराजा बालि ने मंत्री को बुलाकर कहा – आज नगर में मुनिवरों के दर्शनार्थ चलने की भेरी बजवा दीजिए।

महाराज की आज्ञानुसार मंत्री ने तत्काल नगर में भेरी बजवा दी – "हे नगरवासीजनो ! आज हम सभी को मुनिवरों के दर्शन हेतु राजा साहब के साथ वन में चलना है, अतः शीघ्र ही राजदरबार में एकत्रित होइए।" भेरी का मंगल नाद सुन प्रजाजन शीघ्र ही द्रव्य-भाव शुद्धि के साथ अपने-अपने हाथों में अर्घ्य की थाली लेकर राजदरबार में एकत्रित हुए।

राजा बालि गजारूढ़ हो अपने साधर्मियों के साथ मंगल भावना भाते हुए वन की ओर चल दिये। राजा साहब देखते हैं कि आज तो जंगल की छटा ही कुछ निराली दिख रही है, मानों गुरु हृदय की परमशान्ति का प्रभाव वन के पेड़-पौधों पर भी पड़ गया हो। इन सबके अन्दर भी तो शाश्वत परमात्मा विराजमान है और आत्मा का स्वभाव सुख-शान्तिमय है। ये सभी सदा दुःख से डरते हैं और सुख को चाहते हैं, भले ही इनमें ज्ञान की हीनता से यह ज्ञात न हो कि मेरे परमहितकारी गुरुवर पधारे हैं, परन्तु अव्यक्त रूप से उनकी परिणति में कुछ कषाय की मन्दताजन्य शान्ति का संचार अवश्य हो रहा है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्रत्येक आत्मा को भगवान स्वरूप देखते हुए, विचारते हुए राजा बालि साधर्मियों सहित पूज्य गुरुवर के चरणारविंदों के समीप जा पहुँचे। सभी ने पूज्य गुरुवर्यों को हाथ जोड़कर साष्टांग नमस्कार किया, तीन प्रदक्षिणा दीं, फिर गुरुचरणों में सभी हाथ जोड़कर उनकी शान्त-प्रशान्त वैरागी मुद्रा को देखते हुए टकटकी लगाये हुए बैठ गये। अहा हा ! ज्ञान-वैराग्यमयी परमशान्त मुद्रा का/चैतन्य का आन्तरिक वैभव बाह्य जड़ पुद्गल पर छा गया था। मुनिसंघ मानों सिद्धों से बातें करते हुए ध्यानस्थ अडोल-अकम्प विराजमान था।

धर्मामृत के पिपासु चातक तो बैठे ही हैं। कुछ समय बाद मुनिराजों का ध्यान भंग हुआ। महा-विवेक के धनी गुरुराज ने प्रजाजनों के नेत्रों से उनकी पात्रता एवं भावना को पढ़ लिया, अतः वे उन्हें धर्मोपदेश देने लगे।

"हे भव्यो ! धर्मपिता श्री तीर्थंकर परमदेव ने धर्म का मूल सम्यग्दर्शन कहा है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के यथार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिन्होंने निजात्मा के आश्रय से रत्नत्रय को प्राप्त कर अर्थात् मुनिधर्म साधन द्वारा अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर लिया है, वे वीतरागी, सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी ही हमारे सच्चे आप्त/देव हैं। वे ही अपने केवलज्ञान के द्वारा जाति अपेक्षा छह

और संख्या अपेक्षा अनन्तानंत द्रव्यों को, सात तत्त्वों को, नव पदार्थों को, ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध को, कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि सम्बन्धों को अर्थात् तीन लोक और तीन काल के चराचर पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष एक ही समय में जानते हैं एवं अपनी दिव्यध्वनि द्वारा दर्शाते हैं, अतः प्रभु की वाणी ही जिनवाणी या सुशास्त्र कहलाते हैं। ऐसे देव क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित और सम्यक्त्वादि अनन्त गुणों से सहित हैं। यही कारण है कि प्रभु की वाणी परिपूर्ण शुद्ध, निर्दोष एवं वीतरागता की पोषक होती है। उस वाणी के अनुसार जिनका जीवन है, जो परम दिगम्बर मुद्राधारी हैं, ज्ञान-ध्यानमयी जिनका स्वरूप है, जो 24 प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, वे ही हमारे सच्चे गुरु हैं। भव दुःख से भयभीत, अपने हित का इच्छुक भव्यात्मा ऐसे देव-शास्त्र-गुरु की आराधना करता है।

इनके अतिरिक्त जो मोहमुग्ध देव हैं, संसार पोषक शास्त्र हैं और रागी-द्वेषी एवं परिग्रहवंत गुरु हैं, उनकी वंदना कभी नहीं करना चाहिए; क्योंकि वीतराग-धर्म गुणों का उपासक है कोई व्यक्ति या वेश का नहीं, इसलिए श्री पंचपरमेष्ठियों की वीतरागीवाणी और वीतरागीधर्म के अलावा और किसी को नमन नहीं करना चाहिए, क्योंकि पंचपरमेष्ठी और उनकी वाणी के अतिरिक्त सभीं धर्म के लुटेरे हैं और मिथ्यात्व के पोषक हैं, अनन्त दुःखों के कारण हैं।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, सात तत्त्व, हितकारी-अहितकारी भाव, स्व-पर इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्व हैं, उनके सम्बन्ध में विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। इस विपरीत अभिप्राय के वश होकर यह प्राणी अनन्त काल से चौरासी लाख योनियों में भ्रमता हुआ अनन्त दुःख उठाता आ रहा है। निगोदादि पर्यायों से निकलकर महादुर्लभ यह त्रस पर्याय को प्राप्त करता है, उसमें भी संज्ञी पंचेन्द्रिय, मनुष्यपर्याय, श्रावककुल, सत्यधर्म का पाना अतिदुर्लभ है, यदि ये भी मिल गये तो सत्संगति और सत्यधर्म को ग्रहण करने की बुद्धि का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। सत्यधर्म को अवधारण करने के लिये कषायों की मंदता होना महादुर्लभ है।

हे भव्योत्तम ! इतनी दुर्लभता तो तू महाभाग्य से पार कर चुका है। इसलिऐ सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओं के उपदेश से तू अब मिथ्या मान्यताओं को तजकर वस्तु स्वरूप को ग्रहण कर, यह धर्म ही संसार सागर से पार उतारने वाला सच्चा यान/जहाज है।

श्रीगुरु का उपदेशामृत पानकर महाराजा बालि का मन-मयूर प्रसन्न हो गया। अहो ! इस परम हितकारी शिक्षा को मैं आज ही अंगीकार करूँगा। अतः बालि अपनी भावनाओं को साकार करने

हेतु तत्काल ही श्रीगुरुचरणों में अंजुली जोड़कर नमस्कार करते हुए बोले – हे प्रभो ! मुझे यह हितकारी व्रत प्रदान कर अनुगृहीत कीजिये।

हे भवभयभीरू नृपेश ! तुम्हारी भली होनहार है अतः आज तुम पंचपरमेष्ठी, जिनवाणी, प्रजाजनों की एवं आत्मा की साक्षीपूर्वक यह प्रतिज्ञा अंगीकार करो कि "मैं पंचपरमेष्ठी भगवंतों को, जिनवाणी माता को और वीतरागी जिनधर्म के अलावा किसी को भी नमन नहीं करूँगा।"

राजा हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए बोले – "प्रभो ! आपके द्वारा प्रदत्त हितकारी व्रत को मैं यम रूप से अंगीकार करता हूँ।" पश्चात् गुरु-वन्दना एवं स्तुति करके राजा अपने साधर्मियों व नगरवासियों सहित अपने गृह को लौट आये। कुछ दिनों के बाद पूज्य गुरुवर आहार-चर्या हेतु नगर में पधारे और पड़गाहन हेतु महाराजा बालि एवं नगरवासी अपने-अपने द्वार पर खड़े थे, उनका भाग्य चमक उठा और उन्हें महापात्र गुरुवरों के आहार दान का लाभ प्राप्त हो गया। नवधा भक्तिपूर्वक मुक्ति साधक श्रीगुरुओं को दाताओं ने भक्तिपूर्वक आहार दान देकर अपूर्व पुण्य का संचय किया। पश्चात् गुरु महिमा गाते हुए उत्सव मनाते हुए गुरुवरों के साथ वन-जंगल तक गये। पश्चात् सभी अपने-अपने घर को आकर अपने नित्य-नैमित्तिक कार्यों को करते हुए भी उनके हृदय में तो गुरुराज ही बस रहे हैं, यही कारण है कि उन्हें चलते-फिरते, खाते-पीते अर्थात् प्रत्येक कार्य में गुरु ही गुरु दिख रहे हैं।

इधर महाराजा बालि की प्रतिज्ञा के समाचार जब लंकापुरी नरेश रावण ने सुने तब उसे ऐसा लगा कि मुझे नमस्कार नहीं करने की इच्छा से ही बालि ने यह प्रतिज्ञा ली है, अन्यथा और कोई कारण नहीं है। मैं अभी इसको प्रतिज्ञा लेने का मजा चखाता हूँ।

लंकेश ने शीघ्र ही एक शास्त्रज्ञ विद्वान दूत को बुलवाया और आज्ञा दी – हे कुशाग्रमते ! आप शीघ्र ही किष्किंधापुरी जाकर बालि नरेश को सूचित करो कि आप अपनी बहन श्रीमाला हमें देकर एवं नमस्कार कर सुख से अपना राज्य करें।

विद्वान् दूत राजाज्ञा शिरोधार्य कर शीघ्र ही किष्किंधापुरी पहुँचा, उसने राजा बालि के मंत्री से कहा – आप अपने राजा साहब को संदेश भेज दीजिये कि लंका नरेश का दूत आप से मिलना चाहता है।

मंत्री ने राजा के पास जाकर निवेदन किया – हे राजन् ! लंकेश का दूत आपसे मिलने के लिये आया है, आपकी आज्ञा चाहता है। राजा ने दूत को ले आने की स्वीकृति दे दी।

राजाज्ञा पाकर मंत्री शीघ्र ही दूत को महाराजा बालि के समक्ष ले आये। राजा को नमस्कार करते हुए दूत ने लंका नरेश का सन्देश इसप्रकार कहा – "हे राजन् ! जगत विजयी राजा दशानन का कहना है कि आप और हमारे बीच परम्परा से स्नेह का व्यवहार चला आ रहा है, उसका निर्वाह आप को भी करना चाहिए तथा आपके पिताजी को हमने सूर्य के शत्रु अत्यन्त प्रचण्ड राजा को जीतकर उसका राज्य आपको दिया था, अतः उस उपकार का स्मरण करके आप अपनी बहन श्रीमाला लंकाधिपति को देकर उन्हें नमस्कार करें और फिर अपना राज्य सुखपूर्वक करते रहें।"

हे राजदूत ! राजा दशानन का उपकार मेरे हृदय में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित है, उसके फल-स्वरूप मैं अपनी बहन श्रीमाला को ससम्मान राजा को समर्पित करने को तैयार हूँ, मगर आपके राजा को नमस्कार नहीं करूँगा।

हे राजन् ! नमस्कार न करने से आपका बहुत अपकार होगा। उपकारी का उपकार न मानने वाला जगत में कृतघ्नी कहलाता है। नमस्कार न करने का क्या कारण है राजन् !

हे कुशलबुद्धे ! इतना तो आप जानते ही होंगे कि जिनधर्म में कोई पद पूज्य नहीं होता, कोई व्यक्ति या जाति पूज्य नहीं होती, जिनधर्म तो गुणों तथा सम्यगदर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपासक होता है और आपके राजन् अविरति हैं। मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं पंच परमेष्ठी के अलावा और किसी को नमस्कार नहीं करता।

हे राजन् ! लोक व्यवहार में धर्म नही देखा जाता हैं, व्यर्थ में ही कषाय बढ़ाने से क्या फायदा है ?

हे दूत ! जो होना होगा वह होगा, मैं प्रतिज्ञा से बढ़कर लोक व्यवहार को नहीं मानता। आप अपने स्थान को पधारिये।

विद्वानदूत शीघ्र ही किष्किंधापुरी से प्रस्थान करके कुछ ही दिनों में लंकापुरी पहुँच गया। राजा साहब के पास

पहुँचकर निवेदन किया – हे महाराज ! आपके सब उपकारों का उपकार मानते हुए बालि महाराजा आपको अपनी बहन को सहर्ष देने को तैयार हैं, परन्तु नमस्कार करने को तैयार नहीं हैं।

हे दूत ! नमस्कार न करने का क्या कारण है ?

हे राजन् ! महाराजा बालि ने श्रीगुरु के पास पंच परमेष्ठी के अलावा किसी और को नमस्कार न करने की प्रतिज्ञा अंगीकार की है। धार्मिक प्रतिज्ञा के सामने कुछ भी कहना मुझे उचित नहीं लगा।

बस फिर क्या था, लंकेश तो भुजंग के समान कुपित हो उठे, तब रावण के मंत्रीगण एकदम गम्भीर हो गये। कुछ देर विचार करने के बाद मंत्रीगणों ने राजा साहब से निवेदन किया –

हे प्राणाधार ! आप भी धार्मिक व्यक्ति हो, पूजा-पाठ, दया-दान, व्रत आदि करते हो, प्रतिदिन जिनवाणी का स्वाध्याय करते हो, अतः इतना तो आप भी जानते हो कि श्रीगुरुओं से ली हुई प्रतिज्ञायें चाहे वह छोटीं हों या बड़ी, उनका जीवनपर्यंत निर्दोष रूप से पालन करना चाहिए। प्राणों की कीमत पर भी व्रतभंग नहीं करना चाहिए। किसी की या अपनी प्रतिज्ञा को भंग करने में महापाप लगता है।

अतः हम लोगों की सलाह है कि बालि नरेश आपको अपनी बहन देने को तो तैयार ही हैं और जो अपनी बहन देगा तो आपका आदर सत्कार/साधुवाद तो करेगा ही करेगा, मात्र मस्तक झुकाना ही नमस्कार नहीं है। अपने हृदय में किसी को स्थान देना, आदर देना भी तो नमस्कार ही है। और बालि नरेश के हृदय में आपके प्रति आदर तो है ही। अतः आप हम लोगों की बात पर गम्भीरता से विचार कीजिये, एकदम क्रोध में आ जाना राज्य के हित में नहीं होता राजन्।

भैंस के सामने बीन बजाना, मूर्ख को शिक्षा देना तथा सर्प को दूध पिलाना जैसे व्यर्थ है। वैसे ही मंत्रियों की योग्य सलाह भी लंकेश पर कुछ असर नहीं कर सकी, आखिर क्रोध के पास विवेक रहा ही कब है जो कुछ असर हो, वह तो सदा अन्धा ही होता है, सदा असुर बनकर भभकना उसकी प्रकृति ही है। जब विनाश का समय आता है तब बुद्धि भी विपरीत हो जाती है। अंततोगत्वा रावण ने साम, दाम, दण्ड और भेद सभी प्रकार से किष्किंधापुरी को घेर लिया।

किष्किंधापुरी के घिर जाने के समाचार जब राजा बालि ने सुने, तब वे भी युद्ध के लिये तैयार हो गये। तब बालि राजा के मंत्रियों ने बहुत समझाया। महाराज ! आपके वे उपकारी हैं। आपके पास इतनी सेना भी नहीं है। इतने अस्त्र-शस्त्र भी नहीं हैं। रावण तो चार अक्षोहणी सेना का

अधिपति है, उसके सामने अपनी सेना क्या है ? उपकारियों का अपकार करने वाला राजा लोक में कृतघ्नी गिनाया जाता है, इसलिए हे राजन् ! हम लोगों की बात पर आप गम्भीरता से विचार कीजिए।

कितना भी विवेकी राजा क्यों न हो, परन्तु जब कोई अन्य राजा उसे युद्धस्थल पर ललकार रहा हो तब सामने वाला शान्त नहीं बैठ सकता, यह उसकी भूमिकागत कषायों का प्रताप होता है। अतः महाराजा बालि ने भी मंत्रियों की एक भी न सुनी और अपनी सम्पूर्ण सेना सहित दशानन का सामना करने को युद्धस्थल में आ गया।

दोनों ओर की सेना ज्यों ही युद्ध के लिये तैयार हुई कि दोनों ओर से मंत्रियों ने उन्हें विराम का संकेत किया और विचार किया कि लंकेश प्रतिवासुदेव हैं और महाराजा बालि चरम शरीरी हैं, अतः मृत्यु तो दोनों की असम्भव है, फिर व्यर्थ में सैन्य शक्ति का विनाश क्यों हो ? अनेक मातायें-बहनें विधवा क्यों हों ? निर्दोष बालक अनाथ क्यों हों ? उन्हें रोटियों के टुकड़ों की भीख क्यों मँगवायें ? श्रेष्ठ तो यही है कि दोनों राजा ही आपस में युद्ध करके फैसला कर लें।

तब दोनों के मंत्रियों ने अपने-अपने राजाओं से निवेदन किया – हे राजन् ! आप दोनों ही मृत्युंजय हो, तब आप दोनों ही युद्ध का कुछ हल निकाल लें तो उचित होगा, सेना का व्यर्थ में संहार क्यों हो ? यदि आप चाहें तो सैनिक युद्ध को टालकर दोनों ही राज्यों की सैन्यशक्ति तथा उस पर होने वाले कोष की हानि से बचा जा सकता है।

मंत्रियों की बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह दोनों ही राजाओं को उचित प्रतीत हुई, अतः दोनों ही राजा युद्धस्थल में उतर पड़े। कुछ ही समयों में दोनों के बीच घमासान युद्ध छिड़ गया।

सम्पूर्ण सेना में कुछ विचित्र प्रकार का उद्वेग हो उठा, वे कुछ कर भी नहीं सकते थे और चुपचाप बैठा भी नहीं जा रहा था। होनहार के अनुसार ही दोनों के अन्दर विचारों ने जन्म लिया। मोक्षगामी महाराजा बालि का तो वैराग्य वृद्धिंगत होने लगा और नरकगामी रावण का प्रतिसमय क्रोधासुर वृद्धिंगत होने लगा। अहो ! महाराजा बालि तो चरमशरीरी थे ही, अतः उनके अतुल बल का तो कहना ही क्या था, दशानन को बन्दी बनाना उनके लिये चुटकियों का खेल था।

अरे अर्द्धचक्री, चार अक्षोहणी सेना का अधिपति क्षणमात्र में बन्दी बना लिया गया। कोई शरणदाता नहीं होने पर भी अज्ञानी जीव परद्रव्य को ही अपना शरणदाता मानकर दुःख के समुद्र में जा गिरता है। इस लोक में जहाँ-तहाँ जो हार नजर आती है, वह सब संसार शिरोमणि मिथ्यात्व

बादशाह एवं उसकी सेना कषाय का ही प्रताप है। धन-सम्पति, अस्त्र-शस्त्र, हाथी-घोड़े, रथ-प्यादे एवं सेना की हीनाधिकता हार-जीत का कारण नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद है।

निकट भव्यजीव के लिए युद्ध के अथवा युद्ध में विजय के नगाड़े संसार-देह-भोगों से विरक्ति/वैराग्य का कारण बन जाते हैं। स्वभाव अक्षयनिधि से भरपूर शाश्वत पवित्र तत्त्व है और जड़ सम्पदा क्षणभंगुर एवं अशुचि है।

जिनागम में पार्श्वनाथ और कमठ के, सुकमाल और श्यालनी के, सुकौशल और सिंहनी के, गजकुमार और सोमिल सेठ के इत्यादि अनेक उदाहरणों से प्रसिद्ध है कि वैराग्य की सदा जीत होती है और मिथ्यात्व-कषाय की सदा हार होती है, मोह-राग-द्वेष के वशीभूत होकर चक्रवर्ती भी नरक में गये और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करने वाले सिंह और हाथी भी मुक्तिपथ में विचरण करके मुक्ति को प्राप्त हुए।

बन्दी बने रावण को अन्दर ही अन्दर कषाय प्रज्ज्वलित होती जा रही है, उसके हृदय को वैरागी बालि महाराज ने पढ़ लिया था, अतः परम करुणावंत महाराजा बालि ने रावण को बंधन मुक्त करते हुए क्षमा किया और अपने भाई सुग्रीव का राज्य तिलक करके उसे रावणाधीन करके स्वयं ने वन की ओर प्रस्थान किया; क्योंकि उन्हें तो अब चैतन्य की परमशान्ति की ललक जाग उठी थी, वे तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द रस को पीने के लिए ही आतुर थे। अब राज्य का राग ही अस्त हो गया था तो राज्य करे कौन ? वैरागी चरमशरीरियों का निर्णय अफरगामी होता है, जो कभी फिरता नहीं है।

न्याय नीतिवंत, धर्मज्ञ राजा के राज्य में प्रजा सदा सुखी रहती थी – ऐसे राजा का वियोग, अरे रे !....हाहाकार मच गया, प्रजा के लिए तो मानों उनका वियोग असहनीय ही हो गया हो। अतः प्रजा अपने प्राणनाथ के पीछे-पीछे दौड़ी जा रही है, कोई उनके चरणों को पकड़ कर विलाप करता है, तो कोई उन्हें जिनेश्वरी दीक्षा लेने से रोकता हुआ कहता है। "हे राजन् ! हम आपकी साधना में अन्तराय नहीं डालना चाहते; परन्तु इतना निवेदन अवश्य है कि आप अपनी साधना महल के उद्यान में रहकर ही कीजिए, जिससे हम सभी को भी आराधना की प्रेरणा मिलती रहेगी, हमारे हित में आप उपकारी बने रहें – ऐसी हमारी भावना है। आपके बिना हम प्राण रहित हो जायेंगे। हे राजन् ! हमारी इतनी-सी विनती पर ध्यान दीजिये।"

मुक्ति-सुन्दरी के अभिलाषी को रोकने में भला कौन समर्थ हो सकता है ? निज ज्ञायक प्रभु

के आश्रय से उदित हुए वैराग्य को कोई प्रतिबन्धित नहीं कर सकता। चरम शरीरियों का पुरुषार्थ अप्रतिहत भाव से चलता है, जो शाश्वत आनन्द को प्राप्त करके ही रहता है। शीघ्रता से बढ़ते हुए महाराजा बालि कुछ ही समय में श्रीगुरु के चरणों की शरण में पहुँच गये। गुरु-पद-पंकजों को नमन कर अंजुली जोड़कर इसप्रकार विनती करने लगे।

"हे प्रभो ! मेरा मन अब आत्मिक अतीन्दिय आनन्द का सतत आस्वादन करने को ललक उठा है। ये सांसारिक भोग विलास, राग-रंग मुझे स्वप्न में भी नहीं रुचते हैं। ये ऊँचे-ऊँचे महल अटारियाँ श्मशान की राख समान प्रतिभासित होते हैं, अतः हे नाथ ! मुझे पारमेश्वरी दिगम्बर-दीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए।"

श्री गुरु द्वारा मुनिदीक्षा –

जिस तरह फूल की खुशबू, चन्द्रमा की शीतलता, वसंत ऋतु की छटा, सज्जनों की सज्जनता, शूरवीरों का पराक्रम छिपा नहीं रहता। उसी प्रकार भव्यों की भव्यता, वैरागी की उदासीनता छिपी नहीं रहती। पूज्य गुरुवर ने अपनी कुशल प्रज्ञा से शीघ्र मुक्ति सम्पदा के अधिकारी महाराजा बालि की पात्रता को परख लिया। जाति, कुल, देश आदि की अपेक्षा भी जिनदीक्षा के योग्य हैं। इस प्रकार पात्र जानकर श्रीगुरु ने जिनागमानुसार प्रथम क्षेत्र, वास्तु आदि 10 प्रकार के बहिरंग परिग्रह का त्याग कराया। पश्चात् बालि केशों का लोंच कर, देह के प्रति पूर्ण निर्मोही हो गये।

मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी चार कषायों का त्याग तो पहले ही कर चुके थे; इसके उपरान्त वे अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय चौकड़ी एवं नव नोकषाय आदि शेष अन्तरंग परिग्रहों को त्याग कर स्वरूपमग्न हो गये। इस तरह श्रीगुरु ने विधिपूर्वक जिनेश्वरी दिगम्बरी दीक्षा प्रदान कर अनुगृहीत किया और श्री किष्कंधापुरी नरेश बालि राजा दीक्षा अंगीकार कर बालि मुनिराज बनकर परमेश्वर बनने के लिये शीघ्रातिशीघ्र प्रयाण करने लगे। क्षण-क्षण में अन्तर्मुख हो अतीन्द्रिय आनन्द की गटागट घूँटें पीते हुए सिद्धों से बातें करने लगे। अहो ! जमे जमाये ध्रुवधाम में अब गुरुवर की परिणति मंथर हो गई। चैतन्यामृत भोजी गुरुवर अब सादि अनन्त काल के लिये परिग्रह रहित हो यथाजातरूपधारी (नवजात बालक की भाँति अन्तर-बाह्य निर्विकार नग्नरूप) बन गये। पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियविजय, षट्-आवश्यक एवं सात शेष गुण – कुल 28 मूलगुणों को निरतिचार रूप से पालन करते हुए रत्नत्रयमयी जीवन जीने लगे।

नवीन राजा सुग्रीव ने माता-पिता, रानियों एवं प्रजाजनों के साथ महाराजा बालि की दीक्षा

समारोह हर्ष पूर्वक मनाया तथा भावना भाई कि हे गुरुवर ! इस दशा की मंगल घड़ी हमें भी शीघ्र प्राप्त हो, हम सभी भी निजानन्द बिहारी होकर आपके पदचिन्हों पर चलें।

पूज्य श्री मुनिपुंगव गुरुपदपंकजों की शरण ग्रहण कर जिनागम का अभ्यास करने में तत्पर हो गये। अतः पूज्य श्री बालि मुनिराज अल्पकाल में ही सम्पूर्ण आगम के पाठी हो गये।

जब कभी गुरुवर आहार चर्या को निकलते तो जिन 46 दोषों और 32 अंतरायों को टालते हुए आहार ग्रहण करते, वे क्रमशः इसप्रकार हैं –

भोजन की शुद्धता अष्ट दोषों से रहित है – उद्गम, उत्पादन, एषण, संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम, कारण। इनमें उद्गम दोष 16 प्रकार का है जो गृहस्थों के आश्रित है जिनके नाम हैं – उद्दिष्ट, अध्यवनि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्राभृत, प्राविष्कृत, क्रीत, प्रामृष्य, परावर्त, अभिहत, उद्भिन्न, मालिकारोहण, आछेद्य, अनिसृष्ट ये 16 दोष हैं। मुनिमार्ग को जानने वाला गृहस्थ ऐसे दोष लगाकर मुनिराज को आहार नहीं देता है और यदि इन दोषों का ज्ञान मुनिराज को हो जावे तो वे भोजन में अन्तराय मानकर वापिस वन को चले जाते हैं।

अधःकर्म – आहार बनाने में छह काय के जीवों का प्राण घात हो वह **आरम्भ** है। षट्काय के जीवों का उपद्रव करना उपद्रवण है। षट्काय के जीवों का छेदन हो जाना **विद्रावण** है और षट्काय के जीवों को संताप देना वह **परितापन** है। इसप्रकार षट्काय के जीवों को आरम्भ, उपद्रवण, विद्रावण और परितापन देकर जो आहार स्वयं करे, अन्य से करावे और करते हुए को भला जाने; मन से, वचन से और काया से इसप्रकार नव-प्रकार के दोषों से बनाया गया भोजन अधःकर्म दोष से दूषित है, उसे संयमी दूर से ही त्याग देते हैं। ऐसा आहार जो करते हैं वे मुनि नहीं गृहस्थ हैं। यह अधःकर्म नामक दोष छियालीस दोषों से भिन्न महादोष है।

प्रश्न – मुनिराज तो अपने हाथ से भोजन बनाते नहीं हैं तो फिर ऐसा दोष इन्हें क्यों कहा?

उत्तर – कहे बिना मंदज्ञानी कैसे जाने ? जगत में अन्यमत के वेशी स्वयं करते भी हैं और कराते भी हैं और जिनमत में भी अनेक वेशी स्वयं करते हैं और कहकर कराते भी हैं, इसलिये इसको महादोष जानकर त्याग करना। अधःकर्म से बनाया हुआ भोजन लेने वाले को भ्रष्ट जानकर धर्म मार्ग में अंगीकार नहीं करना – ऐसा भगवान के परमागम का उपदेश है (**भ.आ.पृ. 102**)

अब साधु के आश्रित होने वाले सोलह उत्पादन दोष –

धात्री दोष, दूत, विषग्वृत्ति, निमित्त, इच्छविभाषण, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, क्रोध, मान, माया, लोभ, वश्यकर्म, स्वगुणस्तवन, विद्योत्पादन, मंत्रोपजीवन, चूर्णोपजीवन। इन दोषों से युक्त जो भोजन करता है उसका साधुपना बिगड़ जाता है।

अब एषणा नामक भोजन के दश दोष – शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, व्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और परित्यजन। इसप्रकार मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से इन दोषों का त्याग करके तथा उद्‌गम, उत्पादन, एषणा के बियालीस भेद रूप दोष से रहित तथा संयोजना रहित, प्रमाण सहित अंगार तथा धूमदोष रहित भोजन करते हैं।

नवधा भक्ति से युक्त दातार के सात गुण सहित श्री मुनिराज आहार लेते हैं। 1. प्रतिग्रह, 2. उच्चस्थान, 3. चरण प्रक्षालन, 4. अर्चना, 5. नमस्कार, 6. मनशुद्धि, 7. वचनशुद्धि, 8. कायशद्धि, 9. आहार शुद्धि – यह नवधा भक्ति है।

1. दान देने में, जिसके धर्म का श्रद्धान हो 2. साधु के रत्नत्रय आदि गुणों में भक्ति हो 3. दान देने में आनन्द हो 4. दान की शुद्धता-अशुद्धता का ज्ञान हो 5. दान देकर इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों की अभिलाषा न हो 6. क्षमावान हो 7. शक्ति युक्त हो – ये दाता के सप्त गुण हैं।

बत्तीस अन्तराय – काक-अंतराय, अमेद्य, छर्दि, रोधन, रुधिर, अश्रुपात, जान्वधः परामर्श, जानूपरिव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, स्वप्रत्याख्यातसेवन, जीववध, काकादिपिण्डहरण, पिण्डपतन, पाणिजंतुवध, मांसदर्शन, उपसर्ग, पंचेन्द्रियगमन, भाजनसंपात, उच्चार, प्रस्त्रवण, भिखापरिभ्रमण, अभोज्यगेहप्रवेश, पतन, उपवेशन, दष्ट, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, कृमिनिर्गमन, अदत्त, शस्त्र प्रहार, ग्रामदाह, पादग्रहण और हस्तग्रहण इनके अलावा और भी चांडालादि स्पर्श, इष्टमरण, प्रधान पुरुषों का मरण इत्यादि अनेक कारणों की उपस्थिति होने पर इन्हें टालकर आचारांग की आज्ञाप्रमाण शुद्धता सहित ही पूज्य बालि मुनिराज आहार ग्रहण करते।

अहो! अनाहारीपद के साधक मुनिकुंजर क्षण-क्षण में अन्तर्मुख हो आनन्दामृत-भोजी अति-शीघ्रता से अशरीरीदशामय शाश्वतपुरी के लिये अग्रसर होते जाते हैं।

श्री गुरुराज ने देखा कि ये बालिमुनि तो असाधारण प्रज्ञा के धनी हैं। विनय तो रोम-रोम में समाई हुई है, विनय की अतिशयता है। मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारी हैं और वज्रवृषभनाराचसंहनन के भी धारी हैं। मनोबल तो इनका मेरू के समान अचल है। देव, मनुष्य,

तिर्यंच घोर उपसर्ग करके भी इन्हें चलायमान नहीं कर सकते। आत्मभावना और द्वादशभावना को निरन्तर भाने के कारण कभी भी आर्त-रौद्र परिणति को प्राप्त नहीं होते और बहुत काल के दीक्षित भी हैं। मेरे (श्रीगुरु) निकट रहकर निरतिचार चारित्र का सेवन भी करते हैं। क्षुधादि बाईस परीषहों पर जयकरण शील भी हैं। दीक्षा, शिक्षा एवं प्रायश्चित विधि में भी कुशल हैं। धीर-वीर गुण गंभीर हैं। – ऐसे सर्वगुण सम्पन्न गणधर तुल्य विवेक के धनी बालि मुनिराज को श्रीगुरु ने एकलविहारी रहने की आज्ञा दे दी।

श्री गुरु की बारम्बार आज्ञा पाकर श्री बालिमुनिराज अनेक वन-उपवनों में विहार करते हुए अनेक जिनालयों की वन्दना करते हैं। अनेक जगह अनेक आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर ये पंच प्रधानपुरुषों के संघ को प्राप्त किया। जिससे उनके गुणों में दृढ़ता वृद्धिंगत हुई, ज्ञान की निर्मलता हुई, चारित्र की परिशुद्धि हुई। कभी कहीं धर्मलोभी भव्यों को धर्मोपदेश देकर उनके भवसंताप का हरण किया।

आ हा हा ! ध्यान-ज्ञान तो उनका जीवन ही है। निश्चल स्थिरता के लिये कभी माह, कभी दो माह का उपवास करके गिरिशिखर पर आतापन योग धारण कर लेते, तो कभी आहार-चर्या हेतु नगर में पधारते, कभी आहार का योग बन जाता तो कभी नहीं भी बनता; पर समतामूर्ति गुरुवर वन में जाकर पुनः ध्यानारूढ़ हो जाते, अतीन्द्रिय आनन्द का रसास्वादन करते हुए सिद्धों से बातें करते। इसप्रकार विहार करते हुए धर्म का डंका बजाते हुए अब गुरुवर श्री आदिप्रभु के सिद्धि-धाम कैलाश श्रृंगराज पर पहुँचे, वहाँ के सभी जिनालयों की वंदना कर पर्वत की गुफा में जा विराजमान हुए और स्वरूपगुप्त हो गये।

अब थोड़ा दशानन/लंकेशनृप की दशा का भी अवलोकन करते हैं। राजाओं की तो स्वाभाविक प्रकृति ही ऐसी होती है कि नव निधानों में से जहाँ जो निधान दिखा कि बस "यह तो मुझे ही मिलना चाहिए" क्योंकि मैं राजा हूँ और सब निधानों का स्वामी तो राजा ही होता है।

एक बार दशानन सज-धज के रत्नावली नाम की कन्या के विवाह के लिये विमान में अपनी पटरानी मंदोदरी आदि रानियों के साथ बैठा हुआ आकाशमार्ग से जा रहा था, जब उसका विमान कैलाशपर्वत पर, जहाँ श्री बालि मुनिराज तपस्या कर रहे थे, वहाँ पहुँचा तब अचानक वह अटक

गया। बहुत उपाय करने पर भी विमान आगे नहीं चला, लंकेश विचारने लगा इसका क्या कारण है ? चारों ओर देखने पर भी कुछ कारण नजर नहीं आया। आता भी कैसे ? क्योंकि विवाह के राग में मतवाला हो जाने से उसे वह विवेक ही नहीं रहा कि जहाँ जिनालय होते हैं, जिनगुरु विराजते हैं उनके ऊपर से विमान तो क्या जगत के कोई भी वाहन गमन नहीं करते।

उसने ज्यों ही नीचे की ओर दृष्टि डाली तो उसे कुछ जिनालय एवं ध्यानस्थ मुनिराज दिखाई दिये, उसने अपना विमान नीचे उतारा; पर ज्यों ही उसकी नजर बालि मुनिराज पर पड़ी, बस फिर क्या था, उसके हृदय में क्रोध भड़क उठा उसने सोचा निश्चित इस बालि ने ही द्वेष से मेरा विमान अटकाया है; क्योंकि पूर्व बैर युक्त-बुद्धि में ऐसा ही सूझता है। स्व-पर विनाशक, दुर्गति का हेतु क्रोधासुर महापाप करने के लिए रावण को उत्तेजित करने लगा कि अब बालि मुनि हो गया है, बदले में यह कुछ कर तो सकता नहीं; अतः बदला लेने का अच्छा अवसर है।

अरे रे ! जिसे आगामी पर्याय नरक की ही बिताना है – ऐसे उस दुर्मति सम्पन्न दशानन ने आदिप्रभु का सिद्धिधाम कैलाशपर्वत सहित बालि मुनिराज को समुद्र में पटक देने का विचार किया और अपनी शक्ति एवं विद्या के बल से पर्वत को उखाड़ने लगा। उसका दुष्कृत देख महाविवेकी, धर्ममूर्ति बालि मुनिराज को यह विचार आया कि ये तीन चौबीसी के अगणित अनुपम भव्य जिनालय, अनेक गुणों के निधान मुनिराज अनेक स्थानों में आत्ममग्न विराजमान हैं इत्यादि – ये सभी नष्ट हो जायेंगे तथा इस पर्वत के निवासी लाखों जीव प्राणहीन हो जावेंगे। अनेक निर्दोष, मूक पशु इसके क्रोध के ग्रास बन जावेंगे। दशानन की सर्व विनाशकारी करतूत को रोकने के लिए श्री बालि मुनिराज ने अपनी कायबलऋद्धि का प्रयोग किया।

प्रश्न – क्या मुनिराज भी ऋद्धियों का प्रयोग करते हैं ?

उत्तर – मुनिराजों को तो अपनी स्वरूप आराधना से फुर्सत ही नहीं है, परन्तु धर्म पर आये संकट को दूर करने के लिए उन्हें अपनी ऋद्धियों का प्रयोग कभी-कभी परहित में करना पड़ता है।

प्रश्न – जब उनके पास अस्त्र-शस्त्रादि कुछ भी नहीं होते, तब फिर उन्होंने उसका प्रयोग कैसे किया और वह प्रयोग भी क्या था ?

उत्तर – श्री मुनिराजों को निजात्म आराधना के कारण अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं।

जैसे –चारणऋद्धि, वचनऋद्धि, जलऋद्धि, कायऋद्धि आदि। श्री बालिमुनि को कायबल ऋद्धि थी। उन्होंने जिनालयों आदि की रक्षा के भाव से अपने बाँये पैर का अंगूठा नीचे को दबाया/

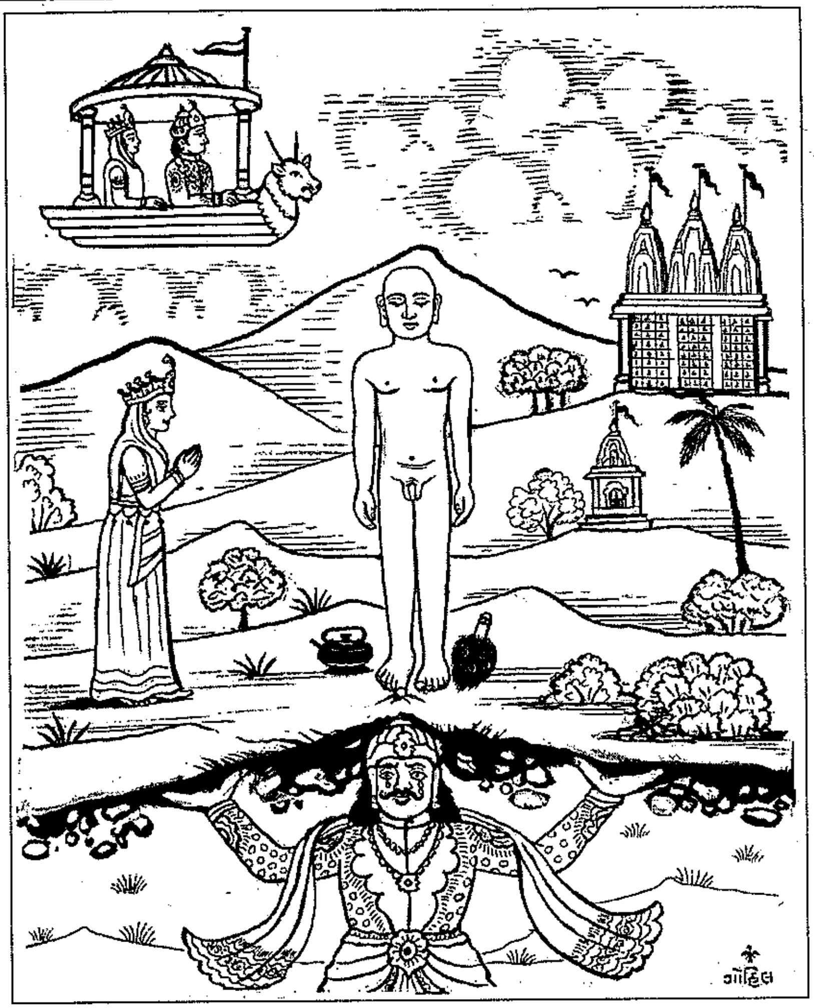

मुनि वज्रवृषभनाराचसंहनन के धनी तो थे ही, एक अंगूठे को जरा-सा नीचे की ओर किया कि उसका बल भी दशानन को असह्य हो गया। उसके भार से दबकर वह निकलने में असमर्थ हो जाने से जोर-जोर से चिल्लाने लगा – मुझे बचाओ, मुझे बचाओ; उसकी करुण पुकार सुनकर विमान में बैठी हुई मंदोदरी आदि रानियाँ तत्काल पूज्य बालि मुनिराज के पास दौड़ी आईं और हाथ जोड़कर नमस्कार करती हुईं अपने पति के प्राणों की भिक्षा माँगने लगीं। हे प्रभु ! आप तो क्षमावंत, दयामूर्ति हो, हमारे पति का अपराध क्षमा कीजिए प्रभु ! क्षमा कीजिए।

परम दयालु मुनिराज ने अपना अंगूठा ढीला कर दिया, तब दशानन निकलकर बाहर आया। तब मुनिराज के तप के प्रभाव से देवों के आसान कम्पायमान होने लगे। तब देवों ने अवधिज्ञान से आसन कम्पित होने का कारण जाना। अहो मुनिराज ! आप धन्य हो, आपका तप महान है। इसप्रकार कहते हुए सभी ने अपने आसनों से उतर कर परोक्ष नमस्कार किया और तत्काल सभी ने कैलाश पर्वत पर आकर पंचाश्चर्य बरसाये एवं श्रीगुरु को नमस्कार किया। पश्चात् दशानन का "**रोतिति रावणः**" अर्थात् रोया इसलिए रावण नाम रखकर देव अपने-अपने स्थानों को चले गये।

श्री बालि मुनिराज की तपश्चर्या का प्रभाव देखकर रावण भी आश्चर्य में पड़ गया। वह मन

ही मन बहुत पछताया, अरे बारम्बार अपराध करने वाला मैं कितना अधर्मी हूँ और ये बालिदेव सदा निरपराधी होने पर भी मैं इन्हें कष्ट देता ही जा रहा हूँ। धन्य है इनकी क्षमा, इस प्रकार विचार करके रावण श्री मुनिराज को नमस्कार करता हुआ अपने अपराधों की क्षमा-याचना करने लगा।

श्रीगुरु ने रावण को भी "सद्धर्मवृद्धिरस्तु" कहकर वह भी दुःखों से मुक्त हो ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया। वीतरागी संतों का जगत में कोई शत्रु-मित्र नहीं है।

अरि-मित्र महल-मशान, कंचन-काच निन्दन-थुति करन।
अर्घावतारण असिप्रहारण, में सदा समता धरन॥

श्री गुरु से धर्मलाभ का आशीर्वाद प्राप्त कर रावण अपने विमान में बैठकर अपने इच्छित स्थान को चला गया।

अनेक वन-उपवनों में विहार करते हुए भावी सिद्ध भगवान अनन्तसिद्धों के सिद्धिधाम कैलाशपर्वत पर तो कुछ समय से विराजमान थे ही, वह पावन भूमि पुनः गुरुवर के चरण स्पर्श से पावन हो गयी। दो तीर्थों का मिलन – एक भावतीर्थ और दूसरा स्थापनातीर्थ, एक चेतनतीर्थ और दूसरा अचेतनतीर्थ। हमें ऐसा लगता होगा कि क्या भावी भगवान तीर्थयात्रा हेतु आये होंगे, अरे ! गुरुवर तो स्वयं रत्नत्रयरूप परिणमित जीवन्ततीर्थ हैं।

पूज्य गुरुवर ध्यानस्थ हैं....अहा, ऐसे वीतरागी महात्मा मेरे शीष पर पधारे !.... इस प्रकार हर्षित होता हुआ मानों वह पर्वत अपने को गौरवशाली मानने लगा। श्रृंगराज अभी तक यही समझता था कि इस लोक में मैं ही एक अचल हूँ, परन्तु अपने से अनन्तगुणे अचल महात्मा को देखकर वह भी आश्चर्यचकित रह गया, मानों वह सोच रहा हो कि दशानन की शक्ति एवं विद्या ने मुझे तो हिला दिया, लेकिन ये गुरु कितने अकम्प हैं कि जिनके बल से मैं भी अकम्प रह सका। वृक्ष समूह सोचता है कि क्या ग्रीष्म का ताप गुरुवर पर अपना प्रभाव नहीं डालता होगा ? इतनी गर्मी में भी ये गुरुवर हमारी शीतल पवन की भी अपेक्षा नहीं करते।

कितने दिनों से ये संत यहाँ विराजमान हैं, न किसी से कुछ बोलते, न चलते, न खाते, न पीते, न हिलते, बस ध्यानमग्न ही अकृत्रिमबिम्बवत् स्थित हैं। बालि मुनिराज का महाबलवानपना आज सचमुच जाग उठा है, क्षायिक सम्यक्त्व उनकी सेना का सेनापति है और अनन्तगुणों की विशुद्धिरूप सेना शुक्लध्यान द्वारा श्रेणीरूप बाणों की वर्षा कर रही है, अनन्त आत्मवीर्य उल्लसित हो रहा है, केवलज्ञान लक्ष्मी विजयमाला लेकर तैयार खड़ी है, इसी से मोह की समस्त सेना

प्रतिक्षण घटती जा रही है। अरे, देखो....देखो ! प्रभु तो शुद्धोपयोग रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मोह को अस्ताचल की राह दिखाने लगे। क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हो अप्रतिहतभाव से आगे बढ़ते-बढ़ते आठवें....नौवें....दसवें गुणस्थान में तो लीलामात्र में पहुँच गये। अहो ! अब शुद्धोपयोग की उत्कृष्ट छलांग लगाते ही मुनिराज पूर्ण वीतरागी हो गये, प्रभु हो गये।

अहा ! वीतरागता के अति प्रबलवेग को बर्दाश्त करने में असमर्थ ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय तो क्षणमात्र में भाग गये। अरे, वे तो तत्त्व विहीन हो ही गये। अब अनन्त कलाओं से केवलज्ञान सूर्य चमक उठा....अहा ! अब नृपेश परमेश बन गये, संत भगवंत हो गये, अल्पज्ञ सर्वज्ञ हो गये, अब वे बालि मुनिराज अरहंत बन गये.... 'णमो अरहंताणं।'

इन्द्रराज की आज्ञा से तत्काल ही कुबेर ने गंधकुटी की रचना की, जिस पर प्रभु अन्तरीक्ष विराजमान हैं, शत इन्द्रों ने प्रभु को नमन कर केवलज्ञान की पूजा की। अभी तो इन्द्रगण केवलज्ञानोत्सव मना ही रहे थे कि प्रभु तृतीय शुक्लध्यान से योग निरोध कर अयोगी गुणस्थान में पहुँच गये। चतुर्थ शुक्लध्यान से चार अघाति कर्मों का नाश कर पाँच स्वरों के उच्चारण जितने काल के बाद प्रभु अब शरीर रहित हो ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोकाग्र में पहुँच गये। 'णमो सिद्धाणं।'

बिन कर्म, परम, विशुद्ध जन्म, जरा, मरण से हीन हैं।
ज्ञानादि चार स्वभावमय, अक्षय, अछेद, अछीन हैं॥
निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्य-पाप विहीन हैं।
निश्चल, निरालम्बन, अमर, पुनरागमन से हीन हैं॥

एक बार श्री सकलभूषण केवली से विभीषण ने विनयपूर्वक पूछा – हे भगवन् ! इसप्रकार के महाप्रभावशाली यह बालिदेव किस पुण्य के फल से उत्पन्न हुए हैं ? जगत को आश्चर्यचकित कर देने वाले प्रभाव का कुछ कारण तो अवश्य होगा। कृपया हमें इसका समाधान हो।

उत्तर यह मिला कि इसी आर्यखण्ड में एक वृन्दारक नाम का वन है। उसमें एक मुनिवर आगम का पाठ किया करते थे और उसी वन में रहने वाला एक हिरण प्रतिदिन उसे सुना करता था। वह हिरण शुभ परिणामों से आयु पूर्ण कर उस पुण्य के फल से ऐरावत क्षेत्र के स्वच्छपुर नगर में विरहित नामक वणिक की शीलवती स्त्री के मेघरत्न नाम का पुत्र हुआ। वहाँ पर पुण्य प्रताप से सभी प्रकार के सांसारिक सुख भोगकर अणुव्रत धारण किये, उसके फलस्वरूप वहाँ से च्युत होकर ईशान स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ के पुण्योदय जन्य वैभव में वे लुभाये नहीं, वहाँ पर भी अपनी पूर्व की

आराधना अखण्ड रूप से आराधते हुए दैवी सुख भोग कर देवायु पूर्ण कर पूर्वविदेह के कोकिलाग्राम में कांतशोक वणिक की रत्नाकिनी नामक स्त्री के सुप्रभ नाम का पुत्र हुआ। एक दिन उसे श्रीगुरु का सानिध्य प्राप्त हुआ, फिर क्या था भावना तो भा ही रहे थे कि "घर को छोड़ वन जाऊँ, मैं भी वह दिन कब पाऊँ।" गुरुराज से धर्म श्रवण कर तत्काल संसार, देह, भोगों से विरक्ति जाग उठी। फलस्वरूप उन्होंने पारमेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर ली और बहुत काल तक उग्र तपस्या करके सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में गये और वहाँ से च्युत होकर यहाँ यह चमत्कारी महाप्रभावशाली बालि के रूप उत्पन्न हुए।

तात्पर्य यह है कि उस होनहार हिरण ने श्रीगुरु के मुखारविंद से मात्र शब्द ही सुने थे, ऐसा नहीं भावों को भी उसने समझ लिया था। उसे अन्तरंग से जिनगुरु एवं जिनवाणी के प्रति बहुमान था, भक्ति थी, उन संस्कारों का फल यह हुआ कि दूसरे ही भव में वह मनुष्य हुआ और अणुव्रत धारण कर मोक्षमार्गी बन गया, इतना ही नहीं उसने अपनी आराधना अविरल रूप से चालू रखी, उसी के फलस्वरूप पाँचवें भव में वह बालि राजा हुआ और इसी भव से साधनापूर्ण करके सिद्धत्व को प्राप्त किया। कहा भी है –

धन्य-धन्य है घड़ी आज की, जिनधुनि श्रवन परी।
तत्त्व प्रतीति भई अब मोकों, मिथ्यादृष्टि टरी ॥

देखो तो सही ! जीवों के परिणामों की विचित्रता !! त्रिखण्ड का राजवैभव भोगने में अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों साथ थे; तथापि एक तो विशुद्ध परिणाम के कारण स्वर्ग में गया और दूसरा संक्लेश परिणाम के कारण नरक में। नरक में भी पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया।

दो भाइयों में से एक असंख्य वर्षों तक स्वर्ग में और दूसरा असंख्यात वर्षों तक नरक में; तथापि गहरी अन्तर्दृष्टि से देखें तो दोनों जीव सम्यग्दृष्टि हैं, दोनों चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं और सम्यक्त्व सुख दोनों को समान है।

दोनों के संयोगों में तथा औदयिक भाव में महान अन्तर होने पर भी स्वभावदशा की इस समानता को भेदज्ञानी जीव ही जान सकते हैं। उदय और ज्ञान को जो भिन्न देख सकते हैं, वे ही ज्ञानियों की अन्तरदशा को पहिचान सकते हैं।

– चौबीस तीर्थंकर पुराण, पृष्ठ–235

चलूँ, मैं भी धर्मामृत का पान करलूँ !

धन-धान्य एवं सुवर्णादि से पूर्ण इस मगध देश में पूर्वकाल में एक वर्धमान नाम का नगर था; जो वन, उपवन, कोट एवं खाइयों से युक्त और अत्यन्त शोभनीय था। उस नगर में अनेकों ब्राह्मण यद्यपि वेदों के ज्ञाता थे, तथापि भयंकर अज्ञानतावश वे पुण्य-प्राप्ति के नाम पर यज्ञ में पशु आदि की बलि चढ़ाते थे। इसी नगर में ऐसा ही एक आर्यवसु नाम का ब्राह्मण भी था, वह भी कर्म-काण्ड में प्रवीण था। उसकी सोमशर्मा नाम की पत्नी थी, जो सीता के समान सुशील एवं पतिव्रता थी। उसके भावदेव और भवदेव नाम के दो पुत्र थे, जो चन्द्र-सूर्य के समान शोभते थे। जाति से ब्राह्मण होने के कारण उन्होंने वेद, शास्त्र, व्याकरण, वैद्यक, तर्क, छन्द, ज्योतिष, संगीत, काव्य-अलंकार आदि विद्याओं में कुशलता प्राप्त कर ली थी।

दोनों ही भाई ज्ञान-विज्ञान एवं वाद-विवाद में अति प्रवीण थे और जैसे पुण्य के साथ इन्द्रिय सुख का प्रेम होता है, वैसे ही दोनों आपस में प्रीतिवंत थे। दोनों ही सुखपूर्वक वृद्धिंगत होते-होते कुमार अवस्था को प्राप्त हुए ही थे कि पापोदय से उनके पिता सोमशर्मा को कुष्ट रोग हो गया। उसके आँख, नाक आदि अंग-उपांग गलने लगे, जिससे वह दु:ख में अति व्याकुल हो गया था।

अरे, रे ! प्राणियों को अज्ञान के समान और कोई दूसरा दु:ख नहीं है। ज्ञान-नेत्र बन्द होने से उसने पशुबलि आदि विवेकहीन कार्यों में पंचेन्द्रिय जीवों को वचनातीत दु:ख दिये थे, उनका फल तत्काल ही वह भोगने लगा। किसी भी इन्द्रिय का विषय-सेवन अच्छा नहीं। जब न्याय-नीति से प्राप्त उचित भोग आदि कार्य भी पापबंध के कारण होते हैं, तब भला पापों में मस्त होकर किये गये अनुचित कार्य कहाँ तक अच्छे हो सकते हैं ? इसलिये ज्ञानियों ने इन्द्रिय-विषयों को संसारस्वरूप तथा दु:खदायक विषतुल्य जानकर त्याग ही दिये। ये त्यागने योग्य ही हैं। आत्मा का आनन्द निर्विकारी है, मोक्षसुख दायक है, इसलिए हे भव्य ! उसी धर्मामृत का पान करो। यह मनुष्य रत्न बार-बार मिलना मुश्किल है और धर्मरहित होकर मात्र भोगों में लगाने का विचार मात्र अधोगति का कारण है। मनुष्यभव को हारने का कभी विचार भी नहीं करना चाहिए।

मनुष्य भव की कीमत न जानते अज्ञान-अन्धकार से ग्रसित वह ब्राह्मण वेदना से छुटकारा पाने के लिए नित्य ही अपना मरण चाहने लगा, मगर आयु पूर्ण हुए बिना मरण कैसे हो सकता है ?

मरण न होने से वह कीट-पतंग के समान स्वयं अग्नि की चिता में गिरकर भस्म हो गया। पति-वियोग से पीड़ित उसकी पत्नी सोमशर्मा भी उसी चिता में जलकर भस्म हो गई। माता-पिता से रहित वे दोनों भाई महादु:खी हो गये। उन दोनों बालकों के ऊपर संकटों का पहाड़ टूट पड़ा, वे शोक से सन्तापित हो करुणा-उत्पादक विलाप करने लगे, तब उन्हें उनके परिवारजनों ने सम्बोधन कर धीरज बंधाया, जिससे वे दोनों कुछ सावधान हुए। उसके बाद उन्होंने अपने माता-पिता के उस कुल में जो-जो संध्या तर्पण आदि क्रिया-कर्म होते, उन्हें किया। पश्चात् अपने गृहकार्य आदि में लग गये तथा इसी प्रकार सांसारिक कार्यों में लगे उनको बहुत दिन बीत गये।

उनके महाभाग्य से उसी नगर के वन में एक वीतरागी संत श्री सुधर्माचार्य योगीराज पधारे, जो साक्षात् धर्म की मूर्ति ही थे। वे रत्नत्रय के धारी, बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी, जन्मे हुए बालकवत् नग्न दिगम्बर रूप के धारी एवं व्रत-समितियों में पूर्ण निर्दोष आचरणवंत थे। वे दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणों से विभूषित थे। वे एकान्त मतों के खण्डन करने वाले एवं स्याद्वाद विद्या के धारी थे। वे उपसर्ग-परीषहों पर जय प्राप्त करने वाले एवं तपरूपी धन से अलंकृत थे। ऐसे अनेक गुण युक्त वे आचार्य आठ मुनियों के संघ सहित वन में विराजमान हुए। अहो ! मुनिराजों का स्वरूप कितना अलौकिक है। वीतरागी सन्तों का स्वरूप ऐसा ही होता है। वहाँ पूज्यवर सुधर्माचार्यजी का जगतजन को हितकर, वैराग्यवर्द्धक और आनन्दमयी धर्मोपदेश हो रहा है। 'चलूँ, मैं भी धर्मामृत का पान करूँ' – इसप्रकार विचार करके भावदेव ब्राह्मण वन के लिए चल दिया तथा शीघ्र ही वन में पहुँच कर आचार्यदेव को नमस्कार कर वहीं बैठ गया।

श्री सुधर्माचार्यजी का धर्मोपदेश – हे भव्यजीवो ! इस संसार में सभी प्राणी धर्म से अनभिज्ञ होने से दु:खी हैं। चारों गतियों में प्राय: सभी जीव आत्माराधना से विमुख होकर मोह, राग, द्वेष में कुशलता के कारण दारुण दु:ख से दु:खी हैं। संयोगों की अनुकूलता सुख का कारण नहीं और संयोगों का वियोग दु:ख का कारण नहीं है। आत्मा में शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियाँ नहीं हैं, भोग और उपभोग भी नहीं है। शरीरादिक स्वयं सुख से रहित हैं, उनमें सुख की कल्पना से सुखमयी निजात्मा को भूलकर, इन्द्रियों और उनके विषयों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, अनादि से यह आत्मा सुख से बहुत दूर हो वर्त रहा है।

हे आत्मन् ! तुम स्वयं ज्ञान-आनन्दमयी वस्तु हो, निजात्मा को शाश्वत सुखमयी वस्तु मानों और अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करो। इन अनित्य वस्तुओं में नित्य की कल्पना से, दुर्गति के कारणभूत मिथ्यात्वादि भावों में सुगति के भ्रम से, हे आत्मन् ! तुम झपट्टे क्यों मार रहे हो ? हे

जीव ! तू सुखाभासों में ही भ्रम से सुख मान रहा है; परन्तु तेरा सच्चा सुख तो तेरे में ही है और निज के आश्रय से उत्पन्न होने वाला रत्नत्रय ही धर्म है; इसलिए अपनी आराधना कर ! अपनी प्रभुता को देख ! उसका विश्वास करके उसमें ही लीन हो जा ! इत्यादि अनेक प्रकार से आचार्यदेव से ज्ञानामृत का पान कर भावदेव प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। उसे अब शीघ्र ही इस परमपवित्र धर्म को धारण करने की भावना जाग उठी।

आचार्यवर का भवताप-नाशक और अनन्त-सुखदायक उपदेश श्रवण कर भावदेव ब्राह्मण का हृदय भव और भव के भावों से काँप उठा। उसके हृदय में संसार, देह, भोगों के प्रति उदासीनता छा गई। मन-मयूर तो वैराग्यरस में हिलोरें लेने लगा। अब उसे एक क्षण भी इस संसार में नहीं रुचता था। वह अविलम्ब श्री सुधर्माचार्य गुरुवर के निकट जाकर विनय से हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा –

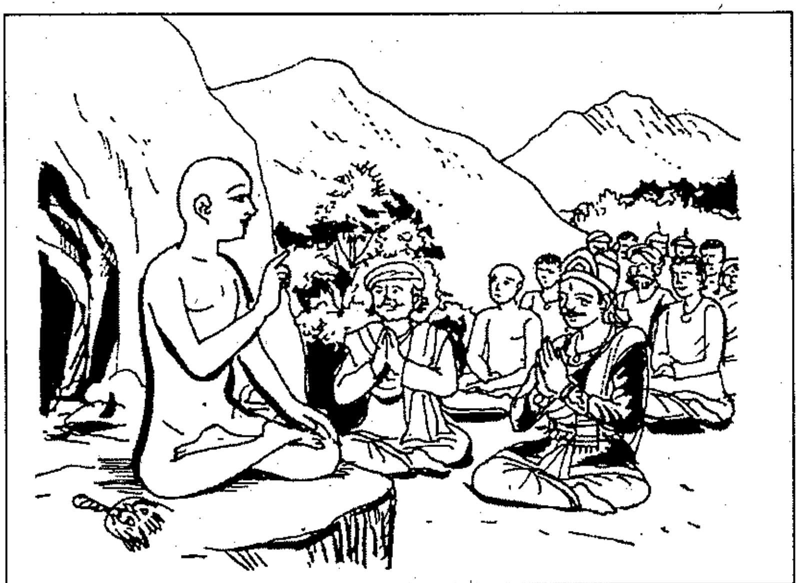

"हे गुरुवर! मुझे परम-आनन्ददायिनी भगवती जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए। हे नाथ ! मैं भवसमुद्र में डूब रहा हूँ, रत्नत्रय का दान देकर आप मेरी रक्षा कीजिए। अब मुझे मोक्ष का आनन्दमयी अविनाशी सुख चाहिए। इन सुखाभासों में कभी सच्चे सुख की परछाई भी मुझे नहीं मिली। इसलिए हे प्रभो ! मैं सर्व परिग्रह एवं सर्व सावद्य का त्याग करके आकिंचन्यत्व प्राप्त करना चाहता हूँ। इसमें ही मुझे सच्चा सुख भासित हो रहा है।"

भावदेव ब्राह्मण के भावों को देखकर एवं शान्ति की पिपासा भरे वचनों को सुनकर श्री सुधर्माचार्य गुरुवर ने उसे जाति, कुल आदि से पात्र जानकर अतीन्द्रिय आनन्द देनेवाली और संसार-दुखों से मुक्ति प्रदान करानेवाली जैनेश्वरी दीक्षा देकर अनुगृहीत किया। श्री भावदेव मुनिराज मुक्ति की संगिनी जिनदीक्षा को प्राप्त कर अतीन्द्रिय आनन्द का रसास्वादन करने लगे। शरीर होने पर भी अशरीरी दशा को साधने लगे। सिद्ध प्रभु से बातें करने लगे। आ हा हा ! चलते-फिरते सिद्ध

के समान उनमें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप अकषायरस आनन्दरस – वैराग्यरस उछलने लगा। स्वभाव की साधना देख विभाव एवं कर्मबंधनों ने अस्ताचल की राह ग्रहण कर ली।

जिस समय हो आत्मदृष्टि कर्म थर-थर काँपते हैं।
भाव की एकाग्रता लख छोड़ खुद ही भागते हैं॥

संयम की सम्भाल करते हुए योगीराज श्री भावदेवजी इस पृथ्वीतल पर ईर्यासमिति पूर्वक, गुणों के निधान गुरुवर के साथ ही विहार करने लगे। सुख-दु:ख के प्रसंगों में समताभावपूर्वक कभी आत्मध्यान, तो कभी स्वाध्याय में रत हो विचरण करने लगे। नि:शल्य हो नि:संगी आत्मा की सम्यक् प्रकार से आराधना करने लगे, सन्तों की ऐसी अन्तर्बाह्य सहज दशा का वर्णन शास्त्रों में इसप्रकार आया है –

विषयसुख विरक्ता: शुद्धतत्वानुरक्ता:
तपसि निरतचित्ता: शास्त्रसंघातमत्ता:।
गुणमणिगणयुक्ता: सर्वसंकल्पमुक्ता:
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते:॥

जो विषयसुख से विरक्त हैं, शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूह में जो मत्त हैं, गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त हैं और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं, वे मुक्तिसुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे ? अवश्य ही होंगे।

गुणनिधि गुरुवर के उपदेश से निज परम-ब्रह्म भगवान आत्मा को देखकर भावदेव मुनिराज को अन्दर में ध्रुवधाम ध्येय की धुन लग गई। उस धुन की धुन में वे उग्र तप तपने लगे। पश्चात् सविकल्प दशा में आकर वे विचारते हैं कि–

स्वाध्यायध्यानमैकाग्रयं ध्यायन्निह निरन्तरम्।
शब्दब्रह्ममयं तत्त्वमभ्यसन् विनयानत:॥

मैं धन्य हूँ, कृतार्थ हूँ, भाग्यवान हूँ, अवश्य ही मैं भवसागर से तिरनेवाला हूँ, जो मैंने इस उत्तम जैनधर्म का लाभ प्राप्त किया है।

अनेक वन, उपवन, पर्वतों में संयम की साधना एवं धर्मामृत की वर्षा करते हुए श्री सुधर्माचार्यजी संघ सहित विहार करते-करते कुछ समय बाद वर्धमानपुर (श्री भावदेव मुनिराज के नगर) में पुन: पधारे।

"**भवि भागन वच जोगे वसाय, तुम ध्वनि ह्वै सुनि विभ्रम नसाय**" को चरित्रार्थ करते हुए स्व-पर के हित में तत्पर, शान्त, प्रशान्त रस में तल्लीन भावदेव मुनिराज को वहाँ अपने गृहस्थदशा के छोटे भाई भवदेव को सम्बोधित कर कल्याण मार्ग में लगाने का विचार आया।

भवदेव ब्राह्मण उस नगर का प्रसिद्ध ख्यातिप्राप्त व्यक्ति था; परन्तु विषयों की आँधी उस पर अपना रंग जमाये हुई थी। लेकिन हठग्राही, एकान्तमतों के शास्त्रों में पारंगत, आत्महितकारी यथार्थ बोध से विमुख भवदेव की भव्यता का पाक अर्थात् यथार्थ बोध प्राप्ति की काललब्धि भी अब अति ही निकट आ गई थी।

"नगर के वन में श्री सुधर्माचार्य संघ सहित पधारे हुए हैं" – यह समाचार वायुवेग के समान सारी वर्धमानपुरी में फैल गया। इसलिये चारों ओर से नर-नारियों का समुदाय मुनिवरों के दर्शनार्थ उमड़ पड़ा। भवदेव को भी यह शुभ समाचार ज्ञात हुआ कि मुनिवर-वृन्दों के संघ में मेरे बड़े भ्राता श्री भावदेव मुनिराज भी पधारे हुए हैं। अपने भाई एवं गुरुजनों के दर्शनों की अति तीव्र भावना होने पर भी वह स्वयं के विवाह कार्य में व्यस्त होने से वहाँ नहीं जा पाया, परन्तु जैसे वीरप्रभु को सिंह के भव में उसे सम्बोधन करने हेतु आकाशमार्ग से दो चारणऋद्धिधारी मुनिवरों का आगमन हुआ था, उसी तरह भवदेव के साथ भी ऐसा बनाव बना कि श्री भावदेव मुनिराज चर्या हेतु नगर में पधारे, उसी समय भवदेव को उनके दर्शन का लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया।

भवदेव तो आश्चर्यचकित हो मुनिवर की प्रशान्त रस झरती वीतरागी मुद्रा को निर्निमेष देखता ही रहा। यद्यपि उसके हृदय में जिनधर्म के प्रति अप्रीति के भाव थे, तथापि वे सभी ऐसे पलायमान हो गये जैसे शीतल वायु (बरसाती हवा) के सम्पर्क से नमक पानी का रूप धारण कर बह जाया करता है। वह सोचता है कि "यह कोई चमत्कार है या मेरी दृष्टि में कुछ हो गया है, जो ये नग्न पुरुष इतने आनन्दमय सौम्य मुद्रावंत दिखाई दे रहे हैं, जिनके वदन पर वस्त्र का एक ताना-बाना भी नहीं, पास में रंचमात्र भी धन-वैभव नहीं, उन वनखण्डों के वासियों में यह शान्ति कहाँ से आ रही है ? भूख, प्यास, ठण्डी, गर्मी, उपसर्ग, परीषहों की बाधाओं के मध्य यह कमल कैसे खिल रहा है ?

पंच इन्द्रियों के भोग-उपभोगों के साधनों के अभाव में ये सुख की अनुभूति कैसी ? व्रत, उपवास, नीरस आहार आदि से इस वदन में कुन्दन समान चमक कैसे आई ?" इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों से ग्रसित मन को उसने सत्यता की खोज के लिए बाध्य कर ही दिया। सत्य के उस खोजी को अनेक प्रकार की ऊहा-पोह के बाद सत्यता का रहस्य हाथ लग

ही गया। वह सत्यता थी जिनशासन एवं वीतरागभाव की। जिनशासन की यथार्थता का रहस्य पाकर वह मन ही मन अति प्रसन्न हो मुनिराज के चरणारविन्दों में नतमस्तक हो समीप में ही बैठ गया।

ज्ञानपयोनिधि मुनिराज श्री भावदेव ने उसके अन्तर की भावनाओं को, उसकी उदासीनता गर्भित प्रसन्नता को भाँप लिया। उसकी पात्रता मुनिराज के ख्याल में आ गई, इसलिए उन्होंने परमसुखदायक आर्हत धर्म का उपदेश देते हुए कहा –

हे मृग ! तेरी खुशबू से, है सारा जग महकाय।
कस्तूरी तुझ पास में, तू ढूँढ़त काल गमाय॥

"हे आत्मन् ! तू इस देह में रहकर भी देह से भिन्न एक आत्मा है। तेरा असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र है। तेरे एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त गुण भरे हुए हैं। तू ज्ञान का भण्डार है, सुख का खजाना है, आनन्द का सागर है, इसमें डुबकी लगा। तू पंचेन्द्रियों के अनन्त बाधा सहित एवं अनन्त आपत्तियों के मूलभूत इन विषयों में सुख की कल्पना कर रहा है, परन्तु जरा सोच तो सही कि इस चतुर्गति रूप संसार में अनन्तकाल से भ्रमते-भ्रमते तूने इन्हें कब नहीं भोगा है ? इनके भोग कौन से शेष रहे हैं, जो तूने नहीं भोगे हों ? परन्तु आजतक क्या तूने कभी एक क्षण के लिये भी इनसे सुख-शान्ति पाई है ?

हे भव्य ! पराधीनता में कहीं भी, किसी को भी सुख की गंध नहीं मिली है। यदि इन्द्रिय-विषयों में सुख होता तो श्री शान्तिनाथ, श्री कुन्थुनाथ और श्री अरनाथ भगवान तो चक्रवर्ती, कामदेव और तीर्थंकर तीन-तीन पदवी के धारक थे, उन्हें कौन-सी कमी थी ? फिर भी उन्होंने इन्द्रिय विषयों को एवं राज्यवैभव को गले हुए तृण के समान छोड़कर आत्मा के सच्चे अतीन्द्रिय सुख को अपनाया। इस शरीर रूपी कारागृह में फँसे हुए प्राणियों ने इसके नव मलद्वारों से मल का ही सृजन कर मल का ही संचय किया है। यह देह मल से ही निर्मित है। उसके भोगों में सुख कहाँ से आयेगा ?

नव मल द्वार बहें घिनकारी, इन नाम लिये घिन आवे। यह शरीर तो अपवित्रता की मूर्ति है और भगवान आत्मा तो सदा पवित्रता की मूर्ति है। यह देह तो रोगों का भण्डार है और भगवान आत्मा तो सदा ज्ञान-आनन्द का निकेतन है। यह देह तो कागज की झोपड़ी के समान क्षण में उड़ जाने वाली है और भगवान आत्मा तो शाश्वत चैतन्य-बिम्ब है। इसलिए हे भद्र ! तू चेत ! चेत !! और सावधान हो !!!

हे जीव ! तूने अनेकों बार स्वर्ग-नरक के वासों को प्राप्त किया। और नरकों में दस हजार वर्ष से लेकर, क्रमशः तैंतीस सागरोपम की स्थिति को प्राप्त करके अनेकों बार वहाँ जन्म-मरण किये। वहाँ भूमिकृत एवं अन्य नारकियों द्वारा दिये गये अगणित दुःख भोगे। इसीतरह एकेन्द्रिय में एक स्वांस में अठारह बार जन्म-मरण के अपरम्पार अकथित दुःख भोगे। अब तो इस भव-भ्रमण से विराम ले ! यह काया दुःख की ढेरी है। ये इन्द्रियों के कल्पनाजन्य सुख नरक-निगोद के अनन्त दुःखों के कारण हैं। हे बुध ! तू ही विचार कि थोड़े दुःख के बदले में मिलनेवाला अनन्त सुख श्रेष्ठ है या थोड़े से कल्पित सुखों के बदले में मिलने वाला अनन्त दुःख श्रेष्ठ है ?

नाम सुख अनन्त दुःख, प्रेम वहाँ विचित्रता।
नाम दुःख अनन्त सुख, वहाँ रही न मित्रता॥

हे वत्स ! ऐसा सुख सदा ही त्यागने योग्य है कि जिसके पीछे अनन्त दुःख भरा हो। शाश्वत सुखमयी ज्ञायक ही तुम्हारा पद है। हे भाई ! ये काम-भोग तो ऐसे हैं, जिनकी श्रेष्ठजन – साधुजन स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते। भोगीजन भी उन्हें भोगने पर स्वतः ही ग्लानि का अनुभव करते हैं। भोगने की बुद्धि भी स्वयं मोहान्धरूप है। जिसे शुद्ध ज्ञानानन्दमय आत्मा नहीं सुहाता, वह मग्नतापूर्वक भोगों में प्रवर्तता है; परन्तु हे भाई ! वह तेरा पद नहीं है। वह तो अपद है, अपद है। इसलिए इस चैतन्यामृत का पान करने यहाँ आ ! यही तेरा पद है !

इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ॥

इतना कहकर भावदेव मुनिराज तो वन में चले गये, परन्तु यहाँ मुनिराज के मुखारविंद से धर्मामृत का पान कर भवदेव के अन्दर संसार, देह, भोगों के प्रति कुछ विरक्ति के भाव जागृत हो उठे। उसने सकल संयम धारण करने की भावना होने पर भी उसी दिन विवाह होने से अपने को महाव्रतों को धारण करने में असमर्थ जानकर अणुव्रत ही अंगीकार कर लिये। परमसुख दाता जिनमार्ग को पाकर उसके हृदय में मुनिराज को आहारदान देने की भावना जाग उठी। उसने आहारदान देने की विधि ज्ञात की और अतिथिसंविभाग की भावना से आहारदान के समय अपने द्वार पर द्वारापेक्षण कर मुनिराज के आगमन की प्रतिक्षा कर ही रहा था कि संयम हेतु आहारचर्या के लिय मुनिराज नगर में आते दिखे। मुनिराज को आते देख वह नवधाभक्तिपूर्वक बोला –

हे स्वामिन् ! नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु ! अत्र, अत्र, अत्र !! तिष्ठो, तिष्ठो, तिष्ठो !!! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि ! आहार-जल शुद्ध है।

इसप्रकार मुनिराज को पड़गाहन कर गृह-प्रवेश कराया, उच्च आसन दिया एवं पाद-प्रक्षालन तथा पूजन करके आहारदान दिया। पुण्योदय से उसे आहारदान का लाभ प्राप्त हो गया। भवदेव श्रावक के हर्ष का अब कोई पार न रहा। सिद्ध-सदृश यतीश्वर को पाकर वह अपने को कृतार्थ समझने लगा और आनन्द-विभोर हो स्तुति करने लगा –

धन्य मुनिराज हमारे हैं, अहो ! मुनिराज हमारे हैं ॥टेक॥
धन्य मुनिराज का चिंतन, धन्य मुनिराज का घोलन।
धन्य मुनिराज की समता, धन्य मुनिराज की थिरता ॥1॥
धन्य मुनिराज का मंथन, धन्य मुनिराज का जीवन।
धन्य मुनिराज की विभुता, धन्य मुनिराज की प्रभुता ॥2॥

आहार लेकर श्री भावदेव मुनिराज ने वन की ओर गमन किया जहाँ उनके गुरुवर श्री सुधर्माचार्यजी विराजमान थे। ईर्यासमितिपूर्वक योगीराज के वन की ओर जाते समय उनकी विनय करने की भावना से भरे हृदय वाले अनेक नगरवासियों के साथ भवदेव श्रावक श्री गुरुवर को वन तक पहुँचाने के भाव से उनके पीछे-पीछे चला गया। कुछ व्यक्ति तो थोड़ी दूर जाकर मुनिराज को नमस्कार कर वापिस अपने-अपने घर को लौट आये, मगर भवदेव यह सोचकर साथ ही चलता रहा कि मुनिराज आज्ञा देंगे, तभी मैं जाऊँगा। मुनिराज तो कुछ भी बोले बिना आनन्द की धुन में झूलते-झूलते आगे बढ़ते ही जा रहे थे। भवदेव सोचने लगे – "अब हम नगर से बहुत दूर आ गये हैं, इसलिए भाई को बचपन के खेलने-कूदने के स्थलों की याद दिलाऊँ, शायद इससे वे मुझे वापिस लौटने की आज्ञा दे दें।"

भवदेव बोला – "हे प्रभो ! हम दोनों बचपन में यहाँ क्रीड़ा करने आया करते थे। यह क्रीड़ा-स्थल अपने नगर से कितनी दूर है ? यह उद्यान भी कितनी दूर है, जिसमें हम गेंद खेला करते थे ? यहाँ अपने नगर का कमलों से सुशोभित सरोवर है, जहाँ हम स्नान किया करते थे। यहाँ हम दोनों मोर की ध्वनि सुनने बैठा करते थे।" इत्यादि अनेक प्रसंगों की याद दिलाते हुए वह चल तो रहा था मुनिराज के साथ, मगर अपने हाथ में बँधी कंकण की गाँठ को देख-देखकर उसका मन अन्दर ही अन्दर आकुलित हो रहा था। उसके पैर मूर्छित मनुष्य की तरह लड़खड़ाते हुए पड़ रहे थे, उसके नेत्रों में पत्नी की ही छवि दिख रही थी और नव-वधू नागवसु की याद से उसका मुखकमल भी मुरझाया जैसा हो गया था।

दूसरी ओर उसके मन में अनन्त सुखमय वीतरागी सन्तों का मार्ग भी भा तो रहा ही था, उसका

मन बारम्बार इन्द्रियसुख से विलक्षण अतीन्द्रिय सुख का प्रचुर स्वसम्वेदन करने के लिए प्रेरित हो रहा था। एक ओर सांसारिक दुःखों की भयंकर गहरी खाई तो दूसरी ओर सादि-अनन्तकाल के लिए आत्मिक अनन्त-आनन्द दिख रहा था।

अरे ! "किसे अपनाऊँ, किसे न अपनाऊँ ? मैं तो सुख का मार्ग ही अपनाऊँगा।" – इसप्रकार विचारमग्न भवदेव दुविधा में झूल रहा था – "अरे रे ! वह नागवसु क्या सोचेगी ? उसके ऊपर क्या बीत रही होगी ? क्या एक निरपराधी के साथ ऐसा करना अनुचित नहीं होगा ? क्या मैं पामर नहीं माना जाऊँगा ? क्या मैं लोक में हँसी का पात्र नहीं होऊँगा ?... नहीं, नहीं लोक संज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जा सकता। एक बार पत्नी और परिवारजन भले ही दुःखी हो लें, समाज कुछ भी कहे, मगर समझदारों का विवेक तो हमेशा हित-गवेषणा में तत्पर रहता है। मैं तो जैनेश्वरी दीक्षा ही अंगीकार करूँगा।"

इसप्रकार के द्वन्दों में झूलता हुआ भवदेव, मुनिराज के साथ पूज्य गुरुवर श्री सुधर्माचार्य के निकट पहुँच गया। गुरुराज को नमस्कार कर वहीं दोनों जन विनयपूर्वक बैठ गये। संघस्थ मुनिवर वृन्दों ने श्री भावदेव मुनिराज को कहा – "हे महाभाग्य ! तुम धन्य हो, जो इस निकट भव्यात्मा को यहाँ इस समय लेकर आये हो। आप दोनों मोक्षगामी आत्मा हो। आप दोनों के कंधों पर ही धर्म का स्यन्दन (रथ) चलेगा।"

वन में विराजमान मोक्ष मण्डली एवं वहाँ के शान्त वातावरण को देख भवदेव मन ही मन विचारने लगा – "मैं परमपवित्र इस संयम को धारण करूँ या पुनः घर जाकर नव-वधू को सम्बोध कर वापिस आकर जिनदीक्षा लूँ।" संशय के हिंडोले में झूलता हुआ भवदेव का मन एक क्षण भी स्थिर न रह सका।

वह विचारता है – "अभी मेरे मन में संशय है, अतः मैं दिगम्बर वेष कैसे धर सकूँगा ? और मेरा मन भी कामरूपी सर्प से डसा हुआ है। मेरे जैसा दीन पुरुष इस महान पद को कैसे धारण कर सकेगा ? लेकिन यदि मैं गुरु-वाक्य को शिरोधार्य न करूँ तो मेरे बड़े भ्राता को बहुत ही ठेस पहुँचेगी।" इस तरह उसने अनेक प्रकार के विकल्पजालों में फँसे हुए अपने मन को कुछ स्थिर करके सोचा तो अन्ततोगत्वा उसे परमसुखदायनी, आनन्दप्रदायनी जैनेश्वरी दीक्षा ही श्रेष्ठ भासित हुई। फिर भी उसके मन में यह भाव भी आया कि कुछ समय यहाँ रहकर बाद में अवसर पाकर मैं अपने घर को लौट जाऊँगा।

पुनः उसका मन पलटा – "अरे ! मुझे ऐसा करना योग्य नहीं। मैं अभी ही जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करूँगा।"

– ऐसा दृढ़निर्णय करके भवदेव गुरुवर्य श्री सुधर्माचार्य के चरणों में हाथ जोड़कर बारम्बार नमस्कार करता हुआ प्रार्थना करने लगा – "हे स्वामिन् ! मैंने इस संसार में अनन्त दुःखों से दुःखी होकर भ्रमते हुए आज ज्ञान-नेत्र प्रदान करने वाले तथा संसार से उद्धार करने वाले आपके चरणों की शरण पाई है। इसलिये हे नाथ ! मुझे जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर अनुगृहीत कीजिए। मैं अब इन सांसारिक दुःखों से छूटना चाहता हूँ।"

श्री सुधर्माचार्य ने पारमेश्वरी जिनदीक्षा के अभिलाषी, वर्तमान में उदासीनता युक्त भवदेव को श्री गुरु ने अर्हंत धर्म की यथोक्त विधिपूर्वक जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत किया। भवदेव ने भी पंचपरमेष्ठियों एवं सम्पूर्ण संघ तथा श्रोताजनों की साक्षीपूर्वक अन्तरंग-बहिरंग चौबीस प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर केशलोंच करके निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली।

अपने दीक्षागुरु पूज्यश्री सुधर्माचार्य के साथ अनेक वन, उपवन, पर्वतों आदि में विहार करते हुए ज्ञान-ध्याान, अध्ययन आदि के साथ संयम की आराधना करने लगे।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

एक बार सम्यक्त्व को अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए ग्रहण करके जीव कदाचित् उसे छोड़ दे, तो भी अल्पकाल में अवश्य (फिर से सम्यक्त्वादि ग्रहण करके) मुक्ति पाता है।

जिस भव्यजीव को सम्यक्त्व होता है, उसके हाथ में चिन्तामणि होता है, उसके घर में कल्पवृक्ष और कामधेनु होते हैं।

इस लोक में निधान के समान सम्यक्त्व भव्यजीवों को सुख-दाता है, वह सम्यक्त्व जिन्होंने प्राप्त किया है, उनका जन्म सफल है।

– सकलकीर्ति श्रावकाचार से साभार

42

आर्यिका द्वारा मुनिराज का स्थितिकरण

जब भावदेव मुनिराज को विनयपूर्वक वन-जंगल तक पहुँचाने गये भवदेव बहुत समय तक घर नहीं आये। तब नागवसु को ऐसा विचार आया कि कहीं मेरे पतिदेव ने मुनिदीक्षा तो धारण नहीं कर ली है ? इस बात का पता लगाने पर उसे ज्ञात हुआ कि उन्होंने तो सचमुच ही मुनिदीक्षा धारण कर ली है तथा आचार्यदेव तो संघ सहित विहार भी कर गये हैं।

"जब पतिदेव ही दीक्षित हो गये हैं, तब मैं भी क्यों न उनका ही पथ अंगीकार करूँ ?" – यह सोचकर नागवसु ने भी अपना मन आर्यिका के व्रत लेने के लिए तैयार कर लिया। अन्दर में कुछ उदासी तो आ ही गई थी, फिर भी वह घर में रहती हुई दिन-रात द्वन्द में पड़ी-पड़ी यही विचार करती कि – "जब पतिदेव ने ही भोग के समय योग धारण कर लिया, संसार को ठुकराकर सच्चे सुख का मार्ग ग्रहण कर लिया तो मैं भी क्यों न सच्चे सुख का ही मार्ग ग्रहण करूँ ?"

वह पुनः अपने भावों को टटोलती है कि – "वीतरागी मार्ग में तो कठिनाइयाँ बहुत आती हैं। मैं उपसर्ग-परीषहों को कैसे सहूँगी ? वनखण्डों की सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि की बाधाओं को मेरा यह कोमल शरीर कैसे सहेगा ? मैंने यह मार्ग कभी देखा ही नहीं, क्या पता मैं इसका निर्दोष पालन कर पाऊँगी या नहीं ?" इत्यादि।

नागवसु के भाव पुनः पलटते हैं – "अरे ! गजकुमार, सुकुमाल एवं सुकौशलजी आदि तो मेरे से भी अधिक सुकोमल तन के धारी थे, बाह्य साधन-सामग्री भी बहुत थी, फिर भी उन्होंने यह कुछ भी नहीं सोचा। बस जैसे वे अपने हित के मार्ग पर निकल पड़े थे, वैसे ही मुझे भी कुछ नहीं सोचना है। धर्म के आराधकों को तो आत्म-शान्ति की धुन में कुछ खबर ही नहीं पड़ती कि बाहर में क्या हो रहा है।"

मोक्षसुख की भावना से ओत-प्रोत नागवसु ने भी पूज्य गणनीजी के पास जाकर नमस्कार करके आर्यिकाव्रत प्रदान करने की प्रार्थना की – "हे माता ! मेरा चित्त अब संसार के दुःखों से थक चुका है। मैंने धर्म से पराङ्मुख होकर नरक-निगोद के अनन्त दुःख सहे हैं, अब मैं शान्ति चाहती हूँ; इसलिए हे माता ! मुझे आत्मशान्ति को देनेवाली दीक्षा देकर अपनी शरण में लीजिए।"

तभी पूज्य गणनीजी ने नागवसु को पात्र जानकर आर्यिका के व्रत प्रदान किये। सम्यग्दर्शन एवं देशव्रतों से सुशोभित नागवसुआर्यिकाजी भी खूब अध्ययन एवं ध्यान में रत होकर उग्र तप करने लगीं। उनने भी अपनी भूमिका के योग्य सर्वोत्कृष्ट दशा को अंगीकार कर लिया। उग्र तपों का आदर करने से आर्यिकाजी की आत्मशान्ति तो वृद्धिंगत होती जा रही थी; परन्तु तन हाड़-पिंजर हो गया था, तभी ज्ञान-वैराग्य रस में पगी आर्यिकाजी भी पूज्य गणनीजी एवं संघ के साथ अनेक नगरों तथा वन-जंगलों में विहार करती हुई बहुत समय के बाद वर्धमानपुरी के निकटवर्ती उद्यान में आकर तिष्ठ रहीं थीं।

इधर श्री सुधर्माचार्य भी संघ सहित पुनः उसी वर्धमान नगर के वनखण्डों में पधारे। सर्व ही मुनिराज नगर के बाहर वन के एकान्त स्थान में शुद्धात्मा के ध्यान में तल्लीन हो कायोत्सर्ग पूर्वक तप करने में संलग्न थे,

परन्तु भवदेव मुनिराज को अपनी नवविवाहिता पत्नी नागवशु की याद तीव्रता से सताने लगी। वे बार-बार अपने को समझाते; परन्तु राग की तीव्रता ने जोर मारा और पत्नी नागवशु की जानकारी करने हेतु वर्धमानपुरी को चल दिए।

यद्यपि वे रास्ते भर मन ही मन अपने को/अपने उपयोग को समझाते रहे कि – "अरे ! इसप्रकार के विचार करना मुझे योग्य नहीं है। अब मैंने जिनदीक्षा धारण कर ली है, इसलिए मुझे सम्यक् रत्नत्रय की ही भावना करना योग्य है। संसार की कारणभूत स्त्री के स्मरण से अब मुझे क्या प्रयोजन है ?" – ऐसा विचार करते हुए भी वे वर्धमानपुरी की ओर ही चलते रहे।

अहो ! इस समय भवदेव मुनि तो संध्या के उस सूर्य की लालिमा के समान हैं, जो रात्रि होने के पहले पश्चिम दिशा को जा रहा है। नगर में आकर उन्होंने एक सुन्दर एवं ऊँचे जिनमन्दिर को देखा। वह मन्दिर ऊँची-ऊँची ध्वजाओं एवं तोरणों से सुशोभित था। मणिरत्नों की मालायें उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। वहाँ अनेक नगरवासी दर्शन कर प्रदक्षिणा देकर भावभक्ति से प्रभु की पूजन करते थे, कोई मधुर स्वर में गान कर रहे थे, कोई शान्तभाव से प्रभु का गुण-स्तवन कर रहे थे, कोई आत्म-शान्ति-हेतु चिंतवन-मनन में मग्न थे तथा कोई ध्यानस्थ बैठे हुए थे। भवदेव मुनि भी जिनेन्द्रदेव का दर्शन कर अपने योग्य स्थान में बैठ गये।

उधर आर्यिका नागवशु भी आहार-चर्या को निकलने के पहले जब जिनमन्दिर में जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने को गईं तो ज्ञात हुआ कि कोई मुनिराज यहाँ पधारे हुए हैं। मुनिराज को चर्या हेतु

निकल जाने के बाद वह स्वयं भी चर्या को निकलीं। आहार-चर्या करने के बाद मुनिराज पुनः जिनमन्दिर में पधारे।

मुनिराज के दर्शन की भावना लिए आर्यिकाजी अपनी गणनी माताजी के साथ संघ सहित पुनः मन्दिरजी में पधारीं; परन्तु उनके समीप पहुँचने से पूर्व ही उन्होंने मुनिराज को एक गृहस्थ से नागवसु के बारे में बात करते हुए सुना। फिर भी आर्यिका-संघ ने मुनिराज को नमस्कार करते हुए रत्नत्रय की कुशलता पूछी। मुनिराज ने भी आर्यिका-व्रतों की कुशलता पूछी।

गणनी माताजी ने उनके भययुक्त मन तथा काँपते हुए शरीर को देखा तो वे विचारने लगीं – "अरे रे ! ये मुनिवर, मुनिपद धारण करके भी कैसी मति-विमोहित हो मोहान्ध हो रहे हैं ? इसलिए धर्म से विचलित होने वालों को धर्मामृत-पान द्वारा पुनः स्थितिकरण कराना हमारा कर्तव्य है।"

पश्चात् विशेष ज्ञान सम्पन्न नागवसु आर्यिकाजी ने गणनी माताजी की आज्ञानुसार भवदेव मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा – "हे मुनिवर !

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशरन्निदग्धं मुहुः।
स्वभावनियतं सुखे विधिवशादनासादितं
भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः॥

हे यति ! जो चित्त भव-भ्रमण का कारण है और बार-बार कामबाण की अग्नि से दग्ध है – ऐसे कषायक्लेश से रंगे हुए चित्त को आप शीघ्र छोड़ दो और जो विधिवशात् अप्राप्त है – ऐसे निर्मल स्वभाव-नियत सुख को आप प्रबल संसार की भीति से डरकर भजो।

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता,
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम्।
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं,
सुखं रेमे कश्चिद्वत कलिहतोऽसो जड़मतिः॥

इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है, वह योग्य तपश्चर्या इन्द्रों को भी सतत वंदनीय है। उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है, वह जड़मति, अरे रे ! कलि से घायल हुआ है।

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येय प्रमुखसुतपः कल्पनामात्ररम्यम्।
बुद्ध्वा धीमान् सहज परमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ॥

हे बुद्धिमान ! आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है। ध्यान, ध्येय आदि के विकल्पवाला शुभ तप भी कल्पनामात्र रम्य है – ऐसा जानकर श्रीमान् सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए ऐसे एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं।

शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ॥

हे श्रमण ! तीन शल्यों का परित्याग करके, निःशल्य परमात्मा में स्थित रहकर, विद्वान को सदा शुद्ध आत्मा को स्फुटरूप (प्रगटरूप) से भाना चाहिए।

हे महाराज ! आप पूज्य हो, धीर हो, वीर हो, निर्ग्रन्थ हो, वीतरागी हो, महान बुद्धिमान हो, धन्य हो, जो तीन लोक में महादुर्लभ ऐसा चारित्रधर्म आपने अंगीकार किया है। ये महाव्रत स्वयं महान हैं। इसे महापुरुष ही धारण करते हैं और इनका फल भी महान है। इन्द्रों से भी पूज्य और मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान परमपवित्र साधुपद में आप तिष्ठ रहे हो। यह साम्यधर्म मोह रहित आत्मा का अत्यन्त निर्विकारी चैतन्य परिणाम है, यही चारित्र एवं धर्म है और यही सर्व अनुपम गुणों एवं लोकोत्तर सुखों का निधान है। हे महाप्रज्ञ ! आप वास्तव में अति महान हो, क्योंकि आपने देवों को भी दुर्लभ ऐसे विपुल भोगों को पाकर भी तत्काल उनसे विरक्त हो योग धारण कर लिया।

दिखते हैं जो जग-भोग रंग-रंगीले,
ऊपर मीठे अन्दर हैं जहरीले।
पुनि-पुनि भोगों में जलना क्या ?
बिन ज्ञान जिया तो जीना क्या ?

हे मुनिराज ! ये भोग हलाहल विष समान तत्क्षण प्राणों को हरने वाले हैं और भविष्य में भी अनन्त दुखों के दाता हैं। अनन्त भवों में ये महा हिंसाकारक भोग क्या अनन्तों बार नहीं भोगे, जो आज उन्हीं की पुनः इच्छा करते हो ? जरा विचारो ! आप तो बारह प्रकार के अव्रत के पूर्ण त्यागी हो, अहिंसा महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारी हो। ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो अमृत को छोड़कर

विष की इच्छा करेगा ? स्वर्ण को त्यागकर पत्थर को ग्रहण करेगा ? ऐसा कौन अधम होगा, जो स्वर्ग व मोक्ष को छोड़कर नरक जायेगा ? तथा ऐसी जिनेश्वरी दीक्षा को छोड़कर इन्द्रियों के भोगों की कामना करेगा ?''

– इत्यादि अनेक तरह के बोधप्रद वचनों से आर्यिकाजी ने उन्हें सम्बोधित किया। तत्पश्चात् नागवसु के सम्बन्ध में गणनी आर्यिका माताजी ने भवदेव मुनिराज की शल्य का निवारण करते हुए कहा – कि वे तो आपके दीक्षा के समाचार सुनते ही आर्यिका की दीक्षा लेकर चली गई थीं, और आपको स्थितिकरण में कारणभूत भी वे ही हैं।

आर्यिका के व्रतों में ये मेरु-समान अचल हैं। हे मुने ! यह बड़े खेद की बात है कि आपने बारम्बार अपनी पत्नि का स्मरण करके शल्य सहित इतना काल वृथा ही गँवाया। धिक्कार है ! ऐसी विषयाभिलाषा को ! धिक्कार है !! धिक्कार है !!!

हे मुने ! वास्तव में इस स्त्री-शरीररूपी कुटी में कोई भी पदार्थ सुन्दर नहीं है। इसलिए अपने मन को शीघ्र ही संसार, देह, भोगों से पूर्ण विरक्त करके, निःशल्य होकर स्वरूप में विश्रांति रूप निर्विकार चैतन्य का प्रतपन रूपी तप का साधन करो। जिससे स्वर्ग व मोक्षसुख प्राप्त होते हैं। अनेक दुःखदायी सुखाभासों को देने वाले इन विषय-भोगों में इस जन्म को व्यर्थ क्यों खोना ? क्या कभी अग्नि ईंधन से तृप्त हुई है ? इस जीव ने अनन्त भवों में अनन्त बार स्त्री आदि के अपार भोगों को भोगा है और कई बार जूठन के समान छोड़ा है। हे वीर! भोगों में अनुराग करने से आपको क्या मिलेगा ? केवल दुःख ही दुःख मिलेगा।''

धर्मरत्न श्री आर्यिकाजी के धर्मरसपूर्ण वचनों को सुनकर भवदेव मुनि महाराज का मन स्त्री आदि के भोगों से पूर्णतः विरक्त हो गया। वे मन ही मन अति लज्जित हो अपने को धिक्कारने लगे। मुनिराज प्रतिबुद्ध होकर आर्यिकाजी की बारम्बार प्रशंसा करने लगे – ''मैं भवदेव आपके वचनों के श्रवण से अग्निपाक संयोग सुवर्ण के समान निर्मल हो गया हूँ। हे आर्ये ! आप धन्य हो। मुझ जैसे अधम के उद्धार में आप नौका समान हो। आपने मुझे मोह से भरे अगाध जलराशि में से एवं सैकड़ों आवर्तों व भ्रमरों में डूबते हुए संसार-सागर से बचा लिया है। आपका अनन्त उपकार है।'' – इतना कहकर मुनि भवदेवजी उठकर वन की ओर विहार कर गये।

भवदेव मुनिराज जंगल की ओर चलते-चलते विचारमग्न हो मन ही मन गुन-गुनाते जा रहे हैं कि – **अब हम सहज भये न रुलेंगे।**

बहु विधि रास रचाये अबलौं, अब नहिं वेष धरेंगे।।टेक।।
मोह महादु:ख कारण जानो, इनको न लेश रखेंगे।
भोगादिक विषयन विष जाने, इनको वमन करेंगे।।1।।
जग जो कहो सो कह लो भैया, चिंता नाहिं करेंगे।
मुनिपद धार रहें वन माहीं, काहू से नाहिं डरेंगे।।2।।
अब हम आप सौं आपमें बसके, जग सौं मौन रहेंगे।
हम गुपचुप अब निज में निज लख, और कछु न चहेंगे।।3।।
निज आतम में मगन सु होकर, अष्ट करम को दहेंगे।
निज प्रभुता ही लखते-लखते, शाश्वत प्रभुता लहेंगे।।4।।
अपनी सहजता निरखि निरखि निज, दृग काहे न उमगेंगे।
ये जग छूटे, करम भी टूटे, सिद्ध-शिला पे रहेंगे।।5।।

जैसे – चिरकाल से समुद्र के आवर्तों में फँसा हुआ जहाज आवर्त से छूटकर अपने स्थान को पहुँचता है, उसी प्रकार शल्यरहित होकर मुनिराज ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हुए अपने गुरुवर के निकट पहुँचे। गुरुवर को नमस्कार करके भवदेव मुनि ने गुरुवर के समक्ष अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त जो कुछ भी बीता था, सबकुछ निश्छलभाव से कह दिया तथा अन्त में कहा – "हे गुरुवर! मुझे शुद्ध कर अपने चरणों की शरण दीजिए।" पूज्य गुरुवर ने भवदेव द्वारा निश्छलभाव से कहे गये दोषों को जानकर उसके दण्डस्वरूप भवदेव की दीक्षा छेदकर पुन: दीक्षा देकर संयम धारण कराया। दोषों का प्रायश्चित भवदेव मुनिराज ने सहर्ष

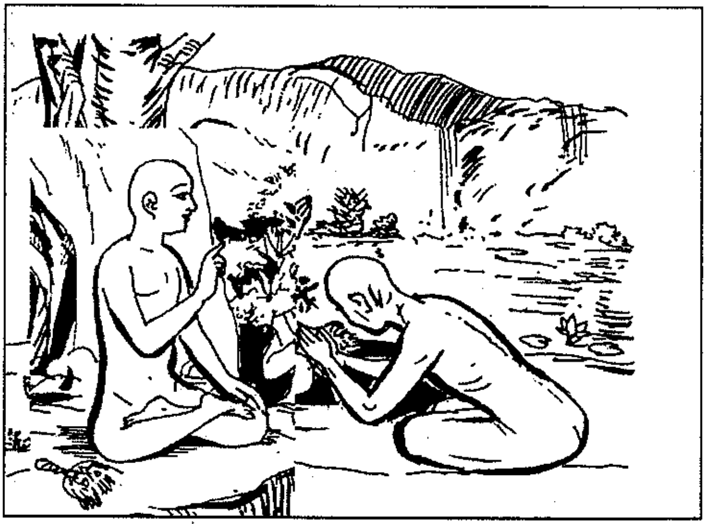

स्वीकार किया। वे संघस्थ सभी साधुओं को नमस्कार करके, नि:शल्य हो, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके कर्मों को जीतनेवाले भाव- लिंगी संत हो विचरने लगे और विचारने लगे–

भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतु विनाशनम्।
भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ।।

निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले तथा भव और भोग से पराङ्मुख हुए हे यति! तुम भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस ध्रुवपद को भजो, अधुव्र वस्तु की चिन्ता से तुम्हें क्या प्रयोजन है ?

समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये ।।

जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु-रोगादि रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को मैं समरस (समताभाव) द्वारा सदा पूजता हूँ।

अब भवदेव मुनिराज निरन्तर अपने समयसार स्वरूप को अर्थात् निजात्मा को भजने लगे। ज्ञान-ध्यान एवं उग्र-उग्र तपों में संलग्न हो अपने बड़े गुरुजनों के समान तप करने लगे।

शुभ-अशुभ से जो रोककर, निज आत्म को आत्मा ही से।
दर्शन अवरु ज्ञान हि ठहर, परद्रव्य इच्छा परिहरे।।
जो सर्वसंग विमुक्त ध्यावे, आत्म से आत्मा ही को।
नहिं कर्म अरु नोकर्म चेतक, चेतना एकत्व को।।
वह आत्म ध्याता, ज्ञान-दर्शनमय अनन्यमयी हुआ।
बस अल्पकाल जु कर्म से, परिमोक्ष पावे आत्म का।।

निजस्वरूपस्थ श्री भवदेव मुनिराज को अब एकमात्र मोक्ष की ही भावना शेष रह गई है और सभी प्रकार की इच्छाएँ विलय को प्राप्त हो गई हैं। वे अब क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, शत्रु, मित्र, स्वर्ण, पाषाण, हानि, लाभ, निन्दा, प्रशंसा आदि सभी में समभाव के धारी हो गये।

निजस्वरूप की आराधना करते-करते अब जीवन के कुछ ही क्षण शेष रहे थे कि महान कुशलबुद्धि के धारक भावदेव और भवदेव दोनों तपोधनों ने उसे शेष समय में आत्मतल्लीनतारूप परम समाधिमरण को स्वीकार कर प्रतिमायोग धारण कर विपुलाचल पर्वत पार पण्डितमरण द्वारा इस नश्वर काया का त्याग कर सानत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग में सात सागर की आयुवाली देव पर्याय को प्राप्त किया। अहो ! ऐसी आत्माराधनापूर्वक पण्डितमरण करने वाले युगल तपोधनों की जय हो ! जय हो !!

(कहानी संख्या 40 से 42 के लेखक ब्र. विमलाबेन जैन हैं। - आभार)

43

चमत्कारी वैराग्य

(जीव को धर्म में मदद करे, वही सच्चा मित्र)

इस भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए, उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत हुए। बाद में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ हुए, उनके शासनकाल में सगर नाम के दूसरे चक्रवर्ती हुए।

सगर चक्रवर्ती पूर्वभव में विदेह क्षेत्र में जयसेन नाम के राजा थे, उन्हें अपने दो पुत्रों से बहुत स्नेह था, उनमें से एक पुत्र के मरण होने पर वे मूर्छित हो गये, पश्चात् शरीर को दुःख का ही धाम समझ कर जन्म-मरण से छूटने के लिए दीक्षा लेकर मुनि हुए। तब उनके साले महारूप ने भी उनके साथ दीक्षा ले ली, दूसरे हजारों राजा भी दीक्षा लेकर मुनि हुए और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध मोक्षमार्ग को साधने लगे।

जयसेन और महारूप– ये दोनों मुनिराज समाधि-मरणपूर्वक देह छोड़कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग में देव हुए। वे दोनों एक दूसरे के मित्र थे और निरन्तर ज्ञान-वैराग्य की चर्चा करते थे। एक बार उन्होंने प्रतिज्ञा ली कि हम में से जो भी पहले पृथ्वी पर अवतार लेकर मनुष्य होगा, उसे दूसरा देव प्रतिबोध देगा अर्थात् उसे संसार के स्वरूप को समझाकर वैराग्य उत्पन्न कराकर और दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा। इसप्रकार धर्म में मदद करने के लिए दोनों मित्रों ने एक-दूसरे के साथ प्रतिज्ञा की। **सच ही है सच्चा मित्र वही है, जो धर्म में मदद करे।**

अब उनमें से प्रथम जयसेन राजा के जीव ने बाईस सागरोपम तक देवलोक के सुख भोग कर आयु पूर्ण होने पर मनुष्य लोक में अवतार लिया। भरत क्षेत्र में ही जहाँ पहले दो तीर्थंकर और भरत चक्रवर्ती ने अवतार लिया था, उसी अयोध्या नगरी में उन्होंने अवतार लिया। उनका नाम था सगरकुमार। वे दूसरे चक्रवर्ती हुए और छह खण्ड का राज्य करने लगे। उन चक्रवर्ती के अत्यन्त पुण्यवान साठ हजार पुत्र थे, वे सभी उत्तम धर्मसंस्कारी थे।

एक बार सिद्धिवन में चतुर्मख नाम के मुनिराज को केवलज्ञान हुआ और बहुत उत्सव मनाया गया, कितने ही देव उत्सव में आये। उनमें मणिकेतु नाम का देव जो सगर चक्रवर्ती का मित्र था वह भी आया। केवली भगवान की वाणी सुनकर उसे यह जानने की इच्छा हुई कि इस समय मेरा

मित्र कहाँ है ? इच्छा होते ही उसने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि वह जीव पुण्योदय से अयोध्या नगरी में सगर नाम का चक्रवर्ती हुआ है।

अब उस देव को पूर्व की प्रतिज्ञा याद आयी और अपने मित्र को प्रतिबोध देने के लिए वह अयोध्या आया। वहाँ आकर सगर चक्रवर्ती से कहा–

''हे मित्र ! तुझे याद है ? हम दोनों स्वर्ग में एक साथ थे और हम दोनों ने एक साथ यह निश्चित किया था कि अपने में से जो पृथ्वी पर पहले अवतार लेगा, उसे स्वर्ग में रहनेवाला दूसरा साथी प्रतिबोध देगा। हे भव्य ! तुमने इस पृथ्वी पर पहले अवतार लिया है, परन्तु तुम मनुष्यों में उत्तमोत्तम ऐसा चक्रवर्ती पद प्राप्त कर बहुत काल तक भोगों में ही भूले हो। अरे, सर्प के फण समान दु:खकर इन भोगों से आत्मा को क्या लाभ है ? इसमें किंचित् सुख नहीं, इसलिए हे राजन् ! हे मित्र ! अब इन भोगों को छोड़कर मोक्षसुख के लिए उद्यम करो। अरे, अच्युत स्वर्ग के दैवी वैभव असंख्य वर्षों तक भोगने पर भी तुम्हें तृप्ति नहीं हुई। यह राज्य वैभव तो उसके सामने कुछ भी नहीं है। इसलिए इनका मोह छोड़कर अब मोक्षमार्ग में लगो।

अपने मित्र मणिकेतु देव के ऐसे हितपूर्ण वचनों को सुनकर भी उस सगर चक्रवर्ती ने लक्ष्य में नहीं लिया, अतः वह विषयों में आसक्त और वैराग्य से विमुख ही रहा।

मित्र की ऐसी दशा देखकर, ''इसको अभी भी मुक्ति का मार्ग दूर है'' –ऐसा विचार कर वह देव अपने स्थान पर चला गया, सच ही है कि ज्ञानी पुरुष दूसरे के **अहित की तो बात ही नहीं करते, परन्तु हित की बात भी योग्य समय विचार कर ही करते हैं। अरे, धिक्कार है ऐसे संसार को कि जिसकी लालसा मनुष्य को अपने वचनों से च्युत कर देती है।**

सगर चक्रवर्ती ज्ञानी तो थे, फिर भी वे भोग आसक्ति के कारण चारित्र दशा लेने के लिए तैयार नहीं हुए।

बहुत समय बाद, वह मणिकेतु देव फिर से इस पृथ्वी पर आया, अपने मित्र को संसार से वैराग्य कराकर मुनिदशा अंगीकार करवाने के लिए। इससमय उसने दूसरा उपाय विचार किया। उसने चारण ऋद्धिधारी छोटे कद के तेजस्वी मुनि का रूप धारण किया और सगर चक्रवर्ती के चैत्यालय में जिनेन्द्र भगवान को वंदन कर स्वाध्याय करने बैठ गये। इसी समय सगर चक्रवर्ती भी चैत्यालय में आये और उसने मुनिराज को देखा, मुनि को देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ और भक्ति से नमस्कार करके पूछा–

"प्रभो ! आपका तो अद्भुत रूप है, आपने इतनी छोटी उम्र में ही मुनिपद कैसे ले लिया?

उससमय अत्यन्त वैराग्य से उन चारण ऋद्धिधारी मुनिराज का रूप धारण किए फिर उस मणिकेतु देव ने कहा– "हे राजन् ! देह का रूप तो पुद्गल की रचना है और इस जवानी का कोई भरोसा नहीं, जवानी के बाद बुढ़ापा आयेगा ही, इसका मुझे विश्वास नहीं। आयु तो प्रतिदिन घटती जाती है। शरीर तो मल का धाम है , विषयों के पाप से भरा हुआ है, उसमें दुःख ही है– यह अपवित्र अनित्य और पापमय संसार का मोह क्यों ? यह छोड़ने योग्य ही है।

वृद्धावस्था की राह देखते हुए धर्म में आलस करके बैठे रहना तो मूर्खता है। प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय वस्तु का संयोग संसार में होता ही है। संसार में कर्मरूपी शत्रु द्वारा जीव की ऐसी दशा होती है, इसलिए आत्मध्यानरूपी अग्नि के द्वारा उस कर्म को भस्म करके अपने अविनाशी मोक्षपद को प्रकट करना ही एक मात्र उत्तम कार्य है। हे राजन् ! तुम भी इस संसार के मोह को छोड़कर मोक्ष साधने के लिए उद्यम करो।"

मुनिवेश में स्थित अपने मित्र मणिकेतु देव की वैराग्यभरी बात सुनकर सगर-चक्रवर्ती संसार से भयभीत तो हुआ, परन्तु 60 हजार पुत्रों के तीव्र स्नेह से वह मुनिदशा नहीं ले सका। अरे, स्नेह का बंधन कितना मजबूत है। राजा के इस मोह को देखकर मणिकेतु को खेद हुआ और "अब भी इसका मोह बाकी है" – ऐसा विचार कर वह पुनः चला गया।

अरे, देखो तो जरा ! इस साम्राज्य की तुच्छ लक्ष्मी के वश चक्रवर्ती पूर्वभव के अच्युत स्वर्ग की लक्ष्मी को भी भूल गया है। उस स्वर्ग की विभूति के सामने इस राज्य-सम्पदा का क्या मूल्य है कि जिसके मोह में जीव फँसा है; परन्तु मोही जीव को अच्छे-

बुरे का विवेक नहीं रहता। यह चक्रवर्ती तो आत्मज्ञानी होने पर भी पुत्रों में मोहित हुआ है, पुत्रों के प्रेम में वह ऐसा मोहित हो रहा है कि मोक्ष के उद्यम में भी प्रमादी हो गया है।

सिंह के बच्चों समान शूरवीर और प्रतापवंत उस चक्रवर्ती के पुत्र एक बार राजसभा में आये और विनयपूर्वक कहने लगे– "हे पिताजी ! जवानी में शोभे– ऐसा कोई साहस का काम हमें बताइये। उस समय चक्रवर्ती ने प्रसन्न होकर कहा–

"हे पुत्रो ! चक्र के द्वारा अपने सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। हिमवन पर्वत और लवण समुद्र के बीच (छह खण्ड में) ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे हम प्राप्त न कर सकें। इसलिए तुम्हारे लिये तो अब एक ही काम शेष है कि तुम इस राज्यलक्ष्मी का यथायोग्य भोग करो।"

शुद्ध भावनावाले उन राजपुत्रों ने पुनः आग्रह किया– "हे पिताजी ! हमको धर्म की सेवा का कोई कार्य सौंपें, यदि आपने कोई कार्य नहीं सौंपा तो हम भोजन नहीं करेंगे। सभी राजपुत्र धर्मात्मा थे।" (उनके इस मांगलिक आदर्श को देखकर युवावर्ग को धर्मकार्य में उत्साह से भाग लेना चाहिए।)

उत्साही पुत्रों के आग्रह को देखकर राजा को चिंता हुई कि उन्हें क्या काम सौंपना चाहिये? विचार करते ही उन्हें याद आया कि हाँ, मेरे से पहले हुए भरत चक्रवर्ती ने कैलाशपर्वत पर अतिसुन्दर प्रतिमायें स्थापित की हैं। उसकी रक्षा के लिए चारों ओर खाई खोद कर उसमें गंगा नदी का पानी प्रवाहित किया जाय तो उससे मन्दिरों की रक्षा होगी– ऐसा विचार कर चक्रवर्ती राजा ने पुत्रों को वह कार्य सौंपा।

पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके वे राजपुत्र उस काम को करने के लिए कैलाशपर्वत पर गये। वहाँ जाकर उन्होंने अत्यन्त भक्तिपूर्वक जिनबिम्बों के दर्शन किये, पूजा की।

"अहा ! ऐसे अद्भुत रत्नमय जिनबिम्ब हमने कहीं नहीं देखे। हमें ऐसे भगवान के दर्शन हुए और महाभाग्य से जिनमन्दिरों की सेवा करने का अवसर मिला"– इस तरह परम आनन्दित होकर वे 60 हजार राजपुत्र भक्तिपूर्वक अपने सौंपे हुए कार्य को करने लगे।

यहाँ चक्रवर्ती का मित्र मणिकेतु देव फिर से राजा को समझाने के लिये आया। इस समय उसने नया उपाय सोचा। "उसने एक मोटे जहरीले साँप का रूप बनाया और कैलाशपर्वत पर जाकर उन सभी राजकुमारों को उसने डस कर बेहोश कर दिया, जिससे कोई समझे कि वे मर गये हैं– ऐसा दिखावा किया।

एक साथ 60 हजार राजकुमारों के मरण को देखकर राजमंत्री भी एकदम घबरा गये– राजमंत्री जानते थे कि महाराजा को पुत्रों से बहुत ही प्रेम है, उनके मरण का समाचार वे सहन नहीं कर सकते। उनमें भी एक साथ 60 हजार पुत्रों का मरण ! यह 'दुःखद समाचार' राजा को सुनाने की हिम्मत किसी की नहीं हुई।

उसीसमय, मणिकेतुदेव एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके सगर चक्रवर्ती के पास आया और अत्यन्त शोकपूर्वक कहने लगा–

"हे महाराज ! मेरा इकलौता जवान पुत्र मर गया है, यमराज ने उसका हरण कर लिया है, आप तो समस्त लोक के पालक हो, इसलिए मेरे पुत्र को वापिस लाकर दे दो, उसे जीवित कर दो, यदि तुम मेरे इकलौते पुत्र को जिंदा नहीं करोगे तो मेरा भी मरण हो जावेगा।"

ब्राह्मण की बात सुनकर राजा ने कहा– "अरे ब्राह्मण ! क्या तू यह नहीं जानता कि मृत्यु तो संसार के सभी जीवों को मारती ही है। एकमात्र सिद्ध भगवान ही मरण से रहित हैं, दूसरे सभी जीव मरण से सहित हैं। –इस बात को सभी जानते हैं कि जिसकी आयु समाप्त हो गयी, वह किसी भी प्रकार से जीवित नहीं रह सकता। सभी जीव अपनी-अपनी आयु प्रमाण ही जीते हैं, आयु पूरी होने पर उनका मरण होता ही है, इसलिए मरणरूप यमराज को यदि तुम जीतना चाहते हो तो शीघ्र ही सिद्धपद को साधो। इस जीर्ण-शीर्ण शरीर के या पुत्र के मरण का शोक छोड़कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्पर होकर जिनदीक्षा धारण करो। घर में पड़े रहकर बूढ़े होकर मरने के बदले दीक्षा लेकर मोक्ष का साधन करो।"

इसप्रकार सगर चक्रवर्ती ने वैराग्यप्रेरक उपदेश दिया। उससमय उस ब्राह्मण (मणिकेतु देव) ने कहा– "हे महाराज ! जो आप कहते हो वह बात यदि वास्तव में सत्य है तो मेरी भी एक बात सुनो, यदि यमराज से बलवान कोई नहीं है और मृत्यु से कोई बच नहीं सकता– ऐसा आप कहते हो तो मैं आपको एक गंभीर समाचार सुनाऊँ, उसे सुनकर आप भी भयभीत मत होना, आप भी संसार से वैराग्य लेकर मोक्ष की साधना में तत्पर होना; क्योंकि **कितने ही वचन हितरूप होने के साथ मधुर हो जाते हैं और कितने ही वचन हितरूप होने पर भी कटु हो जाते हैं, उसीप्रकार अहित वचनों में भी कितने मधुर और कितने ही कटु हो जाते हैं। वे दोनों प्रकार के अहित वचन तो छोड़ने योग्य ही हैं।**"

सगर चक्रवर्ती ने आश्चर्य से कहा– "अरे ब्राह्मण देव ! कहो, ऐसा क्या समाचार है ?"

ब्राह्मण रूपधारी मित्र ने कहा– ''हे राजन् ! सुनो, तुम्हारे 60 हजार पुत्र कैलाशपर्वत पर गये थे, वहाँ वे सब मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं। उनको भयंकर सर्प ने डस लिया है, एक भी नहीं बच सका......एक साथ 60 हजार पुत्रों को मारनेवाले दुष्ट यमराज को जीतने के लिए आपको भी मेरे समान मोह छोड़कर शीघ्र दीक्षा ले लेना चाहिये और मोक्ष का साधन करना चाहिये। इसलिए चलो......हम दोनों एकसाथ दीक्षा ले लेवें।''

ब्राह्मण के वज्रपात जैसे वचन सुनकर ही राजा का हृदय छिन्न-भिन्न हो गया और पुत्रों के मरण के आघात से वे बेहोश हो गये। जिन पर अत्यन्त स्नेह था – ऐसे 60 हजार राजकुमारों के एक साथ मरण होने की बात वे सुन न सके, सुनते ही उन्हें मूर्छा आ गयी; लेकिन वे चक्रवर्ती सम्राट आत्मज्ञानी थे......थोड़ी देर बाद बेहोशी समाप्त होने के बाद होश में आते ही उनकी आत्मा जाग उठी, उन्होंने विचार किया–

''अरे ! व्यर्थ का खेद किसलिए ? खेद करानेवाली यह राज्यलक्ष्मी या पुत्र-परिवार कुछ भी मेरे नहीं हैं, मेरी तो एक ज्ञानचेतना ही है। अब मुझे पुत्रों का अथवा किसी का भी मोह नहीं है। अरे रे ! अब तक मैं व्यर्थ ही मोह में फँसा रहा। मेरे देव-मित्र (मणिकेतु) ने आकर मुझे समझाया भी था, फिर भी मैं नहीं माना। अब तो पुत्रों का भी मोह छोड़कर मैं जिनदीक्षा ही अंगीकार करूँगा और अशरीरी सिद्धपद की साधना करूँगा।

'शरीर अपवित्र है और विषय-भोग क्षणभंगुर है' –ऐसा जानकर आदि तीर्थंकर ऋषभदेव तथा आदि-चक्रवर्ती सम्राट भरत विषय-भोगों के धाम गृह-परिवार को छोड़कर वन में चले गये और चैतन्य में लीन होकर मोक्ष प्राप्त किया। मैं भी अब उनके बताये मार्ग पर ही चलूँगा। मैं मोहान्ध बनकर अब तक विषयों में ही फँसा रहा। अब एक क्षण भी इस संसार में नहीं रहूँगा।''

इसप्रकार सगर चक्रवर्ती वैराग्य की भावना कर ही रहे थे कि वहाँ उनकी नगरी में महाभाग्य से दृढ़वर्मा नामक केवली प्रभु का आगमन हुआ। सगर चक्रवर्ती अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ उनके दर्शन करने गये और प्रभु के उपदेशामृत ग्रहण करके राजपाट छोड़कर जिनदीक्षा धारण की।

चक्रवर्ती पद छोड़कर अब चैतन्य के ध्यानरूपी धर्मचक्र से वे सुशोभित होने लगे, उन्हें मुनिदशा में देख कर उनका देवमित्र (मणिकेतु देव) अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

अपने मित्र को प्रतिबोध करने का कार्य पूरा हुआ जानकर वह देव अपने असली स्वरूप में प्रकट हुआ और सगर मुनिराज को नमस्कार करके कैलाशपर्वत पर गया। वहाँ जाकर उसने राजपुत्रों को सचेत किया और कहा– "हे राजपुत्रो ! तुम्हारी मृत्यु की बनावटी खबर सुनकर तुम्हारे पिता सगर महाराज संसार से वैराग्यपूर्वक दिगम्बर दीक्षा अंगीकार कर मुनि बन गये हैं, अत: मैं तुम्हें ले जाने के लिए आया हूँ।"

अहा, कैसा अद्भुत प्रसंग !! उन चरम शरीरी 60 हजार राजकुमार पिताश्री की वैराग्योत्पादक बात सुनकर एकदम उदासीन हो गये, अयोध्या के राजमहलों में वापस लौटने के लिए सभी ने इन्कार कर दिया और संसार से विरक्त होकर सभी राजकुमार श्री मुनिराज की शरण में गये, वहाँ धर्मोपदेश सुना और एकसाथ 60 हजार राजपुत्रों ने मुनिदीक्षा धारण कर ली। **वाह ! धन्य वे मुनिराज !! धन्य वे वैरागी राजकुमार !!!**

मणिकेतुदेव ने अपने वास्तविक स्वरूप में आकर सभी मुनि भगवन्तों को नमस्कार किया। तथा अपने मित्र के हित के लिए यह सब माया करनी पड़ी, इसके लिए क्षमा माँगी। मुनिराजों ने उसे सांत्वना दी और कहा– "अरे ! इसमें तुम्हारा क्या अपराध है ? **किसी भी प्रकार से जो धर्म में सहायता करे, वही परमहितैषी सच्चा मित्र है। तुमने तो हमारा परमहितरूप काम किया है।"**

जगत में जीवों को धर्म की प्रेरणा देनेवाले मित्र के समान हितकारी अन्य कोई नहीं है। " सच्चा मित्र तो वही होता है, जो धर्म की प्रेरणा दे।"

इसप्रकार मणिकेतुदेव का मित्र को मोक्षमार्ग की प्रेरणा देने का कार्य सिद्ध हुआ, साथ ही साथ 60 हजार राजकुमारों ने भी मुनिधर्म अंगीकार किया; अत: वह प्रसन्नचित्त से स्वर्ग में वापस चला गया। सगर-मुनिराज तथा 60 हजार (राजकुमार) मुनिराज – ये सब आत्मा के ज्ञान-ध्यानपूर्वक विहार करते हुए अन्त में सम्मेदशिखरजी पर आये और शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञान प्रकट करके मोक्षपद को प्राप्त किया। उन्हें हमारा नमस्कार हो।

44

अंगूठी के स्थान पर मणि स्वयं में जड़ ली

जिसने अपनी आत्मारूपी आभूषण में सम्यक् रत्नों को जड़कर सच्ची कला प्रकट की, ज्ञानकला प्रकट की – यह ऐसे महान कलाकार की कथा है।

कौशाम्बी नगरी में एक प्रसिद्ध कलाकार रहता था, उसका नाम अंगारक था, वह अत्यन्त कुशल कलाकार था, साथ ही साथ वह धर्म का प्रेमी और उदार भी था। कला के साथ इन दो गुणों के कारण उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये थे। उसका कार्य मुख्यतया आभूषणों में कीमती हीरे-माणिक-मोती जड़ना था और वह अपने इस कार्य में अत्यधिक दक्ष था। कीमती रत्नों से तो वह अपने जीवन को अनेक बार अलंकृत कर चुका था, परन्तु वह रत्नत्रय रूपी रत्नों से अपने आत्मा को अभी तक अलंकृत नहीं कर सका था।

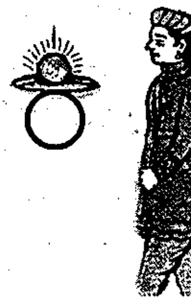

आज कलाकार का निवास स्थान पद्मरागमणि की रक्तप्रभा (लाल किरणों) से जगमगा रहा था। उस पद्ममणि के सामने नजर जमाकर वह विचार कर रहा था कि "इस कीमती मणि को आभूषण में किस प्रकार जड़ूँ, क्योंकि यह कोई साधारण रत्न नहीं है। यह तो कौशाम्बी के महाराज गंधर्वसेन के आभूषण में जड़ने के लिए आई महामूल्यवान पद्मरागमणि है। मेरी कला पर विश्वास करके महाराज ने यह काम मुझे सौंपा है। अत: आभूषण में वह इसप्रकार जड़ा जाये कि उसकी शोभा एकदम खिल उठे।" – इस विचार से कलाकार उस पद्ममणि को क्षण में आभूषण के इस तरफ, क्षण में उस तरफ और क्षण में बीच में जोड़कर देखता – इस प्रकार घुमाते-घुमाते बहुत परिश्रम के बाद जब उसके मनपसंद स्थान पर वह मणि शोभित हो गया, तब उसकी शोभा देखकर उसका मन हर्ष से गद्‌गद् हो गया।

वह सोचने लगा कि – "वाह ! मेरी कला का यह एक सर्वोत्तम नमूना बनेगा और महाराज भी इसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे।"

इसप्रकार संतोष की श्वाँस लेकर जब उसने अपना मस्तक ऊपर उठाया तो वह देखता है कि उसके घर की ओर एक नग्न दिगम्बर मुनिराज आ रहे हैं।

उन्हें देखकर उसे ऐसा लगा – "मानों उनकी आँखों से परम शान्त रस की वर्षा ही हो रही

हो....मानों उनकी भव्यमुद्रा पर वीतरागता छा गई हो....मानो उनके समस्त पाप गल गये हों....अहो ! उनके आत्मा की पवित्रता की क्या बात करना ? अरे, उनके तो चरणों से स्पर्शित धूल भी इतनी पवित्र है कि वह भी अपने स्पर्श मात्र से असाध्य रोगों को दूर कर दे। उनके दर्शन मात्र से मानवों का मन पवित्र हो जाता है और उनके हृदय का पाप धुल जाता है। इन रत्नत्रय धारक योगीराज के आत्मतेज के सामने इस पद्मरागमणि का तेज भी फीका लग रहा है।''

ऐसे चारणऋद्धिधारी महा मुनिराज गोचरीवृत्ति से आहारदान हेतु गमन कर रहे हैं....उन्हें देखकर अंगारक शीघ्र ही उनके समीप गया और उनके चरण-कमलों पर झुक गया....तथा अनायास ही उसके मुख से उद्‌गार निकलने लगे –

''अहो ! आज मेरे भाग्य खिल उठे....आज मैं कृतार्थ हो गया....हे प्रभु ! हे मुनिराज ! आपके चरण-कमलों की धूल से आज मैं पावन हो गया....मेरा घर भी पवित्र हो गया....मेरे भव-भव के पाप नष्ट हो गये। हे नाथ ! पधारो....पधारो....पधारो....।''

इसप्रकार मुनिराज का योग्य विधि से पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक अंगारक ने आहारदान दिया। आहारदान के समय मुनि-भक्ति में वह इतना तल्लीन था कि घर में इस बीच क्या घटना घट गई, उसे कुछ पता ही न चला। आहार के बाद महामुनिराज तो वापस वन में चले गये और आत्मध्यान में लीन हो गये। ऐसे महान पवित्रात्मा शुद्धोपयोगी, साधुशिरोमणि को आहार देने से आज अंगारक कृतार्थ हो गया था....उसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न था।

आहारदान के बाद वह कलाकार आभूषण में पद्मरागमणि को जोड़ने हेतु जब वापस आया तो देखता है कि अरे ! यह क्या हुआ ? पद्मरागमणि गुम ! नहीं....नहीं....ऐसा नहीं हो सकता। उसने पूरा घर छान मारा, परन्तु पद्मरागमणि नहीं मिला, अत: उसकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया....उसका दिमाग मानों चक्कर खाने लगा....अरे ! परन्तु इतनी-सी देर में यह पद्मरागमणि गया कहाँ ? क्या उसके पंख लग गये थे, जो वह उड़ गया ? क्या कोई उसे चोरी करके ले गया ? नहीं....यहाँ घर में मुनिराज के अलावा तो कोई आया ही नहीं....फिर यह मणि गया तो गया कहाँ ? उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि यह मणि एकाएक कहाँ गुम गया।

मणि के गुम हो जाने से अंगारक व्याकुल होकर घर में यहाँ-वहाँ घूमने लगा....कुछ समय पूर्व मणि के तेज से जगमगाते उसके घर में अब अंधकार छा गया था....उस समय उसे ऐसा लग रहा था, मानों मणि के चले जाने से उसकी अपनी प्रतिष्ठा भी चली गई हो – उसे चिन्ता हो रही थी कि अब महाराज को क्या जवाब दूँगा ? हे भगवान अब क्या होगा ? निराशा से घिरा हुआ

वह एकाएक क्रोध से लाल-पीला हो गया। बस, चाहे जो हो जाये; परन्तु वह मणि का पता लगाकर ही रहूँगा। तब उसके मन में ऐसा खोटा विचार आया –

"अरे ! अभी-अभी ज्ञानसागर मुनिराज को आहारदान देने के समय मणि को इस पेटी पर रखा था....और वे मुनिराज आहार करके वापस जाते हैं और मणि गुम जाता है। इस बीच उनके अलावा अन्य कोई व्यक्ति मेरे घर में आया ही नहीं....इसलिए....? इसलिए....हो न हो, जरूर मुनिराज का ही इसमें हाथ होना चाहिये ? बस ! निर्णय हो गया !!"

– यह विचार आते ही जिन योगीराज के प्रति एकक्षण पहले उसको अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा का अगाध दरिया उछल रहा था, अब उन्हीं मुनिराज के प्रति भयंकर क्रोध से अंगारक अंगारे के समान बन गया। "जरूर वे मुनिराज नहीं थे, बल्कि मुनि के वेष में कोई चोर होंगे....उस ढोंगी का ही यह काम लगता है।"

फिर भी अभी-अभी देखी उन वीतरागी मुनिराज की भव्यमुद्रा और हृदय में विद्यमान जैन धर्म के प्रति अतिशय भक्ति इन दोनों के कारण कलाकार के अन्तरंग से आवाज आई –

"अरे अंगारक ! यह क्या ? क्या तू पागल हो गया है ? जिन्होंने इन्द्रतुल्य वैभव को छोड़ दिया....और संसार को तृणतुल्य जानकर उसका त्याग कर दिया। जगत के पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि को छोड़कर जो बहुत आगे बढ़ गये हैं – क्या वे महामुनिराज तेरा पत्थर का टुकड़ा चुरायेंगे? सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र ऐसे विश्व वंद्य रत्नों से जिनका आत्मा शोभायमान है, क्या वे इस जड़ रत्न पर मोहित होंगे ? अरे, जिन्होंने स्वात्मा में स्थित चैतन्य मणि प्राप्त कर लिया है, वे इस अचेतन मणि का क्या करेंगे ?"

क्षणमात्र के लिए तो उसे यह विचार आया, परन्तु जब मणि का ध्यान आया तो फिर उसके चित्त में प्रश्न उठा – "यदि मुनिराज ने उसे नहीं चुराया तो वह गया कहाँ ?"

मणि के मोह में पागलवत् होकर उसने अन्त में यही निश्चय किया– "नहिं....नहिं....वे कोई मुनि नहीं, अपितु मायावी हैं और उनका ही यह काला काम है। इस ठग मायावी ने मंत्रादिक के प्रभाव से मणि चुराकर कहीं छिपा दिया होगा....परन्तु मुझसे बचकर वह कहाँ जायेगा ? मुनिवेष में रहकर ऐसे काम करता है – उसे तो मैं ऐसी शिक्षा दूँगा कि जिन्दगी भर याद रखेगा। चाहे जहाँ हो, मैं उसे पकड़कर लाऊँगा।" – ऐसा दृढ़ निश्चय करके वह क्रोध से अत्यन्त उत्तेजित होकर मुनि को खोजने के लिए उपवन की ओर तीव्र गति से दौड़ता हुआ चला गया।

उधर एकान्त शान्त उपवन में श्री ज्ञानसागर महाराज आत्मध्यान में निमग्न हैं। वे जगत के मायाजाल से बहुत दूर....संसार के विषय वातावरण से पार....और मानों परम शान्त अनन्त सुखमय सिद्ध भगवन्तों के एकदम पास रह रहे हैं....अनन्त सुखमय आत्मा के ध्यान में वे पूरे के पूरे एकाग्र होते जा रहे हैं। तभी क्रोध से आग-बबूला होता हुआ अंगारक हाथ में लाठी लेकर मुनिराज को ढूँढ़ने दौड़ता आया और ध्यानस्थ मुनिराज को दूर से देखते ही गरजा –

"अरे पाखण्डी ! जल्दी बोल !! बता, मेरा मणि कहाँ है ?"

परन्तु जवाब कौन देवे ? मुनिराज तो ध्यानस्थ थे। यद्यपि वे मुनिराज अवधिज्ञानी थे, तथापि स्वरूप से बाहर आकर अवधिज्ञान का जब उपयोग करें, तब बतावें न; लेकिन वे तो आत्मसाधना में लीन थे, उन्हें मौन देखकर अंगारक का क्रोध और भी अधिक बढ़ गया।

उसने कहा – "अरे धूर्त ! दिन-दहाड़े चोरी करके अब ढोंग करता है। तू यह मत समझना कि मैं तुझे ऐसे ही छोड़ दूँगा। जल्दी बता ! कहाँ है मेरा मणि ?"

परन्तु यहाँ वीतरागी मुनिराज की क्षमारूपी ढाल के सामने क्रूरवचन रूपी बाण कोई असर नहीं कर सके....मुनिराज तो अडिग ध्यानस्थ ही थे।

जब अंगारक ने देखा कि उसके क्रूर वचनों का भी मुनिराज पर कोई असर नहीं हो रहा है तो उसने सोचा कि जरूर इन्होंने ही मेरा मणि कहीं छिपा दिया है....इसीलिये तो मौन हैं।

बोल ! सीधे-सीधे मेरा मणि देता है या नहीं ?....या....लाठी दिखाते हुए बोला– "इसका स्वाद चखाऊँ"।

अरे ! कुछ समय पूर्व ही जिनके पावन चरणों में जो श्रद्धापूर्वक अपना सिर झुका रहा था, उनके ही सिर पर अब वह प्रहार करने को तैयार हो गया....हाय ! जीव के परिणामों की कितनी विचित्रता है। भावों का कैसा परिवर्तन ?

मुनिराज नहीं बोले तो नहीं ही बोले। ध्यान से नहीं डिगे तो नहीं ही डिगे। परन्तु वहाँ कुछ अलग ही चमत्कार हो गया। क्या चमत्कार हुआ ? चमत्कार यह हुआ कि दूर डाल पर बैठा मोर जोर से चीखा और उसके कण्ठ में से कोई चमकीली-सी वस्तु जमीन पर गिर ढुलकती हुई मुनिराज तथा अंगारक के बीचों-बीच आकर स्थिर हो गई। अरे ! यह क्या ? यह तो वही पद्मरागमणि है। उसी के लाल-लाल प्रकाश से पृथ्वी जगमगाने लगी है....मानों मुनिराज के चरणों में आकर वह भी खुशी से हँस रही हो।

अंगारक तो इस मणि को देखकर आश्चर्य चकित ही रह गया...उसकी आँखों के सामने फिर से अंधेरा छा गया....लकड़ी हाथ में ही रह गई....और धड़ाम से वह मुनिराज के चरणों में गिर पड़ा। पद्मरागमणि के गुम हो जाने का रहस्य अब उसके चित्त में एकदम स्पष्ट हो गया था और अब वह अपने अविचारी कृत्य के कारण पश्चाताप के सागर में अचेत पड़ा था....; परन्तु ध्यानस्थ मुनिराज को तो बाहर क्या हो रहा है ? इसकी खबर ही कहाँ थी ?

श्रीमुनिराज ने णमो सिद्धाणं कहकर जब ध्यान पूरा किया और आँखें खोलीं....तब देखा कि कुछ समय पूर्व (आहारदान के समय) का यह अंगारक यहाँ चरणों में पश्चाताप के कारण सिसक....सिसक कर रो रहा है....एक तरफ पद्ममणि धूल में धूल-धूसरित पड़ा है....श्री मुनिराज को सारी परिस्थिति समझते देर नहीं लगी....उन्होंने अंगारक को आश्वासन देते हुए महा करुणार्द्र होकर कहा –

"वत्स अंगारक ! दुःखी मत हो। सोच-विचार छोड़ दे। इज्जत और लक्ष्मी का मोह ऐसा ही है, जो जीव को अविचारी बना देता है। वत्स अंगारक ! जो होना था, सो हो गया....अब शोक करना छोड़ दे और....अपना आत्महित साधने के लिए तत्पर हो।"

पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए अंगारक के हृदय में मुनिराज के वचनों ने अमृत का सिंचन किया....उसने हाथ जोड़कर मुनिराज से निवेदन किया –

"प्रभु ! मुझे क्षमा करो। मोह से अंधा होकर मैंने अत्यन्त घृणित कार्य किया है....क्रोध से मैं अविचारी बन गया था....प्रभु ! मुझे क्षमा करके इस भयंकर पाप से मेरा उद्धार करो। हे नाथ! आपश्री के आहार दान के समय मैंने इस मणि को पेटी के ऊपर ही रख छोड़ा था और उसी समय ऊपर बैठा यह मोर भी हमारे घर में घुस गया था और उस चमकती मणि को खाने की वस्तु समझकर गटक गया था....परन्तु वह मणि भाग्यवश उसके गले में ही अटक गयी....लेकिन मैंने बिना देखे....बिना विचारे आप पर शंका की....आप पर प्रहार करने के लिए लकड़ी उठाई....

परन्तु प्रभु ! सद्भाग्य से...." – यह सब बोलते-बोलते पश्चाताप का भाव होने से अंगारक के पाप मानों पानी-पानी होकर आँखों में से अश्रुधारा के रूप में बाहर निकल गये। थोड़ी देर तक चुप बैठकर उसने पुनः श्री मुनिराज से कहा – "प्रभो ! हे प्रभो !! आपके अमृतमयी वचनों से आज मैंने नया जीवन प्राप्त किया है। नाथ ! इस पापमय संसार से अब मेरा उद्धार करो...बस, अभी मुझे निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा प्रदान करो....और मेरा कल्याण करो।"

तब श्रीमुनिराज ने कहा – "हे बन्धु ! तेरा भाव उत्तम है....परन्तु उसके पहले इस पद्ममणि को ले जाकर राजा को वापस करके आओ।"

"प्रभु ! इस पद्ममणि को छूने में भी अब मेरा हाथ काँपता है।"

"वत्स ! ऐसा समझ कि इस मणि के निमित्त से ही आज तेरे भावों में यह महान परिवर्तन हुआ है।" अंगारक ने काँपते हाथों से मणि उठाया....और मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके, राजदरबार की तरफ चला गया। "लीजिये महाराज ! आपका यह पद्मरागमणि !!"

अंगारक ने काँपते हाथों से मणि महाराज को सौंप दिया। मणि को जैसा का तैसा वापिस पाकर महाराजा ने विस्मय से पूछा – "क्यों कलाकार ! इस मणि को वापिस क्यों कर रहे हो ?"

"राजन् ! इस मणि को आभूषण में जड़ने का काम मुझसे नहीं हो सकता।"

"अरे ! क्या कहते हो अंगारक ! तुम्हारे जैसा कुशल कलाकार, यदि यह काम नहीं कर सकता है, तो अन्य कौन कर सकेगा ?"

"राजन् ! ऐसे मणि-रत्नों को जड़-जड़कर अनेक आभूषणों को तो मैंने शोभा दिलाई....और इसी में सारी जिंदगी समाप्त कर दी....परन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों से मैंने अपनी आत्मा को आज तक आभूषित नहीं किया....महाराज ! अब तो मुझे अपने जीवन में इन रत्नों को जड़कर उनसे आत्मा की शोभा बढ़ाना है।"

"कलाकार को अचानक यह क्या हो गया ?" – यह जब राजा को समझ में नहीं आया....तब राजा ने अंगारक से पूछा –

"लेकिन कलाकार ! आखिर ऐसी कौनसी बात हो गयी ? – यह तो बताओ ?"

तब अंगारक बोला – "राजन् ! आपके इस मणि के निमित्त से आज एक ऐसी घटना घट गई है कि जिसका वृत्तान्त कहना मेरे लिए सम्भव नहीं है, परन्तु इतना अवश्य है कि इस मणि

को आभूषण में जड़ने से मुझे जो पुरस्कार आपसे मिलता, उससे भी महा विशेष अनन्त पुरस्कार आज मुझे मिल गये हैं। राजन् ! अब मैं रत्नत्रय मणि से अपने आत्मा को आभूषित करने को जा रहा हूँ....।'' राजा ने कहा – ''परन्तु मेरे इस एक मणि को जड़ने का काम तो पूरा कर दो....।''

''नहीं राजन् ! अब यह अंगारक पहले जैसा कलाकार नहीं रहा, अब तो वह अपने आत्मा में ही सम्यक्त्व आदि मणि जड़ने के लिये जा रहा है....।'' – ऐसा कहकर अंगारक राजभवन से उपवन की ओर बड़ी तेजी से दौड़ता हुआ चला गया।

राजा तो दिग्भ्रमित होकर बाहर की तरफ देखते ही रह गये। बहुत विचार करने पर भी इस घटना के रहस्य को वे सुलझा नहीं सके।

दूसरे दिन, जब नगरी के धर्मप्रेमी महिला-पुरुष श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज के दर्शन करने आये....तब उनके साथ एक और नये महाराज को देखकर नगरजन विस्मित हो गये....और सबने भक्ति से उनके चरणों में भी अपना सिर झुकाया; परन्तु अरे ! यह तो हमारा सोनी... कलाकार अंगारक है ! अपनी नगरी के ही एक नागरिक को इस प्रकार मुनिदशा में देखकर सबको महान आश्चर्य हुआ....और शीघ्र ही यह बात सारी नगरी में बिजली की तरह फैल गई।

राजा को भी जब यह खबर लगी तो वे भी शीघ्रता से वहाँ पहुँच गये....और मुनिराज को वन्दना आदि करके उन्होंने अति विनय पूर्वक श्री मुनिवर से पूछा – ''प्रभो ! कल का कलाकार आज अचानक अध्यात्मयोगी बन गया है – इसमें क्या रहस्य है ? यह सब जानने के लिए हम अत्यन्त आतुर हो रहे हैं।''

श्री ज्ञानसागर मुनिराज ने मणि के गुमने और मिलने की कहानी विस्तार के साथ बताकर इस रहस्य का उद्घाटन किया और कहा – ''राजन् ! अब उसने अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी तीन रत्नों को जड़ लिया है – इन तीनों चैतन्य मणियों के प्रकाश से उसका आत्मा जगमगा रहा है और उसका मोहांधकार नष्ट हो गया है। अब वह जड़-पत्थरों का कलाकार न होकर चैतन्य मणियों का कलाकार बन गया है।''

कलाकार की रोमांचक कथा सुनकर राजा और प्रजा अत्यन्त विस्मित और हर्षित हुए .... सबने एक स्वर में कहा – ''रत्नत्रय कलाकार की.... जय''.... ''अंगारक कलाकार की .... जय''....। श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज की जय''.... इत्यादि प्रकार से सभी ने जय-जयकार करके आकाश गुँजायमान कर दिया....।

तत्पश्चात् राजा ने उसी पद्मरागमणि के द्वारा अंगारक मुनि के चरणों की पूजा-अर्चना की....कलाकार ने जिस मणि को वापस कर दिया था, वही मणि फिर से उनके ही चरणों को जगमगा रहा था।

यह अत्यन्त आनन्द का दृश्य देखकर मोर भी आनन्द की टंकार लगाने लगा और आनन्द से अपने पंखों को फैलाकर नाचने लगा।

धन्य हैं ऐसे अंगारक मुनिराज धन्य हैं; उनकी सदा जय हो।

प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके; (यहाँ तक तो सविकल्प दशा है) पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए अर्थात् अनुभव के लिए परपदार्थ की प्रसिद्धि की कारण जो इन्द्रिय व मन द्वारा प्रवर्तती हुई बुद्धियाँ – इनको मर्यादा में लाकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया, तथा अनेक प्रकार के नयपक्ष के विकल्पों द्वारा आकुलता की उत्पादक ऐसी श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसम्मुख किया।

इस रीति से मति-श्रुतज्ञान को पर की ओर से समेटकर आत्मस्वभाव में लाने से तत्क्षण ही अत्यन्त विकल्परहित होकर, यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है; इसमें आत्मा सम्यक्पने से दिखता है व जानने में आता है।

अत: यही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। इस अनुभव को ''**पक्षातिक्रान्त**'' कहा है; क्योंकि इसमें नय पक्ष के कोई विकल्प नहीं रहते। ऐसा अनुभव करे, तब ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है। **– समयसार गाथा 144 की आत्मख्याति टीका से साभार**

45

द्वारिका कैसे जली ?

(जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे !)

द्वारिका नगरी भले ही जल गयी हो, परन्तु धर्मात्मा की शान्त पर्याय नहीं जली थी। वह तो अग्नि से तथा शरीर से भी अलिप्त चैतन्य रस में लीन थी।

एकबार श्री नेमिनाथ भगवान का समवसरण जब गिरनार पर्वत पर आया, तब श्रीकृष्ण, बलभद्र आदि उनके दर्शन करने के लिए गये। उस समय प्रभु की दिव्यध्वनि में वीतरागी उपदेश सुनने के बाद, बलभद्र ने विनय से पूछा –

"हे देव ! आपके पुण्योदय से द्वारिकापुरी कुबेर ने रची है। जो वस्तु कृत्रिम होती है, उसका नाश होता ही है, परन्तु यह अद्‌भुत वैभवयुक्त द्वारिका नगरी कितने वर्ष तक और रहेगी ? तथा जिससे मुझे तीव्र स्नेह है – ऐसे इस मेरे भाई श्रीकृष्ण वासुदेव के परलोक गमन का क्या कारण होगा ? महापुरुषों का शरीर भी कोई स्थिर तो रहता नहीं है तथा मुझे जगत सम्बन्धी अन्य पदार्थों का ममत्व तो कम है, फिर भी मैं भाई श्रीकृष्ण के तीव्र स्नेह-बंधन से क्यों बँधा हुआ हूँ।"

तब तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ प्रभु की दिव्यध्वनि में आया – "आज से बारह वर्ष बाद शराब के नशे की उन्मत्तता से यादवकुमार द्वीपायन मुनि को क्रोध उत्पन्न करायेंगे और वे द्वीपायन मुनि (बलभद्र के मामा) क्रोध के द्वारा इस नगरी को भस्म करेंगे तथा महाभाग्यवान श्रीकृष्ण जब कौशाम्बी के वन में सो रहे होंगे, तब उसी समय उनके ही भाई जरतकुमार के बाण से परलोक सिधारेंगे। उसके छह माह पश्चात् सिद्धार्थ देव के सम्बोधन से तुम (बलभद्र) संसार से विरक्त होकर संयमदशा को धारण करोगे।

जन्म-मरण के दुख का कारण तो राग-द्वेष का भाव है और जिस समय पुण्य का प्रताप क्षय को प्राप्त होता है, उसी समय बाहर में कोई न कोई निमित्त मिल जाता है। वस्तु स्वभाव को जाननेवाले वैरागी जीव पुण्य-प्रसंगों में हर्ष नहीं करते और उनके नाश होने पर विषाद नहीं करते। वासुदेव के वियोग से तुम (बलभद्र) प्रथम तो बहुत दुखी होओगे, लेकिन फिर प्रतिबुद्ध होकर भगवती दीक्षा धारण कर पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग में जाओगे। वहाँ से नरभव प्राप्त कर निरंजन सिद्ध होओगे, मोक्ष प्राप्त करोगे। श्रीकृष्ण भी भविष्य में मोक्ष प्राप्त करेंगे।"

प्रभु की यह बात सुनकर द्वीपायन तो तुरन्त दीक्षा धारण करके द्वारिका से दूर-सुदूर विहार कर गये। द्वीपायन मुनि ने सोचा कि विहार करने से, मेरे निमित्त से होने वाला द्वारिका का विनाश रुक जायेगा। लेकिन अरे रे ! भगवान के ज्ञान में जो झलका हुआ है, उसे कौन बदल सकता है? इसी प्रकार मेरे बाण से श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी – ऐसा सुनकर जरतकुमार भी बहुत दुखी हुआ और कुटुम्ब को छोड़कर दूर ऐसे वन में चला गया कि जहाँ श्रीकृष्ण दिखाई भी नहीं दें। श्रीकृष्ण से स्नेह के कारण वह जरतकुमार बहुत व्याकुल हो गया; क्योंकि श्रीकृष्ण उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय थे। अतः वे दूर वन में वनचर की भाँति रहने लगे, जिससे अपने हाथ से श्रीकृष्ण की मृत्यु न हो; लेकिन अरे ! प्रभु की वाणी मिथ्या कैसे हो सकती है ? उन्होंने तो वही बताया है, जो उनके ज्ञान में झलका है।

बलभद्र, श्रीकृष्ण आदि सभी यादव द्वारिका की होनहार सुनकर चिंता से दुखित-हृदय द्वारिका आये। द्वारिका तो जैनधर्मियों की नगरी, दया धर्म से भरी हुई, वहाँ माँस-मद्य कैसा ? जहाँ नेमिकुमार रहे हैं और जहाँ बलदेव-वासुदेव का राज्य हो, वहाँ माँस और शराब की बात कैसी ? परन्तु कर्मभूमि होने से कोई पापी जीव गुप्तरूप से कभी मद्यादि का सेवन करता हो – ऐसा विचार कर वासुदेव ने द्वारिका नगरी में घोषणा कर दी कि कोई अपने घर में मद्यपान की सामग्री नहीं रखेगा, जिसके पास हो वह शीघ्र नगर के बाहर फेंक दे। ऐसा सुनकर जिसके पास मद्य-सामग्री थी, उन्होंने कदंब वन में उसे फेंक दी और वहाँ वह सूखने लगी।

फिर श्रीकृष्ण ने द्वारिका के सभी नर-नारियों से वैराग्यपूर्ण घोषणा की, नगरी में ढ़िंढ़ोरा पिटवाया कि मेरे माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, स्त्री और नगर के लोग, जिसे वैराग्य धारण करना हो, वे शीघ्र ही जिनदीक्षा लेकर आत्मकल्याण कर लें। मैं किसी को नहीं रोकूँगा। मैं स्वयं तो व्रत नहीं ले पा रहा हूँ, लेकिन द्वारिका नगरी जलने से पहले जिन्हें अपना कल्याण करना हो, वे कर लें, उन्हें मेरी अनुमोदना है। श्रीकृष्ण को जिनवचनों में परमश्रद्धा थी, उन्होंने अपने प्रभु के चरणों में विशुद्ध धर्मभावना के भाव से तीर्थंकर प्रकृति बाँधी और धर्मात्मा जीवों की साधना में महान अनुमोदना की।

श्रीकृष्ण की धर्म घोषणा सुनकर उनका पुत्र प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार आदि जो कि चरम शरीरी थे, उन्होंने तो जिनदीक्षा ले ही ली थी। सत्यभामा, रुक्मणी, जांबुवती आदि आठ-पटरानियों और दूसरी हजारों रानियों ने भी नेमिप्रभु के समवसरण में जाकर आर्यिका राजमती के संघ में दीक्षा ली। द्वारिका नगरी की प्रजा में से बहुत पुरुष मुनि हुए। बहुत स्त्रियाँ आर्यिका हुईं।

श्रीकृष्ण ने सभी को प्रेरणा देते हुए ऐसा कहा – "संसार के समान कोई समुद्र नहीं, इसलिए संसार को असार जानकर नेमिप्रभु के बताये हुए मोक्षमार्ग की शरण लो। हमारा तो इस भव में संयम का योग नहीं है और बलदेव भी मेरे प्रति मोह के कारण मुनिव्रत नहीं ले पा रहे हैं। मेरे वियोग के बाद वे मुनिव्रत धारण करेंगे। बाकी मेरे सभी भाइयो, यादवो, हमारे वंश के सभी राजाओ, कुटुम्बीजनो और धर्मप्रेमी प्रजाजनो, सभी इस क्षणभंगुर संसार का संबंध छोड़कर शीघ्र जिनराज के धर्म की आराधना करो, मुनि तथा श्रावक के व्रत धारण करो और कषाय अग्नि से जलते हुए इस संसार में से बाहर निकल जाओ।"

श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर बहुत जीव वैरागी होकर व्रत धारण करने लगे। अनेक मुनि हुए, अनेक श्रावक हुए। सिद्धार्थ जो बलदेव का सारथी था, उसने भी वैराग्यमयी मुनिधर्म प्राप्त करने के लिए बलदेव के पास दीक्षा के लिए आज्ञा माँगी। उसी समय बलदेव ने आज्ञा देते हुए कहा–

"श्रीकृष्ण के वियोग में जब मुझे संताप उपजेगा, तब तुम मुझे सम्बोधन कर वैराग्य प्राप्त कराना।"

सिद्धार्थ ने उस बात को स्वीकार कर जिनदीक्षा ले ली। द्वारिका के दूसरे अनेक लोग भी बारह वर्ष के लिए नगरी छोड़कर वन में चले गये और वहाँ व्रत-उपवास, दान-पूजादि में तत्पर हुए, परन्तु वे सभी बारह वर्ष की गिनती भूल गये और बारह वर्ष पूरे होने से पहले ही (बारह वर्ष बीत गये – ऐसा समझकर) द्वारिका नगरी में फिर आकर बस गये। रे होनहार !

इधर द्वीपायन मुनि, जो विदेश में विहार कर गये थे। वे भी भूलकर और भ्रान्ति से "बारह वर्ष पूरे हो गये" – ऐसा समझकर द्वारिका की ओर आये। वे मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी भी सर्वज्ञ की श्रद्धा से भ्रष्ट होकर मन में यह विचार करने लगे कि बारह वर्ष तो बीत गये। मुझे भगवान ने जो भवितव्य बताया था, वह टल गया। ऐसा विचार कर उन्होंने द्वारिका के कदंबवन के पास आतापन योग धारण किया। अरे ! जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे....।

भवितव्य के योग से बराबर उसी समय अनेक यादवकुमार वनक्रीड़ा करने के लिए आये थे। वे थक गये थे और उन्हें बहुत प्यास लगी थी, जिससे उन्होंने कदंबवन के कुण्ड में से पानी निकाल कर पी लिया। पहले यादवों ने जो मदिरा नगर के बाहर फेंक दी थी, वह पानी के साथ होती हुई इस कुंड में जमा हो गई थी तथा उसमें बहुत से फल गिरे थे, सूर्य की गर्मी के कारण सारा पानी मदिरा के समान ही हो गया था। प्यास से यादवकुमारों ने वह पानी पिया और बस, कदंबवन

की उस कादम्बरी (मदिरा) को पीने से उन यादव कुमारों को नशा चढ़ा, वे उन्मत होकर कुछ भी उल्टा-सीधा बकने लगे और ऊटपटांग नाचने लगे। इसी समय उन्होंने द्वीपायन को देखा। देखते ही कहा – "अरे ! यह तो द्वीपायन है, इसके द्वारा ही तो द्वारिका नगरी का नाश होना था, तब तो ये यहाँ से भाग गया था, परन्तु अब वह हमसे बचकर कहाँ जायेगा ? – ऐसा कहकर वे कुमार निर्दयतापूर्वक द्वीपायन मुनि को पत्थर मारने लगे।"

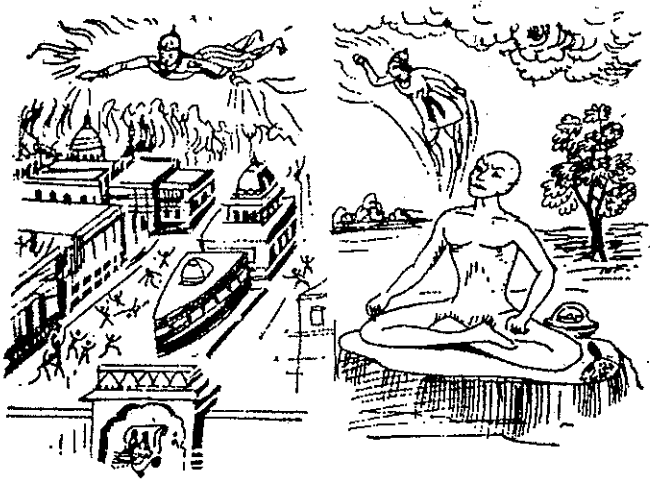

उन्होंने उन्हें इतना मारा कि वे जमीन पर गिर पड़े। उस समय उन द्वीपायन मुनि को बहुत क्रोध आया। अरे, होनहार ! क्रोध से होंठ भींचकर उन्होंने आँखें चढ़ाई और यादवों के नाश के लिए कटिबद्ध हुए। यादव कुमार भय के कारण दौड़ने लगे। दौड़ते-दौड़ते द्वारिका नगरी में आये और पूरी नगरी में हलचल मच गयी।

बलदेव और श्रीकृष्ण यह बात सुनते ही मुनि को शान्त करने के लिए दौड़े। जिनके सामने नजर मिलाना भी मुश्किल था तथा जिन्होंने सारी द्वारिका के प्राण मानों कण्ठगत किये हों, ऐसे क्रोधाग्नि से प्रज्ज्वलित भयंकर द्वीपायन ऋषि के प्रति भी श्रीकृष्ण-बलदेव ने हाथ जोड़कर नमस्कार करके नगरी का अभयदान माँगा –

"हे साधु ! रक्षा करो !! क्रोध को शान्त करो !!! तप का मूल क्षमा है, इसलिए क्रोध तजकर इस नगरी की रक्षा करो। क्रोध तो मोक्ष के साधन रूप तप को क्षणमात्र में जला सकता है, इसलिए क्रोध को जीत कर क्षमा करो। हे साधु ! बालकों की अविवेकी चेष्टा के लिए हमें क्षमा करो और हमारे ऊपर प्रसन्न होओ" –

इसप्रकार श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भाइयों ने प्रार्थना की, परन्तु क्रोधी द्वीपायन ने तो द्वारिका नगरी को जला डालने का निश्चय कर ही लिया था, दो अंगुली ऊँची करके उन्होंने यह सूचना दी कि – "मात्र तुम दोनों भाई ही बचोगे, दूसरा कोई नहीं।"

उस समय दोनों भाई जान गये कि बस, अब द्वारिका में सभी के नाश का काल आ गया है।

दोनों भाई खेदखिन्न होकर द्वारिका आ गये और अब क्या करें इसकी चिन्ता करने लगे। उधर मिथ्यादृष्टि द्वीपायन भयंकर क्रोधरूप अग्नि के द्वारा द्वारिकापुरी को भस्म करने लगे। देवों के द्वारा रची द्वारिका नगरी एकाएक भड़भड़ जलने लगी। मेरे निर्दोष होने पर भी मुझे इन लोगों ने मारा, इसलिए अब मैं इन पापियों सहित पूरी नगरी को ही भस्म कर डालूँगा। ऐसे आर्त्तध्यान सहित तेजस लेश्या से उस नगर को जलाने लगे। नगरी में चारों ओर उत्पात मच गया। घर-घर में सभी को भय के मारे अत्यन्त विषाद होने लगा।

पिछली रात में नगरी में लोगों ने भयंकर सपने भी देखे थे। उधर क्रोधी द्वीपायन, मनुष्यों और पशुओं से भरी उस द्वारिका नगरी को जलाने लगे। अग्नि में अनेक प्राणी जलने लगे। तब वे जले प्राणी अत्यन्त करुण विलाप करने लगे....कोई हमें बचाओ रे बचाओ ! ऐसा करुण चीत्कार श्रीकृष्ण की नगरी में कभी नहीं हुआ। बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, पशु और पक्षी सभी अग्नि में जलने लगे.... देवों के द्वारा रची द्वारिका नगरी छह मास तक आग में जलती रही और सर्वथा नष्ट हो गयी। विशेष बात यह है कि द्वीपायन मुनि अपनी जलाई अग्नि में स्वयं भी भस्मीभूत हो गये थे।

यहाँ कोई प्रश्न करे – "अरे ! यह महान वैभवशाली द्वारिका नगरी, जिसकी देवों ने रचना की थी तथा जिसकी अनेक देव सहायता करते थे, वे सभी देव अब कहाँ गये थे ? किसी ने द्वारिका को क्यों नहीं बचाया ? बलदेव-वासुदेव का पुण्य भी कहाँ गया ?

उसका समाधान – हे भाई ! सर्वज्ञ भगवान के द्वारा देखी हुई भवितव्यता दुर्निवार है। जिस समय यह होनहार हुई, उस समय देव भी दूर चले गये थे। जब भवितव्य ही ऐसा था तो वहाँ देव क्या कर सकते थे ? "यदि देव नहीं जाते और नगरी की रक्षा करते, तब वह नहीं जलती ? ऐसे मिथ्या विचार कर्तृत्व के अहंकार से पुष्ट अज्ञानी प्राणी को ही आते हैं और जब उनके विचारानुसार कार्य नहीं होता, तब अत्यन्त दुखी होकर संसार सागर में ही डूब जाते हैं। परन्तु जिन्हें सर्वज्ञ की वाणी पर श्रद्धा है – ऐसे ज्ञानी पुरुष तो घटित घटना के ज्ञाता-दृष्टा रहकर सदा सुख सागर में ही निमग्न रहते हैं। अरे ! जब नगरी जलने का समय आया तब देव चले गये, क्योंकि पुण्यसंयोग किसी का कायम नहीं रहता, वह तो अस्थिर व क्षणिक होता है।

द्वारिका नगरी के जलने से प्रजाजन अत्यन्त भयभीत होकर बलदेव-वासुदेव की शरण में आये और अतिशय व्याकुलता से पुकारने लगे –

"हे नाथ ! हे श्रीकृष्ण ! हमारी रक्षा करो; इस घोर अग्नि से हमें बचाओ।"

अपनी आँखों के सामने भड़कती हुई अग्नि को द्वारिका नगरी में देखकर दोनों भाई एकदम आकुल-व्याकुल हो गये। जबकि दोनों भाई आत्मज्ञानी थे – यह जानते हुए भी कि द्वारिका के इन सब परद्रव्यों में से कोई भी हमारा नहीं है। इन सबसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा हमारा है, तब भी मोहवश दोनों व्याकुल होकर बोलने लगे – "अरे ! हमारे महल और रानियाँ जल रही हैं, परिवार और प्रजाजन जल रहे हैं, कोई तो बचाओ ! कोई देव तो सहायता करने आओ !"

परन्तु सर्वज्ञदेव द्वारा देखी हुई भवितव्यता के सामने और द्वीपायन ऋषि के क्रोध के सामने देव भी क्या करेंगे ? आयु पूर्ण होने पर इन्द्र-नरेन्द्र-जिनेन्द्र कोई भी जीव को नहीं बचा सकते। तब तो एक मात्र अपनी आत्मा ही शरण है।

जब कोई उपाय नहीं सूझा, तब श्रीकृष्ण और बलदेव नगरी का किला तोड़कर नदी के पानी से आग बुझाने लगे, परन्तु रे देव ! यह पानी भी तेल के समान होने लगा और उसके द्वारा आग और बढ़ने लगी। उस समय आग को रोकना अशक्य जानकर दोनों भाई माता-पिता को नगर के बाहर निकालने के लिए उघमी हुए। रथ में माता-पिता को बैठाकर घोड़ा जोता; परन्तु वह नहीं चला, हाथी जोते परन्तु फिर भी रथ नहीं चला। रथ का पहिया पृथ्वी में धंस गया.... अन्त में "हाथी-घोड़े से रथ नहीं चला" – ऐसा देखकर वे श्रीकृष्ण और बलभद्र दोनों भाई स्वयं रथ में जुते और उसे खींचने लगे.... परन्तु रथ नहीं चला सो वह नहीं ही चला.... वह तो वहीं का वहीं रुका रहा। जिस समय बलदेव जोर लगाकर रथ को दरवाजे के पास तक लाये.... उसी समय नगरी का दरवाजा अपने आप बंद हो गया। दोनों भाइयों ने लकड़ी मार-मार कर दरवाजा तोड़ने की कोशिश की, तब आकाश से देव वाणी हुई – "मात्र तुम दोनों भाई ही द्वारिका में से जीवित निकल सकते हो, तीसरा कोई नहीं। माता-पिता को भी तुम नहीं बचा सकते।"

उस समय उनके माता-पिता ने गद्गद् भाव से कहा – "हे पुत्रो ! तुम शीघ्र चले जाओ, हमारा तो मरण निश्चित है। यहाँ से अब एक कदम भी चल नहीं सकते। इसलिए तुम जो ...... यदुवंश के तिलक हो। तुम जीवित रहोगे तो सब जीवित रहेंगे। दोनों भाई अत्यन्त हताश हुए और माता-पिता के पैर छूकर, रोते-रोते उनकी आज्ञा लेकर वे नगर के बाहर चले गये। अरे ! तीन खण्ड के अधिपति भी अपने माता-पिता को न बचा सके। श्रीकृष्ण और बलभद्र ने बाहर आकर देखा कि देवोपुनीत सुवर्णरत्नमयी द्वारिका नगरी भड़भड़ जल रही है। घर-घर में आग लगी है, राजमहल भस्म हो गया है।

उधर द्वारिका नगरी में उनके पिता वसुदेव आदि अनेक यादव और उनकी रानियाँ प्रायोपगमन

संन्यास धारण करके देव लोक में गये। बलदेव के कितने ही पुत्र जो तद्भव मोक्षगमी थे तथा संयम धारण करने का जिनका भाव था, उनको तो वे श्री तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान के पास ले गये। अनेक यादव और उनकी रानियों ने जो धर्मध्यान की धारक थे और जिनका अन्त:करण सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध था प्रायोपगमन-संन्यास धारण कर लिया। अत: अग्नि का घोर उपसर्ग भी आर्त-रौद्र ध्यान का कारण नहीं बना, धर्मध्यान पूर्वक देह छोड़कर वे स्वर्ग में गये।

उस समय दोनों भाई एक-दूसरे के गले मिलकर रोने लगे....और दक्षिण देश की ओर चले गये। अरे, देखो इस पुण्य-संयोग की दशा ! देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और प्राकृतिक ये चार प्रकार के उपसर्ग मिथ्यादृष्टि जीव को आर्त्त-रौद्र ध्यान के कारण होते हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव को ये उपसर्गादिक भी खोटे भाव के कारण नहीं होते। जो सच्चे जिनधर्मी हैं, वे मरण को प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु कायर नहीं होते। किसी भी प्रकार मरण आवे तो भी धर्म की ही दृढ़ता रहती है। अज्ञानी को मरते समय क्लेश होता है, जिससे कुमरण करके वह कुगति में जाता है और जो जीव सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध है, जिनका परिणाम उज्ज्वल है, वे जीव समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग में जाते हैं और परम्परा मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

जो जिनधर्मी हैं, उन्हें ऐसी भावना है कि यह संसार अनित्य है, इसमें जो उत्पन्न हुआ है, वह जरूर ही मरेगा। इसलिए हमें अखण्ड बोधसहित समाधिमरण प्राप्त हो। उपसर्ग आने पर भी हमें कायर नहीं बनना चाहिए। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को हमेशा समाधि की ही भावना रहती है। धन्य है उन जीवों को जो कि अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला के बीच देह भस्म होने पर भी जिन्होंने समाधि नहीं छोड़ी। शरीर के छूटने पर भी समता को नहीं छोड़ा। अहो ! सत्पुरुषों का जीवन निज-पर के कल्याण के लिए ही है। मरण को प्राप्त होने पर भी वे किसी के प्रति द्वेष नहीं विचारते, क्षमा भाव सहित देह छोड़ते हैं। यह जैन संतों की रीति है।

अरे द्वीपायन ! जिनवचन की श्रद्धा छोड़कर तुमने अपना तप भी बिगाड़ा। तुमने अपना घात

किया और अनेक जीवों का भी प्रलय किया। दुष्ट भाव को लेकर तुम स्व-पर को दुखदायी हुए। जो पापी परजीवों का घात करता है, वह भव-भव में अपना घात करता है।

जीव जब कषायों के वश हुआ तब वह अपना घात तो कर ही चुका, फिर दूसरे जीवों का घात तो हो या न भी हो, वह उसके कर्माधीन भाग्याधीन है; परन्तु जब जीव ने परजीव के घात का विचार किया, तब उसे जीव हिंसा का पाप तो लग ही चुका और वह आत्मघाती भी हो ही गया। दूसरे को मारने का भाव करना, धधकता लोहे का टुकड़ा दूसरे को मारने के लिए हाथ में लेने जैसा है, अर्थात् सामनेवाला जले या न जले, परन्तु पहले स्वयं तो जलता ही है। वैसे ही कषायवश जीव प्रथम तो स्वयं ही कषाय अग्नि के द्वारा जलता है। क्रोध से पर का बुरा करने वाला जीव अपने दुख की परम्परा भोगता है, इसलिए जीवों को क्षमाभाव रखना योग्य है।

क्रोध से अन्धे हुए द्वीपायन तापसी ने भवितव्यतावश द्वारिका नगरी को भस्म किया, उसमें कितने ही बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ, पशु जल गये और स्वयं द्वीपायन मुनि भी। अनेकों जीवों से भरी हुई वह नगरी छह महिने तक आग में जलती रही.... अरे, धिक्कार हो – ऐसे क्रोध को, जो कि स्व-पर का नाश करके संसार बढ़ाने वाला है ।

अरे, देखो तो जरा इस संसार की स्थिति ! बलदेव और श्रीकृष्ण वासुदेव ऐसे महान पुण्यवन्त पुरुषों ने कितनी महान विभूति को प्राप्त किया था, जिनके पास सुदर्शनचक्र जैसे अनेक महारत्न थे, हजारों देव जिनकी सेवा करते थे और हजारों राजा जिन्हें शीश नवाते थे। अरे ! भरतक्षेत्र के ऐसे भूपति भी पुण्य समाप्त होने पर श्रीविहीन हो गये। नगरी और महल सब जल गये, समस्त परिवार का वियोग हो गया, मात्र प्राण ही जिनका परिवार रह गया। कोई देव भी जिनकी द्वारिका को जलने से नहीं बचा सका। इसप्रकार वे दोनों भाई अत्यन्त शोक के भार से और जीने की आशा से पाण्डवों के पास दक्षिण मथुरा की ओर चले। अरे ! अंसार-संसार ! ऐसे पुण्य-पाप के विचित्र खेल देखकर हे जीव ! तुम पुण्य के भरोसे मत बैठे रहना, शीघ्र आत्महित की साधना करना।

जन्म में या मरण में, फिर सुख भी या दुख में।
इस संसार में या मोक्ष में, रे जीव ! तू तो अकेला है ॥

द्वारिका नगरी भस्म हो गयी. फिर श्रीकृष्ण और बलभद्र का क्या हुआ ? पाण्डवों का क्या हुआ ? यह जानने के लिए अगली कहानियाँ पढ़िये।

46

पानी भी नहीं मिला

द्वीपायन मुनि के क्रोध से द्वारिका नगरी जलकर भस्म हो गयी। श्रीकृष्ण और बलभद्र जैसे महान पराक्रमी योद्धा उस नगरी को तो बचा ही न सके, परन्तु अपने माता-पिता को भी नगरी के बाहर न निकाल सके। अरे, देखो ! इस संसार की स्थिति ! ऐसे पुण्य का क्या भरोसा !! बलदेव और वासुदेव जैसे महापुण्यवन्त पुरुष, जिनके पास तीन खण्ड का राज्य, सुदर्शन चक्र जैसी महान विभूति अचिन्त्य शारीरिक बल तथा हजारों देव और राजा जिनकी सेवा करने वाले हों – ऐसे महान राजा भी पुण्य के समाप्त होने पर रत्नों और राज्य से रहित हो गये। देव दूर चले गये। नगरी और महल सभी जल गये। समस्त परिवार का वियोग हो गया।

द्वारिका नगरी को जलती हुई छोड़कर बलभद्र और श्रीकृष्ण दक्षिण देश की ओर जा रहे थे, उसी बीच में कौशाम्बी नाम का भयंकर वन आया, तपती दुपहरी में उस निर्जन वन में मृगमरीचिका का जल तो बहुत दिखाई देता था, परन्तु सच्चा पानी मिलना दुर्लभ था। उसी समय थके हुए श्रीकृष्ण को बहुत प्यास लगी.... वे भाई बलभद्र से कहने लगे –

''हे बन्धु ! मुझे बहुत प्यास लगी है, पानी के बिना मेरे होंठ और तालु सूख रहे हैं, अब मैं एक कदम भी नहीं चल सकता, इसलिए मुझे जल्दी ठण्डा पानी पिलाओ। जिस प्रकार अनादि से सार रहित संसार से संतप्त जीव को सम्यग्दर्शन रूपी जल की प्राप्ति होने पर उसका भव-आताप मिटता है, वैसे ही मुझे शीतल जल लाओ, जिससे मेरी प्यास मिटे। प्यास के कारण श्रीकृष्ण के मुँह में से धीरे-धीरे श्वास निकल रही थी। अरे रे ! तीन खण्ड के स्वामी को पानी का ही संकट पड़ गया है।

बलभद्र दुःखी होकर अत्यन्त स्नेह से कहते हैं – ''हे भ्रात ! मैं अपने और तुम्हारे लिए शीघ्र ही ठण्डा पानी लाता हूँ।.... तब तक तुम जिनेन्द्र भगवान के स्मरण के द्वारा अपनी तृषा शान्त करो। तुम तो जिनवाणी रूपी अमृतपान के द्वारा सदा तृप्त हो। इस पानी से थोड़े ही समय तक प्यास बुझती है और फिर प्यास लगने लगती है, अरे ! जिनवचन रूपी अमृत तो सदाकाल के लिए विषय-तृष्णा को मूल से ही मिटा देता है। हे जिनशासन के वेत्ता ! तुम इस बट-वृक्ष की

शीतल छाया में आराम करो, मैं शीघ्र ही पानी लाता हूँ। तुम चित्त को शीतल करके शान्तभाव रूप निज भवन में जिनेश्वर की स्थापना करो।''

इस तरह बड़ा भाई छोटे भाई को समझाकर उसके लिए पानी की खोज में निकल पड़ा। कृष्ण के दुख से उसका चित्त भी दुखी है, वह अपना सुख भूल गया है.... एक कृष्ण की ही चिन्ता है.... वह उसके लिए पानी लेने बहुत दूर तक चला गया। रास्ते में अनेक अपशकुन भी हुए, परन्तु उन पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

इधर श्रीकृष्ण अपने मन में जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करके, वृक्ष की छाया में पीताम्बर वस्त्र ओढ़कर सो गये। थके-माँदे सो रहे थे....। दैवयोग से उनका भाई जरतकुमार भी वहाँ आ पहुँचा, वह भी उसी वन में अकेला शिकार पाने के लिए घूम रहा था। वह नेमिनाथ प्रभु के वचनों की श्रद्धा से रहित और भाई के प्रति अति स्नेह के कारण, उनकी रक्षा करने के लिए ही द्वारिका से दूर जाकर वन में रहता था, परन्तु प्रभु के द्वारा देखे हुए भवितव्य को कौन मिटा सकता है ? जिस वन में वह रहता था, उसी वन में श्रीकृष्ण भी आ गये.... श्रीकृष्ण के द्वारा ओढ़ा हुआ वस्त्र हवा में उड़ रहा था, वह देखकर उसने उसे खरगोश का कान समझ लिया और दुष्ट परिणामी जरतकुमार ने बाण छोड़ दिया....और उस बाण से श्रीकृष्ण के पैर का तलवा छिद गया, जख्मी हो गया। भाई के हाथ से ही भाई का घात हुआ। दुर्निवार भवितव्य अन्त में होकर ही रहा।

पैर में बाण लगते ही श्रीकृष्ण एकदम उठे और चारों ओर देखा, परन्तु वहाँ कोई नहीं दिखा, इसलिए उन्होंने आवाज लगायी –

''अरे ! इस निर्जन वन में हमारा शत्रु कौन है ? जिसने मेरा पैर घायल किया ? तुम जो भी हो, अपना नाम तथा कुल बताओ.... क्योंकि नाम कुल जाने बिना मैं किसी का घात नहीं करता – यह हमारा प्रण है, इसलिये तुम कौन हो ? और बिना कारण किस वैर से तुम हमारे प्राणों का अन्त करना चाहते हो, सो कहो।''

तब जरतकुमार ने जाना कि अरे ! यह तो जानवर के बदले कोई उत्तम मनुष्य मेरे बाण से घायल हो गया है, अत: खेदपूर्वक अपना परिचय देते हुए उसने कहा –

''इस पृथ्वी पर हरिवंश का नाम प्रसिद्ध है, जिस वंश में भगवान नेमिनाथ ने अवतार लिया, जिस वंश में श्रीकृष्ण ने जन्म लिया; मैं भी उसी हरिवंश में उत्पन्न हुआ हूँ....श्री वसुदेव, जो श्रीकृष्ण के पिता हैं, मैं उनका ही पुत्र जरतकुमार हूँ। जब नेमिनाथ प्रभु की वाणी से सुना कि बारह

वर्ष बाद मेरे ही हाथ से मेरे भाई श्रीकृष्ण का मरण होगा.... तब से श्रीकृष्ण के मोह के कारण मैं उनकी रक्षा के लिए नगर छोड़कर इस निर्जन वन में आया हूँ.... और अकेला भ्रमण कर रहा हूँ.... इस वन में मुझे बारह वर्ष से भी अधिक समय बीत गया है। (रे जीव ! भवितव्य के योग से तू गिनती भूल गया है.... अभी बारह वर्ष पूरे नहीं हुए.... जैसे द्वारिका के नगरजन तथा द्वीपायन मुनि भी दैवयोग से गिनती भूल गये थे.... वैसे ही तुम भी....)

जरतकुमार आगे कहते हैं – "मैं इस वन में बारह वर्ष से अकेला घूम रहा हूँ। अभी तक मैंने यहाँ उत्तम पुरुष के वचन नहीं सुने, इसलिए तुम कौन हो और यहाँ क्यों आये हो ? सो कहो।"

.....अरे देखो तो जरा ! पुण्ययोग के समाप्त होने पर श्रीकृष्ण जैसे पुण्य पुरुष की भी ऐसी दशा हो गयी कि उनका भाई ही उन्हें समझ न सका....।

श्रीकृष्ण समझ गये कि ये मेरे बड़े भाई जरतकुमार हैं। अहो ! भगवान द्वारा कथित भवितव्य कभी मिथ्या नहीं होता। श्रीकृष्ण ने जरतकुमार को स्नेह से अपने पास बुलाया – "हे भाई ! तुम यहाँ मेरे पास आओ।"

पास आते ही जरतकुमार ने श्रीकृष्ण को पहचान लिया कि – "अरे ! यह तो वासुदेव !! मेरा छोटा भाई !!! क्या मेरे ही बाण से घायल हो गया ? हाय ! मुझे धिक्कार है ! मुझे धिक्कार है !!" ऐसा कहकर उसने धनुष-बाण फेंक दिया और श्रीकृष्ण के पास ही गिर गया ।

"हे बड़े भाई ! तुम शोक न करो, सर्वज्ञ के द्वारा कथित भवितव्य अलंघ्य है। मेरे प्राणों के लिए तो तुम राजपाट, सुख-सम्पदा छोड़कर अकेले वन में रहे, भवितव्य के निवारण हेतु बहुत कोशिश की; परन्तु भवितव्य टल नहीं सकता। बाहर में भाग्य ही जिस समय प्रतिकूल हो, उस समय हम क्या कर सकते हैं ? इसलिए तुम शोक छोड़ो, अब सर्वज्ञ भगवान पर श्रद्धा रखो, इन हिंसादि पापों को छोड़ो और श्रावक के व्रत धारण करो।"

श्रीकृष्ण के प्रेमपूर्वक वचनों को सुनकर जरतकुमार का चित्त शान्त हुआ और उन्होंने श्रीकृष्ण से इस वन में आने का कारण पूँछा ?

तब श्रीकृष्ण ने दुखी होकर कहा – "हे भाई ! द्वारिका नगरी तो जल गयी, जो वैराग्यवन्त जीव त्यागी होकर चले गये, वे ही बचे; बाकी सब भस्म हो गये.... पूरे यादव कुल का नाश हो गया....माता-पिता को भी हम न बचा सके। मात्र हम दो भाई ही बाहर निकल सके और दक्षिण की ओर जाते समय इस वन में आये....।"

सारी द्वारिका नगरी के समस्त यादव कुल का नाश सुनकर जरतकुमार बहुत विलाप करने लगा.... अरे ! वहाँ सारी नगरी के यादव जल गये, यहाँ तक कि माता-पिता भी भस्म हो गये और आज हमारे हाथ से तुम्हारा घात हुआ। अरे रे ! अब मैं क्या करूँ ? मेरे चित्त को समाधान कैसे होगा ? भाई के घात से मेरा महान अपयश हुआ, मैंने महापाप बाँधा और मैं ही दुखी हुआ.... ऐसा कहकर वह बहुत विलाप करने लगा।

श्रीकृष्ण ने कहा –

हे भाई ! विलाप छोड़ो.... इस संसार में सभी जीव अपने कर्म के अनुसार जीवन-मरण, संयोग-वियोग प्राप्त करते हैं। दूसरे कोई मित्र या शत्रु उसे सुख-दुख देने वाले नहीं हैं।

हे बन्धु ! बलदेव मेरे लिए पानी लेने के लिए गये हैं, वे यहाँ आयें, उसके पहले शीघ्र ही तुम यहाँ से चले जाओ। जब वे यहाँ आकर मेरी यह हालत देखेंगे, तब उन्होंने क्रोधित होकर कदाचित् तुम्हें मार डाला, तो अपना वंश ही न रहेगा। अपने वंश में तुम अकेले ही बचे हो, इसलिए तुम श्रावक व्रत धारण करके पाण्डवों के पास जाओ, तुम उन्हें सब बात बताओ। वे हमारे परम हितैषी हैं, जिससे हमारे कुल की रक्षा करने के लिए वे तुम्हें राज्य देंगे।'' निशानी के लिए अपनी कौस्तुभमणि श्रीकृष्ण ने देते हुए कहा – ''इस चिह्न से पाण्डव तुम पर विश्वास करके तुम्हारा आदर करेंगे। इस मणि को छिपाकर ले जाना'' – ऐसा कहकर क्षमाभाव पूर्वक श्रीकृष्ण ने उन्हें विदा दी।

जरतकुमार ने भी क्षमाभाव धारण किया....और उनके पैर का बाण सावधानी पूर्वक निकालकर कहा – ''हे देव ! क्षमा करो।'' – ऐसा कहकर वहाँ से चले गये।

श्रीकृष्ण को बाण लगने के कारण भयंकर वेदना हो रही थी, अपना अन्त समय जानकर उन्होंने अपना मुख उत्तर दिशा की ओर किया और पल्लव देश में विराजमान श्री नेमिनाथ जिनेन्द्र भगवान को याद करके नमस्कार किया.... यादव कुल के ईश्वर भगवान नेमिनाथ के अनन्त गुणों को स्मरण करके बारम्बार नमस्कार किया। पंच-परमेष्ठी का स्मरण किया। तीनों काल के तीर्थंकरों-सिद्धों-साधुओं और जिनधर्म की शरण लेकर, पृथ्वी के नाथ पृथ्वी पर गिर गये।

वे विचार करने लगे – ''अरे मेरे पुत्र-पौत्र-स्त्री-बन्धु-गुरुजन आदि द्वारिका के भस्म होने से पहले संसार से विरक्त होकर जिनेन्द्र भगवान के मार्ग की आराधना करके तप में प्रवर्ते – वे धन्य हैं और अग्नि का उपद्रव होने पर हजारों रानियाँ तथा परिवार परम समाधि योग को धारण

करके देह छोड़कर स्वर्ग लोक में गये; परन्तु अग्नि के उपद्रव से कायर नहीं हुए – वे सभी धन्य हैं। अप्रत्याख्यान कषाय के कारण मैं श्रावक के या मुनि के व्रत न ले सका, परन्तु केवल सम्यक्त्व को ही धारण किया, वही मुझे संसार-समुद्र से पार करने के लिए हस्तावलंबन रूप है। जिनमार्ग में मेरी श्रद्धा अत्यन्त दृढ़ है।''

भावी तीर्थंकर ऐसा शुभ चिंतन कर रहे थे, परन्तु अन्तिम समय में परिणाम किंचित् संक्लेश रूप हो गये....और देह छोड़कर तीन खण्ड के नाथ नरक की मेघाभूमि में चले गये। इस प्रकार कौशाम्बी वन में उनकी देह तब छूटी, जब उनके पास कोई भी नहीं था। अहा ! देखो तो कर्मों की विचित्रता !

अरे ! प्यास बुझाने के लिए पानी मँगाया.... परन्तु पानी आने से पहले ही प्राण छूट गये.... अहो ! इस क्षणभंगुर संसार में ऐसे महापुरुषों का शरीर भी स्थिर नहीं तो दूसरों की क्या बात ?

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी बार ॥

अरे ! कहाँ तीन खण्ड पृथ्वी का राजवैभव और कहाँ पानी के बिना निर्जन वन में मृत्यु ! पुण्य के समय सेवा करने वाले हजारों देवों में से कोई भी इन प्यासे को पानी पिलाने नहीं आया। संयोगों का क्या भरोसा।

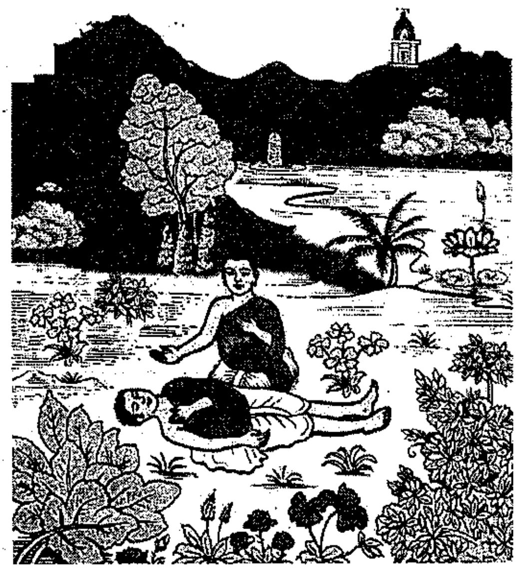

थोड़ी देर बाद बलभद्र पानी लेकर आये.... आकर देखा तो श्रीकृष्ण निश्चेष्ट होकर सो रहे हैं.... तीव्र प्रेम के कारण उन्हें श्रीकृष्ण की मृत्यु की कल्पना भी कहाँ से हो ?

प्यासे श्रीकृष्ण का जरतकुमार के बाण से देह विलय हो गया। बलभद्र व्याकुल होकर कहते हैं – ''अरे कृष्ण ! तुम सो गये !! उठो.... भैया ! मैं पानी लेकर आ गया हूँ।''

उन्होंने तो यही सोचा कि थकान के कारण श्रीकृष्ण को नींद आ गई है, अतः श्रीकृष्ण को जगाने के लिए हिलाकर कहा –

''उठो.... भाई ! मैं तुम्हारे लिए पानी लेकर आ गया हूँ।''

परन्तु कौन उठे ? कौन बोले ? बहुत प्रयत्न किया, परन्तु श्रीकृष्ण न उठे। तब बलभद्र उन्हें कन्धे पर उठाकर आगे चल दिये।

श्रीकृष्ण के वियोग से छह माह तक बलभद्र का चित्त बहुत उद्विग्न रहा। अन्त में उनका सारथी, जो कि मरकर सिद्धार्थ देव हुआ था, उसने आकर सम्बोधन किया –

''हे महाराज ! जिस प्रकार रेत में से तेल नहीं निकलता, पत्थर पर घास नहीं उगती, मरा हुआ पशु घास नहीं खाता। उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त मनुष्य फिर से सजीव नहीं होता, तुम तो ज्ञानी हो; इसलिए श्रीकृष्ण से मोह छोड़ो और संयम धारण करो।''

सिद्धार्थ देव के सम्बोधन से बलभद्र का चित्त शान्त हुआ। उन्होंने संसार से विरक्त होकर उन्होंने जिनदीक्षा ली, आराधना पूर्वक समाधि-मरण करके स्वर्ग गये।

श्रीकृष्ण की मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण के कहे अनुसार जरतकुमार पाण्डवों के पास जाते हैं और उन्हें सारा वृत्तान्त बताते हैं। आगे क्या होता है ? – यह जानने के लिए अगली कहानी पढ़िये।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

दर्शन रहित जीव कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। यदि सम्यक्त्व से अलंकृत जीव कदाचित् चारित्रादि से च्युत हो जाय तो भी फिर से चारित्र पाकर मोक्ष पा सकता है।

जिसप्रकार नेत्रहीन जीव रूप को नहीं जान सकता, उसीप्रकार सम्यक्त्व-चक्षु के बिना अन्धा जीव देव-गुरु को या गुण-दोषों को नहीं जानता।

जिसप्रकार प्राण बिना शरीर को मृतक कहा जाता है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन रहित जीव को चलता हुआ मृतक कहा जाता है।

अहो ! यह सम्यग्दर्शन है, वह ज्ञान-चारित्र का बीज है, मुक्ति-सुख का दातार है, उपमा रहित अनुपम है, इसलिए हे जीव ! तू इसे सुख के हेतु ग्रहण कर। – **सकलकीर्ति श्रावकाचार से साभार**

47

पाण्डवों का वैराग्य

जरतकुमार के द्वारा द्वारिका नगरी के नाश का तथा श्रीकृष्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर पाण्डव एकदम शोकमग्न हुए। उन्होंने फिर से नई द्वारिका नगरी बसायी और श्रीकृष्ण के भाई जरतकुमार को द्वारिका के राजसिंहासन पर बिठाया....।

तब श्री नेमिप्रभु तथा श्रीकृष्ण के समय की हरी-भरी द्वारिका तथा वर्तमान की द्वारिका का हाल-बेहाल देखकर पाण्डव शोकातुर हो गये, फिर सचेत हो ऐसा चिन्तवन करने लगे –

"अरे, यह द्वारिका नगरी देवों द्वारा रचायी गई थी, वह भी आज पूरी जलकर राख हो गयी है। प्रभु नेमिकुमार जहाँ की राजसभा में विराजते थे और जहाँ हमेशा नये-नये मंगल उत्सव होते थे, वह नगरी आज सुनसान हो गयी। कहाँ गये रुक्मणि आदि रानियों के सुन्दर महल और कहाँ गये वे हर्ष से ओतप्रोत पुत्र आदि कुटुम्बी जन। वास्तव में कुटुम्बादि का संयोग क्षणभंगुर है, वह बादल के समान देखते ही देखते विलय हो जाता है। संयोग तो नदी के बहते प्रवाह जैसे चंचल हैं, उन्हें स्थिर नहीं रखा जा सकता। संसार की ऐसी विनाशीक दशा देखकर विवेकी जीव विषयों के राग से विरक्त हो जाते हैं।

वास्तव में तो जिन स्त्री-पुत्र-पौत्र वगैरह को हम अपना मानते हैं, वे अपने हैं ही नहीं। जहाँ यह पास रहने वाला शरीर ही अपना नहीं है, तब दूर रहने वाले परद्रव्य अपने कैसे हो सकते हैं ? बाह्यवस्तु में सुख-दुख मानना तो मात्र कल्पना ही है। अपनी वस्तु तो मात्र ज्ञानस्वरूपी आत्मा ही है। विषयभोग मूर्ख जीवों को ही सुखकर लगते हैं, परन्तु वास्तव में वे नीरस हैं और उनका फल दुखरूप है।

जो मूढ़ अज्ञानी जीव उसके सेवन से अपने को सुखी मानते हैं, वे आँखें होते हुए भी अन्धे होकर दुखरूपी कुएँ में गिरते हैं और दुर्गति में जाते हैं। खुजली के समान इन्द्रिय-विषयों के भोग का फल दुखदायक ही है और उनसे जीव को कभी तृप्ति नहीं मिलती। विषयों के त्याग और चैतन्यसुख के सेवन से ही इस जीव को तृप्ति मिल सकती है।

पाँच-इन्द्रियों के विषयों में लीन जीव पंच परावर्तन रूप दीर्घ संसार में चक्कर लगाते हैं और

मिथ्यात्व की वासना के कारण अपने हित-अहित का विचार नहीं कर सकते तथा धर्म की तरफ उनकी रुचि भी जागृत नहीं होती। अत: मोक्षसुख को चाहने वाले भव्यजीवों को मिथ्यात्व और विषय-कषायों का त्याग करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिये।''

इसप्रकार वैराग्यपूर्वक विचार करते-करते वे पाण्डव द्वारिका से प्रस्थान करके पल्लव देश में आये और वहाँ विराजमान श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर के दर्शन किये। उन्होंने प्रभु के केवलज्ञान की स्तुति की और धर्म की पिपासा के साथ उनका धर्मोपदेश सुना।

प्रभु की दिव्यवाणी में चिदानन्द तत्त्व और मोक्षसुख की अपूर्व महिमा सुनकर उन पाण्डवों का चित्त शान्त हुआ....उन्हें आत्मशुद्धि की वृद्धि प्राप्त हुई.... संसार से उनका चित्त विरक्त हुआ और मोक्ष को साधने के लिए वे उत्सुक हुए। वे विचारने लगे –

''अरे ! नेमिनाथ प्रभु के समान तीर्थंकर का साक्षात् सुयोग मिलने पर भी अब तक हम असंयम में ही रहे और तुच्छ राज्यभोगों के लिए अनेक बड़ी से बड़ी लड़ाईयाँ भी लड़-लड़कर अपना जीवन गवाँ दिया।

अरे ! श्रीकृष्ण के समान अर्द्ध चक्रवर्ती राजा का राज्य भी जहाँ स्थिर नहीं रहा। द्वारिका नगरी देखते-देखते आँखों के सामने ही सारी जल गई और श्रीकृष्ण जैसा राजा भी पानी के बिना वन में मृत्यु को प्राप्त हुआ। अहो ! इस संसार में राग, पुण्य और उनका फल सब कुछ अध्रुव और अशरण है....। जहाँ पुण्य भी जीव को शरणरूप नहीं हो सकता, वहाँ अन्य की क्या बात ?''

इसप्रकार वैराग्यचित्तपूर्वक पाँचों पाण्डव, द्रोपदी तथा माता कुन्ती और सुभद्रा आदि सभी नेमिनाथ प्रभु के समवसरण में बैठे हैं। सबका चित्त असार-संसार से थक गया है और जिनदीक्षा हेतु तत्पर हैं। तभी युधिष्ठिर अत्यन्त वैराग्यपूर्वक प्रभु से विनती करते हैं –

''हे देव ! हम पाँचों भाई एवं द्रोपदी अपने पूर्वभव जानने को इच्छुक हैं, तब अचिन्त्य वैभवयुक्त प्रभु की दिव्यवाणी में उनके पूर्वभव की कथा इसप्रकार व्यक्त हुई –

''युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन ये तीनों भाई पूर्वभव में चम्पापुरी में एक ब्राह्मण के पुत्र थे – 1. सोमदत्त, 2. सोमिल और 3. सोमभूति। इसी प्रकार नकुल, सहदेव और द्रोपदी – ये तीनों पूर्वभव में अग्निभूति ब्राह्मण की पुत्रियाँ थीं – 1. धनश्री 2. मित्रश्री और 3. नागश्री।

इन तीनों कन्याओं का विवाह इन तीनों भाईयों के साथ हुआ था अर्थात् युधिष्ठिर और नकुल

–ये दोनों भाई तथा भीम और सहदेव – ये दोनों भाई पूर्वभव में पति-पत्नि थे। इसी प्रकार अर्जुन और द्रौपदी भी पूर्वभव में पति-पत्नि थे।

एक बार उन तीनों भाईयों के आंगन में धर्मरुचि नामक मुनिराज पधारे.... सबने आदरपूर्वक उन्हें आहारदान दिया.... परन्तु उस समय नागश्री (द्रौपदी के जीव) ने मुनिराज का अनादर किया.... और अयोग्य आहार दिया.... जिससे मुनिराज का समाधिपूर्वक मरण हुआ, परन्तु इस प्रसंग को जानकर तीनों भाईयों को अत्यन्त दुख हुआ –

"अरे रे !! हमारे आंगन में जिनमुनिराज का अनादर" –ऐसा विचारकर उन्होंने वैराग्य धारण करके जिनदीक्षा ले ली और आत्मसाधना करके स्वर्ग में जन्म लिया.... वहाँ से निकलकर यहाँ युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन के रूप में मनुष्य जन्म प्राप्त किया। उधर उन तीनों भाईयों की पत्नियों में से नागश्री को छोड़कर दोनों पत्नियों ने भी आर्यिका व्रत धारण किया और आत्मसाधना पूर्वक स्वर्ग में गईं.... वहाँ से निकलकर यहाँ सहदेव और नकुल हुए।

नागश्री का जीव (जो अभी द्रौपदी है) मुनि की विराधना के दुष्ट परिणाम के कारण मरकर नरक गया। बाद में दृष्टिविष नामक भयंकर सर्प होकर पुनः नरक गया। बाद में भी बहुत काल तक उसने स्थावर के अनेक भव धारण किये और घोर दुख भोगे। बाद में पापकर्मों का अनुभाग कुछ क्षीण हुआ तो वह चम्पापुरी में चाण्डाल कन्या हुई, तब मुनिराज के पास से जैनधर्म का स्वरूप सुनकर मद्य-माँस-मधु वगैरह का त्याग करके शुभभाव पूर्वक मरकर उसी चम्पापुरी में ही एक सेठ के यहाँ "सुकुमारी" नामक कन्या हुई, परन्तु उसका शरीर कुरूप और दुर्गन्धयुक्त था, इस कारण उसका पति भी उससे दूर-दूर रहता था, अतः वह अपने दुर्भाग्य पर खेद करती और विचार करती कि – "अरे...रे ! मैंने पूर्वभव में धर्म का अनादर करके पाप बाँधा था, इसीलिए मेरा अनादर हो रहा है।" इसप्रकार अपनी निंदा करके पश्चाताप तथा उपवास करती।

एक बार उसके आंगन में आर्यिका संघ आया, उनमें दो आर्यिका अत्यन्त सुकोमल और कम उम्र की थी.... विवाह-मंडप में ही जाति-स्मरण ज्ञान होने से उन्होंने वैराग्य धारण करके दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उनकी कथा सुनकर सुकुमारी (नागश्री अथवा द्रौपदी का जीव) का चित्त भी संसार से विरक्त हुआ.... तब उसने आत्मज्ञान (सम्यक्त्व) के बिना ही आर्यिकाव्रत धारण किया।

एक समय की बात है, जब उसने एकबार वसंतसेना नामक वेश्या को अपने पाँच विट पुरुषों के साथ जाते देखा, वे पाँच कामी पुरुष उसकी सेवा कर रहे थे.... यह देखकर अज्ञान से उस

सुकुमारी-अर्जिका ने यह निदान बन्ध किया कि मुझे भी भविष्य में ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो।

वहाँ से मरकर वह स्वर्ग में गई। सोमदत्त (अर्जुन) का जीव जो पूर्वभव में उसका पति था और स्वर्ग में गया था, उसकी वह देवी बनी। उस पर्याय को छोड़कर यहाँ द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुई है। पूर्वकृत अशुभ निदान बन्ध के उदय के कारण वह सती–मात्र अर्जुन की पत्नि होने पर भी "पंचभर्तारी" के नाम से जगत में विख्यात हुई है, परन्तु उसका चित्त वास्तव में संसार से उदास होकर धर्म के प्रति जागृत हुआ।

इसप्रकार प्रभु श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर की सभा में अपने पूर्वभवों का वृतान्त सुनकर उन पाण्डवों और द्रौपदी का चित्त संसार से एकदम विरक्त हुआ और विशुद्ध परिणामों पूर्वक उन्होंने प्रभु के सन्मुख जिनदीक्षा धारण की।

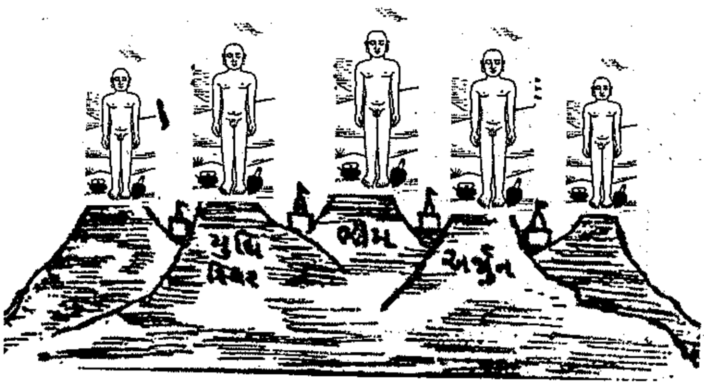

अहो ! युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन नकुल-सहदेव – ये पाँचों भाई दिगम्बर दीक्षा धारणकर मुनि हुए तथा आत्मध्यान में लीन होकर साधु परमेष्ठी पद को सुशोभित करने लगे। उन्हें देखकर सभी आश्चर्य को प्राप्त हुए.... स्वर्ग के देव भी आनन्दपूर्वक उत्सव करने लगे। तभी द्रौपदी, माता कुन्ती और सुभद्रा ने भी राजमती-आर्यिका के पास जाकर दीक्षा ले ली।

उसके बाद विहार करते-करते वे पाण्डव मुनिराज सौराष्ट्र देश में आये....श्री नेमिनाथ प्रभु की निर्वाण कल्याणक भूमि गिरनार की यात्रा की.... तत्पश्चात् वैराग्य भूमि सहस्र आम्रवन में थोड़े दिन रहकर आत्मध्यान की उग्रता के द्वारा वीतरागता की वृद्धि की.... बाद में शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र पर आकर निष्कंप आत्मध्यान करने लगे.... अहो ! परमेष्ठी पद में झूलते वे पाँचों पाण्डव मुनिराज ऐसे दिख रहे थे मानों पंचपरमेष्ठी ही शोभित हो रहे थे।

शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र पर उन पाण्डव मुनिवरों ने जिन उत्तम भावनाओं के द्वारा आत्मकल्याण किया था, उन भावनाओं की प्रत्येक मुमुक्षुजीव को भावना करनी चाहिये। पाण्डव-पुराण के अनुसार उन वैराग्य-भावनाओं को यहाँ दिया जा रहा है –

भवचक्र में भ्रमते कभी, भायी नहीं जो भावना।
भवनाश करने के लिए, भाऊँ अलौकिक भावना॥

(1) अनित्य भावना – संसार में जीवन क्षणभंगुर है, बादलों के समान देखते-देखते विलीन हो जाता है। धन, दौलत, मकान, कुटुम्ब, शरीर आदि जो भी दिखाई देते हैं, वे सब नश्वर हैं। भोगोपभोग अनित्य हैं, वे किसी के साथ स्थिर नहीं रहते। महान पुण्यशाली चक्रवर्ती को भी जब तक पुण्य का उदय रहता है, तब तक ही वह सामग्री रहती है। पुण्य समाप्त होने पर वह भी रफूचक्कर हो जाती है। जगत में एक अपनी आत्मा ही ऐसी वस्तु है जो कि सदा शाश्वत रहती है, जिसका कभी वियोग नहीं होता। इसलिए हे आत्मा ! तू समस्त बाह्य वस्तुओं से ममत्व हटाकर स्व में ही स्थिर हो.... ये ही वस्तु तुम्हारी है।

लक्ष्मी-शरीर, सुख-दु:ख अथवा शत्रु-मित्र जन हों अरे।
ये कोई भी ध्रुव नहीं, ध्रुव उपयोग आत्मिक जीव है॥

भरत चक्रवर्ती जैसा छह खण्ड का अधिपति भी जब नित्य नहीं रहा तो फिर अरे जीव ! तू किससे स्नेह करता है ? किसे अपना समझता है ? अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा के अलावा दूसरी वस्तु को अपना समझना, वह सिर्फ इस जीव की मूर्खता है ! इसलिए हे जीव ! ऐसे व्यर्थ विकल्प जाल में मत पड़, तू तो आत्मचिन्तन में ही उपयोग को लगा, उसी में जीवन की सार्थकता है।

(2) अशरण भावना – जिस प्रकार भूखे सिंह के पंजे में पड़े हुए हिरण की कोई रक्षा नहीं कर सकता, उसी प्रकार मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी की कोई रक्षा नहीं कर सकता। कोई ऐसा कहे कि मैं तो लोहे के मकान में रहकर शस्त्रादि एवं धनादि से जीवन की रक्षा कर लूँगा अथवा कोई औषधि-मंत्र-तंत्र से जीवन को बचा लूँगा, तो उसका यह कथन उस मूर्ख की भाँति ही समझना चाहिए, जो मेघवर्षा से बचने के लिए अपनी धोती ओढ़कर अपने को सुरक्षित मानता है। वास्तव में जिसकी आयु पूरी हो गई हो, उसकी कोई रक्षा कर ही नहीं सकता। कोई देव, इन्द्र या सुरेन्द्र आदि रक्षा करते हैं – यह भी कथनमात्र है; क्योंकि वे जब स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते तो दूसरे की रक्षा कहाँ से करेंगे ? इसलिए हे आत्मन् ! तू इन सबका शरण लेने की बुद्धि को छोड़ और अपने अविनाशी चैतन्य स्वरूप आत्मा की शरण ले – ये ही सच्ची शरण है।

(3) संसार भावना – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंच परावर्तनमयी इस संसार में यह आत्मा निजस्वरूप को समझे बिना चक्कर लगा रहा है, कभी एक गति में तो कभी दूसरी गति में, कभी राजा तो कभी रंक, कभी देव तो कभी नारकी, कभी द्रव्यलिंगी साधु तो कभी

कषायी – इसप्रकार बहुरूपिया होकर घूम रहा है। पंचविध परावर्तन में एक-एक परावर्तन का अनन्त काल है। वह पंच परावर्तन इस जीव ने एक बार नहीं, अपितु अनन्तबार पूरे किये हैं, तब भी विषय-लालसा से उसका चित्त तृप्त नहीं हुआ तो अब कैसे होगा ? स्व-विषय को भूलकर तू सदा अतृप्तरूप रहकर ही मरा है।

इसलिये हे आत्मन् ! अब तू विषय-लालसा छोड़कर आत्मस्वरूप में अपने चित्त को स्थिर कर। इस दुखमय संसारचक्र से छूटने का एकमात्र उपाय यही है कि तू बाह्य-विषयों के मोह को छोड़कर आत्म-ध्यान में लीन हो जा।

(4) एकत्व भावना – यह जीव अकेला ही आया है, अकेला ही जन्म-मरण के दुख भोगता है, अकेला ही गर्भ में आता है, अकेला ही शरीर धारण करता है, अकेला ही बालक-जवान-वृद्ध होता है, अकेला ही मरता है; इस जीव के सुख-दुख में कोई भी साथी नहीं है। अरे ! जिस कुटुम्बादि को तू अपना समझता है, वे तुम्हारे नहीं हैं। कुटुम्ब वगैरह तो दूर, परन्तु ममता से जिस देह को तूने पुष्ट किया है, जिसके साथ चौबीसों घन्टे रहा, वह शरीर भी साथ में नहीं जाता, तब दूसरा कौन साथ जायेगा ? इसलिए हे आत्मा ! तुम क्यों दूसरों के लिए पाप का बोझा अपने सिर बाँध रहे हो ? तुम तो सदा अकेले ही हो, इसलिए सबका मोह छोड़कर एक अपने आत्मा का ही चिन्तन करो, जिससे तुम्हारा हित होगा।

जीव अकेला ही मरे स्वयं जीव अकेला जन्मे अरे।
जीव अकेला जन्मे-मरे जीव अकेला सिद्धि लहे॥
मेरा सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञान लक्षण जीव है।
बाकी सभी संयोग लक्षण भाव मुझसे बाह्य हैं॥

(5) अन्यत्व भावना – पानी और दूध के समान शरीर और आत्मा का मेल दिखता है, परन्तु जैसे सचमुच दूध और पानी भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही वास्तव में आत्मा और शरीर भी भिन्न-भिन्न हैं। हे आत्मा ! तुमने शरीर और आत्मा को एक ही समझा, वह तुम्हारी भूल है। तुम्हारा स्वरूप तो ज्ञायकभाव है, चारित्रभाव है, रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही तुम्हारा है; इसलिए किसी अन्य के आश्रय से शान्ति होगी – ऐसी आशा छोड़कर तुम अपने एकत्व स्वरूप में ही रहो। तुम्हारी एकता ही तुम्हारी शोभा है, अन्य से तुम्हारी शोभा नहीं; अतः अन्य से भिन्न अनन्य स्वरूप आत्मा की भावना भाओ।

(6) अशुचि भावना – यह शरीर तो अशुचिता का पिटारा है, हाड़-माँस-खून-मवाद आदि से बना हुआ है। उसके नवद्वारों में से घृणाजनक मैल बहता रहता है, चन्दनादि उत्तम से उत्तम वस्तुएँ भी इस शरीर के सम्बन्ध होते ही दूषित हो जाती हैं, तो फिर अरे आत्मा ! तुम ऐसे अशुचि के स्थान रूप शरीर से मोह और प्रेम क्यों करते हो ? ये तुम्हारी महान भूल है कि तुम इस मलिन देह में मूर्छित रहते हो। कहाँ तो तुम्हारा निर्मल स्वरूप और कहाँ इसका मलिन स्वभाव। इसलिए शरीर को हेय समझ कर तुम शीघ्र उससे मोह छोड़ो तथा रागादि कषायों को भी पवित्र चेतन से विरुद्ध अपवित्र जानकर छोड़ो और अपनी पवित्र ज्ञान गंगा में स्नान करके पावन हो, इसी में तुम्हारा कल्याण है।

(7) आस्रव भावना – नदी में छेदवाली नाव जिस प्रकार पानी भरने से डूब जाती है, वैसे ही मोहरूपी छिद्र द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं और उसे संसार-समुद्र में डुबा देते हैं। उन कर्मों के आने का मुख्य कारण मिथ्यात्व और कषायें हैं। उनका छोटे से छोटा कण भी जीव को कर्म का आस्रव कराता है ? इसलिए हे जीव ! तुम चैतन्य में लीनता के द्वारा वीतरागी होकर सर्व आस्रवों को रोको और निरास्रवी हो जाओ – ऐसा करने से ही तुम्हारी आत्मारूपी-नौका इस भव-समुद्र से पार होगी और तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।

(8) संवर भावना – कर्मों का आना रुक जाना संवर है। सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मध्यान से ही संवर होता है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन मात्र से ही मिथ्यात्वादि अनन्त संसार का संवर हो जाता है। संवर होने के बाद यह आत्मा संसार में नहीं भटकती, उसे मोक्ष का मार्ग मिल जाता है। इसलिए हे आत्मा ! अब तू संसार की झंझटों को छोड़कर उस पुनीत संवर का आश्रय कर।

मिथ्यात्व आदिक भाव को, चिरकाल भाया जीव ने।
सम्यक्त्व आदिक भाव रे, भाया नहीं कभी जीव ने ।।

अहो ! भवनाश करने वाली अपूर्व आत्मभावना इसी क्षण भाओ। उपयोग स्वरूप आत्मा को अनुभव में लेकर समस्त परभावों को नष्ट करो। चारित्रमोह की सेना का भी क्षपकश्रेणी आरोहण कर सर्वथा नाश करो।

(9) निर्जरा भावना – सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। जिस प्रकार धधकती अग्नि में कढ़ाई का सभी पानी शोषित हो जाता है, उसी प्रकार उग्र आत्मभावना के प्रताप से विकार जल जाता है। निर्जरा दो प्रकार की होती है – सविपाक और

अविपाक। जिसमें सविपाक निर्जरा तो सभी जीवों को होती रहती है, मोक्ष की कारण रूप अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि, व्रतधारी तथा मुनिराजों को ही होती है और वही आत्मा को कार्यकारी है। इसलिए हे आत्मा ! तू आत्मध्यान की उग्रता के द्वारा अविपाक निर्जरा को धारण कर, जिससे केवलज्ञानी होने में तुझे देर न लगे। सम्यग्दर्शन होते ही असंख्यात गुनी निर्जरा शुरू हो जाती है और मुनि होने के बाद ध्यान के द्वारा उग्र पुरुषार्थ करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है। परमात्मस्वभाव का लक्ष्य करनेवाला सम्यग्दर्शन भी धीरे-धीरे आठ कर्मों को जलाकर खाक कर देता है, तब उस परमात्म स्वरूप आत्मा के ध्यान की एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग से कर्म का नाश होने में कितनी देर लगेगी ?

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे।
इससे ही बन तू तृप्त तुझको, सुख अहो ! उत्तम मिले ॥

(10) लोक भावना – अनन्त जीव-अजीव के समूह रूप इस लोक का कोई बनाने वाला नहीं है अर्थात् ये तो अनादि सिद्ध अकृत्रिम निरालम्बी है। कोई इसका नाश नहीं कर सकता और कोई इसे बना नहीं सकता। अनन्त अलोक के बीच में जैसे यह लोक बिना अवलम्बन के रहता है, वैसे ही लोक में मेरा आत्मा भी बिना किसी अवलम्बन के है, इसलिए परावलम्बी बुद्धि छोड़कर मैं अपने आत्मा का ही अवलम्बन लूँ – जिससे मेरी लोक यात्रा पूरी हो और लोक का सर्वोत्कृष्ट स्थान मुझे प्राप्त हो। कमर के ऊपर हाथ रखकर और पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुष के समान इस लोक का आकार है – जिसमें जीव सम्यग्दर्शन और समता के बिना ही अनन्तकाल से चार गति में घूम रहा है। इसलिए हे आत्मा ! तू उर्ध्व-मध्य और अधोलोक का विचित्र स्वरूप विचार कर सम्पूर्ण लोक में सर्वोत्कृष्ट महिमावंत ऐसे अपने आत्मा में स्थिर हो, जिससे तुम्हारा लोक-भ्रमण मिटे और स्थिर सिद्धदशा प्रगटे। लोक का एक भी प्रदेश आगे-पीछे नहीं होता, उस लोक में जीव-अजीव द्रव्यों की संख्या में एक को भी बढ़ाया-घटाया नहीं जा सकता।

(11) बोधिदुर्लभ भावना – जीव को मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, निरोग शरीर, दीर्घ आयुष्य, जैनशासन, सत्संग और जिनवाणी का श्रवण – ये सब मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। भाग्यवश ये सब मिलने पर भी धर्मबुद्धि जागना और भी दुर्लभ है। ये बुद्धि जागने पर भी अन्तर में सम्यक्त्व का परिणमन होना परम दुर्लभ है – अपूर्व है। सम्यक्त्व होने पर मुनिधर्म को धारण करना दुर्लभ है और मुनिधर्म धारण करने के बाद स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्रगट करना वह सबसे अधिक दुर्लभ है।

इसलिए हे आत्मा ! तुम इस महा दुर्लभ योग को प्राप्त कर अब अति अपूर्व आत्मबोध के लिए प्रयत्नशील होओ। वह परम दुर्लभ होने पर भी आत्मरुचि के बल से सहज सुलभ हो जाती है। सम्यक्त्वादिक रत्नत्रय प्रगट करना ही सच्चा लाभ है, उसी में सच्चा सुख है। रत्नत्रय प्रगट करके जीव की नौका भव से पार हो जाती है। परम दुर्लभ सम्यक्त्व रूपी बाण के बिना ही जीव-योद्धा संसार में घूम रहा है। जिस यौद्धा के पास कमान हो, परन्तु बाण न हो तो वह लक्ष्य को नहीं वेध सकता, उसी प्रकार जीव-योद्धा के पास बाह्य व्रत और क्षयोपशम ज्ञान रूपी कमान हो, परन्तु जो लक्ष्य वेधक बाण अथवा जीव को लक्ष्य में लेनेवाला सम्यक्त्व न हो तो वह मोह को नहीं वेध सकता और संसार से नहीं छूट सकता। इसलिए हे जीव ! तुम सम्यक्त्व रूपी तीक्ष्ण तीर को प्राप्त कर अब मोह को सर्वथा वेध डालो, जिससे संसार की जेल से छुटकारा हो जाये और मोक्षसुख प्राप्त हो जाये।

(12) धर्म भावना – सम्यग्दर्शनादि रूप जो धर्म है, उससे इस जीव को सुख की प्राप्ति होती है। धर्म तो आत्मा के उस भाव का नाम है, जो जीव को दुख से छुड़ाकर सुखरूप शिवधाम में स्थापित करे; इसलिए हे आत्मा ! तू भावमोह से उत्पन्न हुए विकल्पों को छोड़कर शुद्ध चैतन्य रूप अपने आत्मा का दर्शन करके उसमें लीन हो जा। यही धर्म है और यही तुझे सुख रूप है। इसके अलावा संसार में जो विविध पाखण्डरूप धर्म दिख रहा है, वह वास्तव में धर्म नहीं है। तू यह बात बराबर समझ ले और निश्चय कर ले कि आत्मा का शुद्धोपयोग ही धर्म है। ऐसे धर्म को धारण करने से ही अचल सुख का अनुभव होता है।

– इसप्रकार बारह अनुप्रेक्षा भाकर समस्त सांसरिक भावों से विरक्त वे पाण्डव मुनिवर चैतन्य के अनुभव में लीन होकर जब शत्रुंजय पर्वत पर अपने आत्मा के अखण्ड-ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में लगे हुए थे। उसी समय दुर्योधन के दुष्ट भानजे ने उन्हें देखकर – 'इन लोगों ने ही मेरे मामा को मारा है' – ऐसा विचार करके बैरबुद्धि से बदला लेने के लिए उस दुष्ट ने भयंकर क्रोधपूर्वक लोहे के धधकते मुकुट आदि बनवाकर मुनिवरों के मस्तक आदि पर पहनाकर उन पर अग्नि का घोर उपसर्ग किया।

प्रथम तो, अग्नि के द्वारा जलते शरीर को देखकर उन धीर-वीर पाण्डवों ने क्षमारूपी जल का सिंचन किया, पंच परमेष्ठी और धर्म के चिंतन के द्वारा वे आत्मसाधना में स्थिर हो गये। आत्मा में क्रोधाग्नि को प्रवेश नहीं होने दिया, जिससे वे जले नहीं। वे जानते थे कि यह अग्नि कभी भी हमारी आत्मा को नहीं जला सकती; क्योंकि आत्मा तो देह से भिन्न शुद्ध चैतन्य-स्वरूप अरूपी

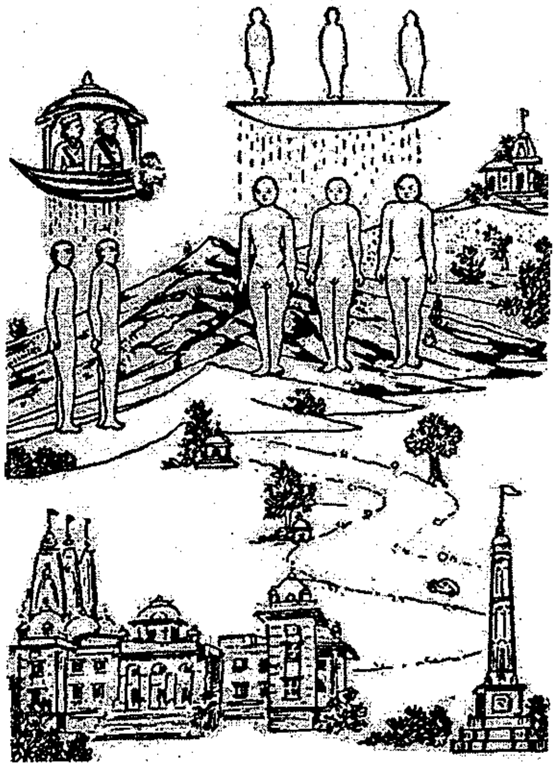

है। अग्नि इस मूर्तिक शरीर को भले ही जला दे, परन्तु उससे हमारा क्या नुकसान है ?

"मैं तो ध्यान के द्वारा शान्त चैतन्य में स्थिर रहूँगा।"

इसप्रकार शरीर से भिन्न आत्मा के चिन्तन के द्वारा महान उपसर्ग विजयी पाण्डव मुनिराजों ने ध्यानरूपी अग्नि प्रकट की। बाहर में शरीर जल रहा था और अन्दर में ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म भस्म हो रहे थे। उस समय वे पाण्डव मुनिवर बारह वैराग्य भावना में तत्पर थे –

युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन ये तीन मुनिवर शुद्धोपयोग की लीनता के द्वारा क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हो गये, घाति कर्मों को घात कर, अंत:कृत केवली हुए और सिद्धालय में जाकर विराजमान हुए। अभी भी वे शत्रुंजय के ऊपर सिद्धालय में विराजमान हैं। उन्हें नमस्कार हो।

नकुल और सहदेव "सर्वार्थसिद्धि" के देव बने। वे एकभवावतारी हैं, वे भी अगले भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

घोर उपसर्ग के समय शत्रुंजय पर्वत पर यह वैराग्य भावना पाण्डवों ने मात्र अन्तर्मुहूर्त में भायी थी – यह हम सभी को भी भानी चाहिये, क्योंकि वैराग्यभावना रूपी माता और भेदविज्ञान रूपी पिता ये ही सिद्धि के जनक हैं। घोर उपसर्ग में भी वैराग्यभावना ही शान्ति का सच्चा उपाय है।

सुख की सहेली है अकेली उदासीनता....।
अध्यात्म की जननी अकेली उदासीनता....।।

संसार से उदासीनता और स्वरूप में लीनता ही एकमात्र मुक्ति का उपाय है।

इस क़हानी में चार प्रकार के जीवों का वर्णन आया है, उनमें से पहले प्रकार के जीव तो युधिष्ठर, भीम, अर्जुन हैं; जो चिदानन्दतत्त्व की शान्त अनुभूति में लीन हो गए और उपसर्ग के ऊपर उनका लक्ष्य भी नहीं गया और क्षपकश्रेणी माँडकर पूर्ण वीतरागी हो गए। केवलज्ञान प्राप्त

कर तत्क्षण मोक्ष को प्राप्त हुए। इसप्रकार वे चैतन्यभाव से जरा भी डिगे नहीं, अतः उनको राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई, इसलिए वे परम अहिंसक हुए।

(2) दूसरे प्रकार के जीव नकुल और सहदेव मुनिराज हैं; जिन्होंने शान्ति से उपसर्ग सहन किया, दुश्मन पर क्रोध नहीं किया; लेकिन उन्हें ऐसा विचार आया कि इस उपसर्ग में हमारे भाइयों का क्या हो रहा होगा ? इसप्रकार उनके संज्वलनरूप मोह रह गया, इसलिए उनको राग की उत्पत्ति हुई। तब वे पूर्ण वीतरागभाव में स्थिर न रह सके, पर मात्र विकल्प से चैतन्यभाव की सूक्ष्महिंसा की, इसलिए उन्हें संसार में सर्वार्थसिद्धि का भव मिला, मोक्ष नहीं। इस कारण वे अभी संसार में ही रहे। हाँ, उन्होंने तीव्र उद्वेग का भाव भी नहीं किया, तीन पाण्डवों को बचाने की चेष्टा भी नहीं की, इसलिए उन्हें भी जितनी वीतरागता थी उतनी अहिंसा थी।

(3) तीसरे प्रकार के जीव वे हैं, जिन्होंने यह उपसर्ग देखकर उपसर्ग करनेवालों पर तीव्र क्रोध किया तथा पाण्डवों को जलता देखकर उनपर उन्हें करुणा-दया-अनुकम्पा आदि का भाव हुआ, भक्ति से उन्हें बचाने की चेष्टायें भी कीं।

– इन जीवों ने यद्यपि किसी जीव को मारा नहीं है, तथापि जितने अंश में क्रोधादि/ रागादि भाव किया, उतने अंश में चैतन्यभाव की हिंसा की। अतः दूसरे नम्बरवाले जीवों की अपेक्षा इन जीवों ने अधिक हिंसा की। उनका परिणाम शुभ होने पर भी हम उन्हें अहिंसक नहीं कहेंगे, क्योंकि अहिंसा तो अपने वीतरागभाव को ही स्वीकार करती है। इसलिए किसी जीव को बचाने के उद्वेग परिणामवाला जीव अहिंसक नहीं हो सकता। हाँ, किसी जीव को मारने रूप हिंसा की अपेक्षा वह बचाने का भाव अवश्य श्रेष्ठ होता है। वास्तव में तो स्वरूप में स्थित वीतराग परिणामवाला जीव ही पूरा अहिंसक होता है।

(4) चौथे प्रकार का जीव वह है कि जिसने मुनिराज को मारने का क्रूर परिणाम किया। उसकी तो क्या बात कहें ? उस जीव को तो तीव्र से तीव्र हिंसा हुई।

अतः जिन्हें सच्चा अहिंसक होना हो, उन्हें....

(1) **किसी भी राग को परमधर्मरूप अहिंसा नहीं मानना चाहिए।**
(2) **'जितना राग, उतनी हिंसा'** –ऐसा समझकर उसे छोड़ना चाहिए।
(3) **'जितनी वीतरागता, उतनी अहिंसा'** –ऐसा समझकर उसका आदर करना चाहिये। उसके द्वारा ही भव से पार हुआ जा सकता है।

48

मुनिराज, सुअर और वाघ

(अहिंसा धर्म की कहानी)

एक जंगल की एक रमणीक गुफा में एक भद्रपरिणामी सुअर रहता था। उस जंगल में एक वाघ भी रहता था, वह क्रूरपरिणामी था।

एक वीतरागी मुनिराज विचरण करते हुए, उस जंगल में आये और जिस गुफा में सुअर रहता था, उस गुफा में विराजमान होकर शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मध्यान करने लगे।

मुनिराज को गुफा में देखकर, भद्रपरिणामी सुअर को ऐसा शुभ विचार आया कि अहो ! यह कोई वीतरागी महात्मा मेरी गुफा में पधारे हैं, उन्हें देखकर मुझे अपूर्व शान्ति मिली, इनके पधारने से मेरी गुफा धन्य हुई। मैं किसप्रकार इनकी सेवा करूँ –ऐसे शुभभावपूर्वक वह सुअर गुफा के दरवाजे पर बैठकर मुनिराज की रक्षा करने लगा।

उसी समय गुफा के पास आते हुए वाघ को ऐसा अशुभभाव आया कि मैं इस मनुष्य (मुनिराज) को मारकर खा जाऊँ।

तथा वहाँ स्थित शुद्धोपयोग में लीन वे मुनिराज, न तो सुअर के ऊपर राग करते हैं और न ही वाघ के ऊपर द्वैष करते हैं, वे तो सच्चे वीतरागी सन्त थे।

मुनिराज को खाने के लिए वह वाघ गुफा के पास आया है। –ऐसा ख्याल सुअर को आते ही वह तुरन्त ही बीच में आकर वाघ को रोकने का प्रयास करता है।

वाघ उस पर टूट पड़ा....वाघ और सुअर दोनों लड़ने लगे, खूब लड़े, क्रूर वाघ के सामने भी सुअर ने बराबर की टक्कर ली, उसके मन में एक ही धुन थी कि प्राण देना पड़े तो भी मैं मुनिराज को बचाऊँगा। दोनों बहुत लड़े, एक तो मुनिराज के रक्षण के लिए लड़ता है और दूसरा मुनि के भक्षण के लिए लड़ता है।

लड़ते-लड़ते दोनों ने एक-दूसरे को मार डाला.....दोनों में से वाघ तो मरकर नरक में गया और सुअर मरकर स्वर्ग में गया। मुनिराज तो ध्यान में ही वीतरागभाव से विराजे रहे और केवलज्ञान प्रगटाकर पंचमगति (मोक्षगति) को प्राप्त हुए।

इस दृष्टान्त में तीन पात्र है– **1. सुअर का जीव,** जिसे कषाय में मुनि को बचाने का प्रशस्त भाव/ शुभराग वर्तता है। **2. वाघ का जीव,** जिसे कषाय में मुनि को मारने का अप्रशस्तभाव/ द्वैषभाव वर्तता है। **3. मुनिराज,** जो अकषाय/वीतरागभाव में वर्तते हैं।

अब इसमें हिंसा-अहिंसा किसप्रकार है, इसका विचार करते हैं –

जब हम सुअर और वाघ के परिणामों की तुलना करते हैं तब वाघ की अपेक्षा सुअर का भाव अच्छा दिखाई देता है तथा वाघ की अपेक्षा सुअर की हम प्रशंसा भी करते हैं।

वाघ के द्वारा मुनि की हिंसा नहीं हुई, फिर भी वाघ को अपने क्रूर परिणाम के कारण हिंसा का पाप लगा और वह नरक में गया। सुअर के द्वारा वाघ की हिंसा हुई, फिर भी वह अपने शुभ परिणाम के कारण स्वर्ग में गया। इसलिए मात्र बाह्य में जीवों का मरना या बचना वह हिंसा-अहिंसा नहीं है, बल्कि जीवों के भाव के अनुसार ही हिंसा-अहिंसा है।

इस दृष्टान्त में मुनि की हिंसा भले ही न हुई हो तो भी वाघ द्वारा मुनि को मार डालने के हिंसकभाव को तो किसी प्रकार से भी अच्छा नहीं कहा जा सकता। मुनि को मारने की अपेक्षा मुनि को बचाने का रागभाव ही प्रशंसनीय कहा जायेगा। **– लेकिन –**

अभी भी अपनी बात अधूरी है, क्योंकि अभी तक तो हमने केवल सुअर और वाघ के भावों की तुलना की है, लेकिन तीनों पात्रों को मिलाकर तुलना करना बाकी है।

जब हम मुनिराज को भी साथ में रखकर विचार करते हैं, तब हमें पता चलता है कि वीतरागभाव में विराजमान मुनिराज का भाव ही श्रेष्ठ भाव है, वही अत्यन्त प्रशंसनीय है और उस वीतरागी भाव की तुलना में सुअर का प्रशस्तराग भी प्रशंसनीय नहीं है।

मुनिराज का वीतरागभाव ही परम अहिंसारूप होने से उसकी हम प्रशंसा करते हैं और वह ही मोक्ष का कारण है। उस वीतरागभाव के सामने सुअर के रागभाव को हम 'परम' अहिंसा नहीं कह सकते, अपितु उसे भी 'हिंसा की कक्षा में ही रखा जायेगा। भले ही उस राग को 'प्रशस्त' विशेषण लगावें, तो भी उसे हिंसा तो कहना ही पड़ेगा; क्योंकि जितना राग है, उतनी हिंसा है।

पीतल को प्रशस्त विशेषण लगावें और 'प्रशस्त पीतल' ऐसा कहें, तब भी उसे 'स्वर्ण' की जाति में तो नहीं रख सकते। जैसे कोई रागादि रूप हिंसा को प्रशस्त विशेषण लगावे, लेकिन इससे वह अहिंसा तो नहीं हो जावेगी। अत: शुभरागवाला वह सुअर का जीव भी आगे चलकर जिस समय राग का अभाव करके चैतन्यभाव प्रगट करेगा, उसी समय वह वीतरागभावरूप 'अहिंसा' धर्म के द्वारा मोक्ष को साधेगा। यही **'अहिंसा परमो धर्मः'** का स्वरूप है।

मुनि के वीतरागभाव को और सुअर के रागभाव को हमने एक कक्षा में नहीं रखा, क्योंकि दोनों की जाति एक-दूसरे से विरुद्ध है। मुनि को मारने के भाव की अपेक्षा, बचाने का भाव उत्तम होते हुए भी दोनों की कक्षा एक है। जैसे एक ही वर्ग में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में एक प्रथम नम्बर से पास होवे और दूसरा आखरी नम्बर से पास होवे, तो भी दोनों की कक्षा एक ही है।

वाघ और सुअर दोनों में जितना रागादि कषायभाव है, उतनी हिंसा है तथा जो हिंसा है, वह अहिंसा नहीं, इसलिए धर्म भी नहीं। **मुनिराज का वीतराग भाव, वह अहिंसा है और वही धर्म है। ऐसे वीतरागी अहिंसा धर्म की जय हो !**

सम्यक्त्व का माहात्म्य

सम्यग्दर्शन से रहित जीव अनेक व्रत-दानादि पुण्य करके, उसके फल में इन्द्रिय भोगों को पाकर पश्चात् भव-अरण्य में भ्रमण करते हैं।

सम्यक्त्व के बल से जिन कर्मों का सहज में नाश हो जाता है, वे कर्म सम्यक्त्व बिना घोर तपश्चरण से भी नाश नहीं होते।

सम्यक्त्वादि से विभूषित गृहस्थपना भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह व्रत-दानादि से संयुक्त है और भविष्य में निर्वाण का कारण है। **– सकलकीर्ति श्रावकाचार से साभार**

49

एक सिंह की आत्मकथा

(जब जाग जाओ तभी है सबेरा)

एकबार मैं माँस-भक्षी सिंह था, उस समय महाभाग्य से मुझे मुनिवरों का समागम मिला....उन मुनिवरों के क्षणिक समागम से मेरा क्रूर परिणाम तुरन्त ही छूटा और शान्त परिणाम हुआ....और उनके उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त करके मैं परमात्म-पंथ का पथिक बन गया....।

उन मुनिवरों के समागम की अपनी यह सुन्दर कहानी मैं आपको सुनाता हूँ, उसे आप आनन्द से सुनो –

अनादि-अज्ञान के वशीभूत हुआ मैं भटकते-भटकते एकबार श्री ऋषभदेव का पौत्र हुआ, तब भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि मैं भविष्य में तीर्थंकर होऊँगा। यह सुनकर मुझे हर्ष के साथ अभिमान पैदा हो गया....अरे रे ! उस समय मेरे दादाजी आदि-तीर्थंकर की धर्मकथा में भी मैंने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया....और मिथ्यादृष्टि रहकर असंख्य भव धारण कर नरक-निगोद में जाकर दुखी हुआ।

फिर एक बार सुन्दर बगीचे के निमित्त से संसार से विरक्त होकर मैंने आत्मज्ञान प्राप्त किया था। अरे रे ! फिर विषय-कषाय के वश होकर मैं उसे भूल गया और नरक-तिर्यंच गति में चला गया।

एकबार मैं सिंह हुआ.., तब जंगल में हिरण को मारकर माँस खाने की तैयारी कर रहा था; तब एकाएक दो सौम्य मुद्राधारी मुनिराजों ने आकाश मार्ग से उतरकर मुझे दर्शन दिये....कैसा अद्भुत था उनका दैदीप्यमान मुख-मण्डल ! उनकी मुद्रा कैसी अपार शान्त और निर्भय !! बस, वे मुझसे बिना डरे शान्त नजर से मुझे वात्सल्यभाव से देख रहे थे। उन्हें देखकर मैं तो मुग्ध हो गया, अहा ! कैसी सुशोभित हो रही थी – उनकी करुणापूर्ण मधुर नजर !!

कौन हैं ये महापुरुष ? किसलिए यहाँ पधारे हैं ? मेरे कोई परम हितैषी लगते हैं। मेरा चित्त उनमें ऐसा स्थिर हो गया कि मैं भूखा था और पास में ही मेरा शिकार – मरा हुआ हिरण पड़ा था, फिर भी मेरी उसे खाने की इच्छा सर्वथा समाप्त हो गयी थी....उस समय मुझे विचार आ रहा था कि अरे, कहाँ मेरी हिंसक वृत्ति ! और कहाँ इन मुनिवरों की परम शान्ति !!....

उनका साथ मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। आश्चर्य दृष्टि से मैंने पूछा – "हे प्रभो ! आप यहाँ क्यों पधारे हो ? आपके पास मुझे महान शान्ति मिल रही है।"

मुनिराज ने वात्सल्यपूर्ण हृदय से मुझे सम्बोधन किया –

"हे भव्य ! हम भगवान के पास से आ रहे हैं....और तुम्हें आत्मज्ञान प्राप्त कराकर तुम्हारा उद्धार करने के उद्देश्य से ही यहाँ आये हैं।"

अहो ! कैसी आनन्द की बात !! ऐसे महान महात्मा आकाश मार्ग से मेरा उद्धार करने पधारे और वह भी परमेश्वर के पास से ! धन्य भाग्य !! "अब वे मुझसे क्या कहेंगे ?" – यह सुनने के लिए मेरा मन आतुर होने लगा। तब उनके श्रीमुख से अमृत की धारा झरने लगी –

"सुनो भव्य ! इस भव से दस भव बाद तुम (तुम्हारा ही आत्मा), भरतक्षेत्र में तीर्थंकर महावीर बनोगे और वीतरागी-अहिंसा धर्म का उपदेश देकर लाखों-करोड़ों जीवों का कल्याण करोगे।"

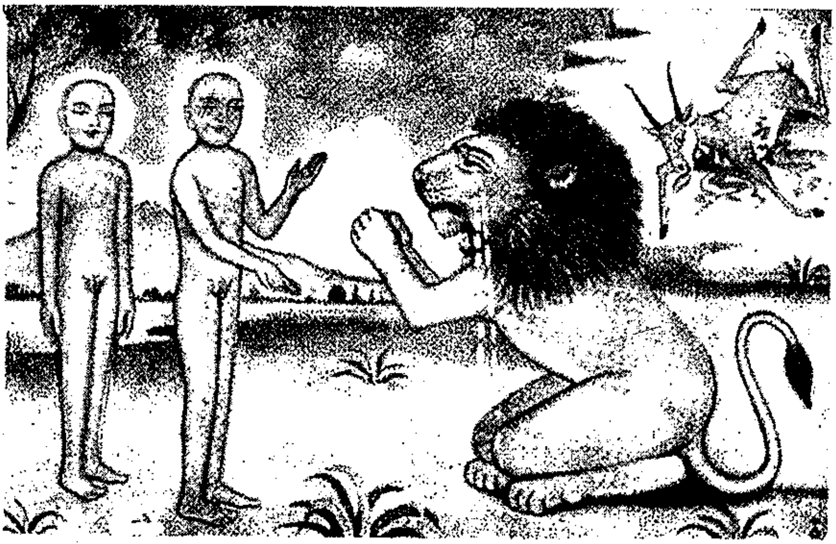

"अरे, मैं यह क्या सुन रहा हूँ। मैं तीर्थंकर बनूँगा ! अरे, मेरा यह माँसाहार का परिणाम शोभा नहीं देता। मैं यह क्या कर रहा हूँ !" – इसप्रकार मैं पश्चाताप करने लगा।

तब मुनिराज ने मुझे आश्वासनपूर्वक कहा – "हे वत्स ! भूतकाल तो बीत गया....अब उसकी चिंता छोड़ो....ये माँस-भक्षणादि पाप भावों को सर्वथा छोड़ो....तुम्हारा आत्मा रागादि विकारों से भिन्न ज्ञानस्वरूपी है और उसमें ही शान्ति है, उसे तुम जानो....और अपने में शान्ति का अनुभव करो !"

बस, यह सुनकर मैं तो अन्दर आत्मस्वरूप के विचार में खो गया, कैसा है आत्मा ? राग से भिन्न, हिंसा के भाव से भिन्न, शान्त-शान्त....ऐसे आत्मा में कितना आनन्द होगा ! मैं उसे अन्दर देखने का उद्यम करने लगा।

मुनिराज का साथ मुझे बहुत उत्साह जागृत करा रहा था और उनका शान्तस्वरूप मुझे मेरे आत्मस्वरूप की प्रतीति उत्पन्न करा रहा था। मुनिवरों के क्षणभर के समागम से ही मेरे परिणाम में कोई आश्चर्यजनक महान परिवर्तन हो रहा था....। मुनिराज ने मुझे आत्मज्ञान कराने के लिए बहुत प्रेम से कहा – "हे भव्य ! अन्दर में देख....आत्मा कितनी सुन्दर वस्तु है ! स्व से एकत्वरूप और पर से विभक्तरूप वह कैसी शोभती है ! उसमें चैतन्यसुख का खजाना भरा हुआ है।"

मैंने अपने अन्दर देखा – "अहो, अद्भुत ! आश्चर्यकारी !! जिसे देखकर मेरी खुशी का पार नहीं रहा....बस ! अपनी आत्मा को देखते ही मेरा अज्ञान दूर हो गया। आत्मा के शान्तरस के स्वाद से महान तृप्ति हुई....उस समय मुझे क्रूर कषाय परिणाम से भिन्न आत्मा का भान हो गया....और कषाय से भिन्न शान्त परमात्म-तत्त्व को जानकर, मैं भी परमात्म-पंथ का पथिक बन गया। इसके बाद आत्म-साधना करते-करते दस भव बाद मैं तीर्थंकर महावीर बनूँगा।"

इसप्रकार मुनिवरों के क्षणिक के समागम से मुझे जो महान आत्मलाभ हुआ, उसकी यह सुन्दर बात सुनकर हे साधर्मी मित्रो ! तुम भी ज्ञानियों का, मुनिराजों का सत्संग करो और आत्मलाभ प्राप्त करो....।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

अहो, यह सम्यग्दर्शन सकल सुख का निधान है, स्वर्ग-मोक्ष का द्वार है, नरक गृह का दरवाजा बन्द करने के लिए फाटक है, कर्म रूपी हाथी का नाश करने के लिए सिंह है, दुरित वन को छेदने वाली कुल्हाड़ी है और समस्त सुख की खान है। अतः हे भव्य ! तू समस्त प्रकार के सन्देह से रहित होकर ऐसे सम्यक्त्व को भज !

इसलिए हे मित्र ! कर्म रूपी पर्वत को चूर-चूर करने के लिए वज्रपात के समान, दुःख रूपी दावानल को शान्त करने के लिए घमासान मेघ के समान, सारभूत ऐसे मोक्ष सुख को देने वाला और गुणों का घर – ऐसा यह सम्यग्दर्शन है, उसे तू मोक्ष की प्राप्ति के लिए निरन्तर भज !

अहो ! यह सम्यग्दर्शन मोक्ष फल को देने वाला सच्चा कल्पवृक्ष है, **जिनवर-वचन की श्रद्धा इसका मूल है, तत्त्व-श्रद्धा इसका मजबूत आधार है, समस्त गुणों की उज्ज्वलता रूप जल-सिंचन से वर्द्धमान है, चारित्र उसकी शाखायें हैं, सभी समितियाँ उसके पत्र-पुष्प हैं और मोक्षसुख रूपी फल के लिए वह लालायित हो रहा है। – इसप्रकार यह सम्यग्दर्शन सर्वोत्तम कल्पवृक्ष** है। अहो जीवो ! उसका सेवन करो !

– सकलकीर्ति श्रावकाचार से साभार

50

त्रिलोकमण्डन हाथी

बात रामचन्द्रजी के समय की है। एक था हाथी.....बहुत ही बड़ा हाथी ! बहुत ही सुन्दर हाथी !

एक बार लंका के राजा रावण को श्री सम्मेदशिखर-क्षेत्र देखकर बहुत खुशी हुई, अतः उसने पर्वत के पास ही अपना पड़ाव डाला और वहीं कुछ समय के लिए रुक गया।

वहाँ एकाएक मेघ-गर्जना के समान एक गजराज की आवाज सुनाई देने लगी, लोग भय से यहाँ-वहाँ भागने लगे, लश्कर के हाथी, घोड़े आदि भी डर से चीत्कार करने लगे। रावण ने इस कोलाहल को सुनकर देखा कि एक बहुत ही विशालकाय और अत्यन्त बलवान हाथी झूमता-झूमता आ रहा है, यह उसकी ही गर्जना है और उससे ही डरकर लोग भाग रहे हैं, हाथी बहुत ही सुन्दर था। उस मदमस्त हाथी को देखकर रावण खुश हुआ, उसे उस हाथी के ऊपर सवारी करने का मन होने लगा, वह हाथी को पकड़ने के लिए हाथी के सामने गया, रावण को देखते ही हाथी भी रावण की ओर ही दौड़ने लगा, लोग आश्चर्य से देखने लगे कि अब क्या होगा ?

राजा रावण बहुत ही बहादुर था, 'गजकेली' में अकेले ही हाथी के साथ खेलने की कला में होशियार था। पहले उसने अपने कपड़ों का गड्ढा बनाकर हाथी के सामने फैंका, जब हाथी उस कपड़े के गड्ढे को सूँघने के लिए रुक गया, तभी रावण छलांग मारकर उस हाथी के मस्तक के ऊपर चढ़ गया और उसके कुंभस्थल पर मुट्ठी से प्रहार करने लगा।

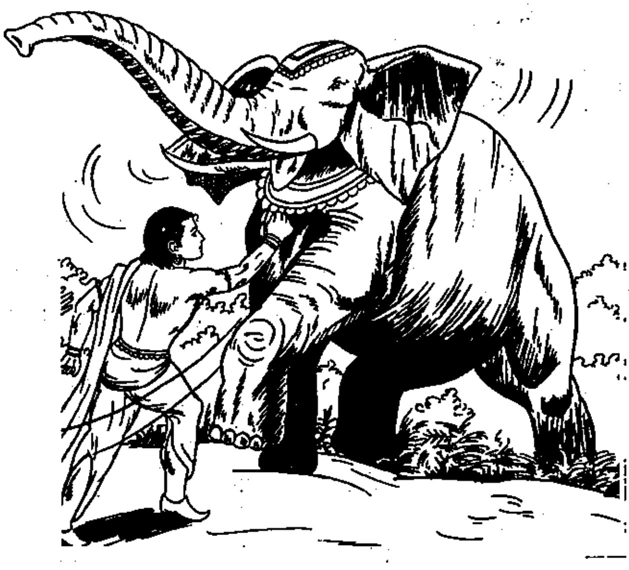

हाथी घबरा गया, उसने सूँड ऊपर करके रावण को पकड़ने की बहुत चेष्टा की, फिर भी रावण उसके दोनों दंतशूल के बीच से सरक कर नीचे उतर गया। इसप्रकार रावण ने कई बार हाथी के साथ खेल कर हाथी को थका दिया और फिर

रावण हाथी की पीठ पर चढ़ गया। जैसे हाथी भी राजा रावण को समझ गया हो – इसतरह शान्त होकर विनयवान सेवक की भाँति खड़ा हो गया। रावण उसके ऊपर बैठकर पडाव की ओर आया। वहाँ चारों ओर उसकी जय-जयकार होने लगी।

रावण को यह हाथी बहुत अच्छा लगा, इसलिये उसे वह लंका ले गया। लंका जाकर उस हाथी की प्राप्ति की खुशी में उत्सव मनाकर उसका नाम "**त्रिलोकमण्डन**" रखा। रावण के लाखों हाथियों में वह प्रमुख हाथी था।

जब रावण सीता का हरण करके ले गया। तब राम-लक्ष्मण ने लड़ाई करके रावण को हराया और सीता को लेकर अयोध्या आये, उसीसमय लंका से उस त्रिलोकमण्डन हाथी को भी साथ ले आये। राम-लक्ष्मण के 42 लाख हाथियों में वह सबसे बड़ा हाथी था और उसका बहुत मान था।

राम के भाई भरत अत्यन्त वैरागी थे, जैसे शिकारी को देखकर हिरण भयभीत होता है, उसीप्रकार भरत का चित्त संसार के विषय-भोगों से अत्यन्त भयभीत था और वे संसार से विरक्त होकर मुनि होने के लिए उत्सुक थे।

जिसप्रकार पिंजरे में कैद सिंह खेदखिन्न रहता है और वन में जाने की इच्छा करता है, उसी प्रकार वैरागी भरत गृहवासरूपी पिंजरे से छूट कर वनवासी मुनि बनना चाहते थे। लेकिन राम-लक्ष्मण ने आग्रह करके उन्हें रोक लिया। उन्होंने उदास मन से कुछ समय तो घर में बिताया, लेकिन अब वे रत्नत्रयरूपी जहाज में बैठकर संसार-समुद्र से पार होने के लिए तैयार थे।

एकबार भरत सरोवर के किनारे गये हुए थे, गजशाला में बँधा त्रिलोकमण्डन हाथी एकाएक किसी कारण क्षुब्ध होकर गर्जना करने लगा और सांकल तोड़कर भयंकर आवाज करते हुए भागने लगा। हाथी की गर्जना सुनकर अयोध्या-वासी भयभीत हो गये, हाथी तो दौड़ने लगा, राम-लक्ष्मण उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ने लगे। दौड़ते-दौड़ते वह हाथी सरोवर के किनारे जहाँ भरत थे, वहाँ आया। लोग चिंतित हो गये हाय ! हाय !! अब क्या होगा ? रानियाँ और प्रजाजन रक्षा के लिए भरत के पास आये। उनकी माँ कैकेयी भी भय से हाहाकार करने लगी।

वह दौड़ता हुआ हाथी अचानक भरत के पास आकर खड़ा हो गया, भरत ने हाथी को देखा और हाथी ने भरत को देखा। बस, भरत को देखते ही हाथी एकदम शान्त हो गया और उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया, उससे उसने जाना कि "अरे, हम दोनों मुनि हुए थे और फिर छठवें स्वर्ग

में दोनों साथ थे। अरे रे ! पूर्वभव में मैं और भरत साथ में ही थे; परन्तु मैंने भूल की उससे मैं देव से पशु हुआ। अरे ! इस पशु पर्याय को धिक्कार है !''

भरत को देखते ही हाथी एकदम शान्त हो गया और जैसे गुरु के पास शिष्य विनय से खड़ा रहता है, वैसे ही भरत के पास हाथी विनय से खड़ा हो गया। भरत ने प्रेम से उसके माथे पर हाथ रखकर मूक स्वर में कहा – ''अरे गजराज ! तुम्हें यह क्या हुआ ? तुम शान्त हो !! यह क्रोध तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम चैतन्य की शान्ति को देखो।''

भरत के मधुर वचन सुनते ही हाथी को अपूर्व शान्ति मिली, उसकी आँखों में से आँसू गिरने लगे, वह वैराग्यपूर्वक विचार करने लगा कि ''अरे, अब पश्चाताप करने से क्या लाभ ? अब मेरा आत्मकल्याण हो और मैं इस भवदु:ख से मुक्त होऊँ – ऐसा उपाय करूँगा। ''

इसप्रकार परम वैराग्य का चिन्तन करते हुए हाथी एकदम शान्त होकर भरत के सामने टुकुर-टुकुर (एकटक) देखते हुए खड़ा रहा। जैसे कह रहा हो –

''हे बन्धु ! तुम पूर्वभव के मेरे मित्र हो, पूर्वभव में स्वर्ग में हम दोनों साथ थे, अब मेरा आत्मकल्याण कराकर इस पशुगति से मेरा उद्धार करो।''

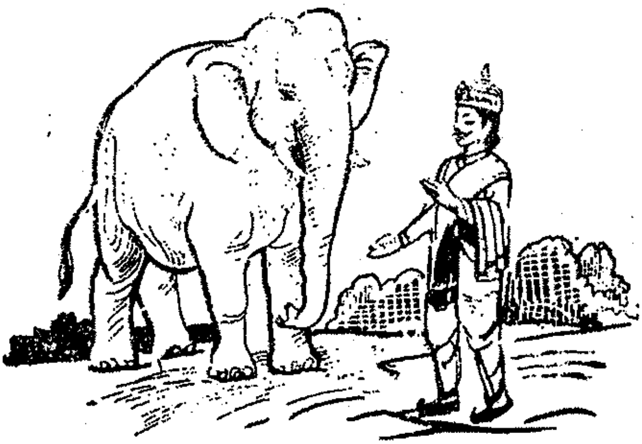

(वाह रे वाह ! धन्य हाथी ! तुमने हाथी होकर भी आत्मा के कल्याण का महान कार्य आरम्भ कर दिया। पशु पर्याय में होने पर भी अब तुमने परमात्मा को समझने के लिए अपना शेष जीवन लगा दिया। अहो गजराज ! धन्य हो तुम्हें !!)

हाथी को एकाएक शान्त हुआ देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ – ''अरे यह क्या हुआ ? भरत ने हाथी के ऊपर कैसा जादू किया ? वह एकाएक शान्त कैसे हो गया ?''

भरत उसके ऊपर बैठकर नगरी में आया और हाथी को गजशाला में छोड़ दिया, अब महावत उसकी खूब सेवा करते, उसे मोहित करने के लिए संगीत बजाते, उसको प्रसन्न करने का उपाय करते; लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि हाथी अब कुछ खाता नहीं, संगीत आदि पर भी ध्यान नहीं देता, सोता भी नहीं, क्रोध भी नहीं करता, वह एकदम उदास ही रहता है। अपने आप

में आँख बन्द करके शान्त होकर बैठा रहता है और आत्महित की बात ही विचारता रहता है। जाति-स्मरणपूर्वक वह अपने आत्मा को प्राप्त करके अब संसार और शरीर से अत्यन्त विरक्त हो गया.....।

इसी प्रकार खाये-पिये बिना ही एक दिन हो गया, दो दिन हो गये, चार दिन हो गये.....तब महावत ने राजा रामचन्द्र के पास आकर कहा–

"हे राजन् ! यह हाथी चार दिन से कुछ भी नहीं करता – न कुछ खाता-पीता है, न सोता है और न ही क्रोध करता है। शान्त होकर बैठा रहता है और पूरे दिन न जाने किसका ध्यान करता है। उसे रिझाने के लिए हमने बहुत प्रयत्न किये, लेकिन उसके मन में क्या है ? पता ही नहीं चलता, बड़े-बड़े गजवैद्यों को दिखाया, वे भी हाथी के रोग को नहीं जान सके – यह हाथी अपनी सेना की शोभा है। यह बड़ा बलवान है – इसे एकाएक यह क्या हो गया ? वह हमारी समझ में नहीं आता, इसलिए आप ही कोई उपाय कीजिए !

इसी समय अचानक एक सुन्दर बनाव बना। अयोध्या नगरी में दो केवली भगवंत पधारे.....उनके नाम थे – देशभूषण और कुलभूषण। (राम और लक्ष्मण ने वन गमन के समय वंशधर पर्वत पर इन युगल मुनिवरों के उपसर्ग को दूर करके बहुत भक्ति की थी और उसी समय उन दोनों मुनिवरों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।) वे जगत के जीवों का कल्याण करते हुए अयोध्या नगरी में पधारे। भगवान के पधारने से पूरी नगरी में आनन्द ही आनन्द छा गया। सब उनके दर्शन करने के लिए चले...... राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न भी उस त्रिलोकमण्डन हाथी के ऊपर बैठकर उन भगवन्तों के दर्शन करने के लिए आये..... और धर्मोपदेश सुनने के लिए बैठे। भगवान ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का अद्भुत उपदेश दिया, उसे सुनकर सभी बहुत आनन्दित हुए।

त्रिलोकमण्डन हाथी भी उन केवली भगवन्तों के दर्शन से बहुत ही प्रसन्न हुआ और धर्मोपदेश सुनकर उसका चित्त संसार से उदास हो गया, उसने अपूर्व आत्मशान्ति प्राप्त की। उसने भगवन्तों को नमस्कार करके श्रावक के व्रत अंगीकार किये।

धन्य है गजराज तुमको ! तुमने आत्मा को समझकर जीवन सफल बनाया ! तुम पशु नहीं देव हो, धर्मात्मा हो, देवों से भी महान हो।

बालको, देखो ! जैनधर्म का प्रताप !! एक हाथी जैसा पशु का जीव भी जैनशासन प्राप्त करके

कितना महान हो गया ! तुम भी ऐसे महान जैनशासन को प्राप्त करके, हाथी की भाँति आत्मा को समझकर, उत्तम वैराग्यमय जीवन जियो !

भगवान का उपदेश सुनकर महाराज लक्ष्मण को यह जानने की जिज्ञासा हुई कि – "यह त्रिलोकमण्डन हाथी पहले गजबन्धन तोड़कर क्यों भागा ? और फिर भरत भैया को देखकर एकाएक शान्त क्यों हो गया ?"

तब भगवान की वाणी में आया कि भरत का जीव और हाथी का जीव दोनों पूर्वभव में मित्र थे, उनके पूर्वभव का वृत्तान्त इसप्रकार है, उसे सुनो –

"भरत और त्रिलोकमण्डन हाथी दोनों जीव बहुत भव पहले भगवान ऋषभदेव के समय में चंद्र और सूर्य नाम के दो सगे भाई थे। मारीचि के मिथ्या उपदेश से कुधर्म की सेवा करके दोनों ने बंदर, मोर, तोता, सर्प, हाथी, मेंढक, बिल्ली, मुर्गा आदि बहुत भव धारण किये और दोनों ने एक-दूसरे को बहुत बार मारा, कई बार भाई हुए, फिर पिता-पुत्र हुए। इसप्रकार भवभ्रमण करते-करते कितने ही भव बाद भरत का जीव तो जैनधर्म प्राप्त कर मुनि होकर छठे स्वर्ग में गया और यह हाथी का जीव भी पूर्वभव में वैराग्य प्राप्त करके मृदुयति नाम का मुनि हुआ।

एकबार एक नगर में दूसरे एक महाऋद्धिधारी मुनिराज पधारे, वे बहुत गुणवान और तपस्वी थे, उन्होंने चातुर्मास में चार माह के उपवास किये और फिर चातुर्मास पूरा होने पर अन्यत्र विहार कर गये। तभी उस नगर में मृदुयति मुनि (हाथी का जीव) आये, तब भूल से लोगों ने उन्हें ही महा-तपस्वी समझ लिया और सम्मान करने लगे। उन्हें ख्याल आया कि लोग भ्रम से मुझे ऋद्धिधारी तपस्वी समझ कर मेरा आदर कर रहे हैं – ऐसा जानते हुए भी मान (घमण्ड) के वश में उन्होंने लोगों को सच्ची बात नहीं बताई कि वे तपस्वी मुनिराज तो दूसरे थे और मैं दूसरा हूँ।

अत: यह मायाचार करने का परिणाम उनके तिर्यंचगति के बन्ध का कारण बना; लेकिन मुनिपने के प्रभाव से वह जीव वहाँ से मर कर प्रथम तो छठे स्वर्ग में गया। भरत का जीव भी वहाँ था, वे दोनों देव मित्र थे। उनमें से एक तो इस अयोध्या का राजपुत्र भरत हुआ है और दूसरा जीव मायाचारी के कारण यह हाथी हुआ है। उसके मनोहर रूप को देखकर लंका के राजा रावण ने उसे पकड़ लिया और उसका नाम त्रिलोकमण्डन रखा।"

देशभूषण-केवली की सभा में अपने पूर्वभव की बात सुनकर वैरागी भरत ने वहीं जिनदीक्षा धारण कर ली और फिर केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष प्राप्त किया। उनका मित्र त्रिलोकमण्डन

हाथी भी संसार से विरक्त हुआ, उसने भी आत्मानुभव प्रकट करके श्रावक के व्रत अंगीकार किये। वाह ! हाथी का जीव श्रावक बना.... पशु होने पर भी देवों से भी महान बना और अब अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करेगा।

श्री देशभूषण-केवली प्रभु की वाणी में आई हाथी की सरस बात सुनकर राम-लक्ष्मण आदि सभी आनन्दित हुए। हे भव्य पाठको ! तुम्हें भी आनन्द आया होगा। और हाँ ! तुम भी हाथी के समान अपनी आत्मा को जिनधर्म में लगाओगे और मान-माया आदि सभी प्रकार के विकारी भावों को छोड़ोगे, तो तुम्हारा भी कल्याण होगा। हाथी और भरत के पूर्वभव की बात सुनकर राम-लक्ष्मण आदि सभी को आश्चर्य हुआ। भरत के साथ एक हजार राजा भी जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए। भरत की माता कैकेयी भी जिनधर्म की परम भक्त बनकर, वैराग्य प्राप्त कर आर्यिका हुई। उनके साथ 300 स्त्रियों ने भी पृथ्वीमति माताजी के पास जिनदीक्षा ली। (बाद में सीताजी ने भी उन पृथ्वीमति माताजी के ही संघ में आर्यिका दीक्षा ली थी।)

त्रिलोकमण्डन हाथी का हृदय तो केवली भगवान के दर्शन से फूला नहीं समा रहा था, पूर्वभव को सुनकर और आत्मज्ञान प्राप्त करके वह एकदम शान्त हो गया था। अब सम्यग्दर्शन सहित वह हाथी वैराग्यपूर्वक रहता और श्रावक के व्रतों का पालन करता, पन्द्रह-पन्द्रह दिन या महिने-महिने भर के उपवास करता। अयोध्या के नगरजन बहुत वात्सल्यपूर्वक उसे शुद्ध आहार-पानी के द्वारा उसको भोजन कराते – ऐसे धर्मात्मा हाथी को देखकर सब उसके ऊपर बहुत प्रेम करते। अनशन आदि तप करने से धीरे-धीरे उसका शरीर दुर्बल होने लगा और अन्त में धर्मध्यान पूर्वक, देह छोड़कर वह छठवें स्वर्ग में गया..... और अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त किया।

बालको ! हाथी की सरस चर्चा पूरी हुई, उसे पढ़कर, तुम भी हाथी जैसे बनो, हाथी जैसे मोटे नहीं, लेकिन हाथी जैसे धर्मात्मा हो जाओ, आत्मा को समझकर मोक्ष की साधना करो।

क्षमा और शांति में सुखी रहै सदैव जीव,
क्रोध में न एक पल रहै सुख चैन से।
आवत ही क्रोध अङ्ग अङ्ग से पसेव गिरै,
होठ डसै, दाँत घिसै, आग झरै नैन से॥
औरन को मारै, आपनो शरीर कूटि डारै,
नाक भौं चढ़ाय कुराफात बकै बैन से।
ज्ञान ध्यान भूलि जात, आपा पर करै घात,
ऐसे रिपु क्रोध को भगावो क्षमा सैन से॥

51

वज्रघोष हाथी की आत्मकथा

(पाठको ! पहले तुमने ''त्रिलोकमण्डन'' नाम के हाथी की कहानी पढ़ी, अब दूसरे ''वज्रघोष'' हाथी की कहानी तुम स्वयं उस हाथी के मुख से ही सुनो, तुम्हें इसे सुनकर हृदय में आनन्द और धर्म-धर्मात्मों के प्रति प्रीति होगी।)

एक धर्मात्मा हाथी अपनी जीवन कथा इसप्रकार कहता है –

भगवान ऋषभदेव के पुत्र महाराज बाहुबली की राजधानी पोदनपुर....जहाँ से असंख्यात राजा मोक्षगामी हुए।..... बाद में यहाँ एक अरविन्द नाम का राजा हुआ .....। मैं (हाथी का जीव) पूर्वभव में इसी अरविन्द महाराजा के मंत्री का पुत्र था, मेरा नाम मरुभूति था और कमठ मेरा बड़ा भाई था।

एक बार हमारे बड़े भाई कमठ ने क्रोधावेश में आकर पत्थर की बड़ी शिला पटक कर मुझे मार दिया..... सगे भाई ने बिना किसी अपराध के मुझे मार डाला.... रे संसार !

उस समय मैं अज्ञानी था, इसलिए आर्त्तध्यान से मर कर तिर्यंच गति में हाथी हुआ, मुझे लोग 'वज्रघोष' नाम से बुलाते थे। मेरा भाई कमठ क्रोध से मरकर भयंकर सर्प हुआ। तथा महाराजा अरविन्द दीक्षा लेकर मुनि हुए।

हाथी अपनी आपबीती बताते हुए आगे कहता है – हाथी के इस भव में मुझे कहीं आराम नहीं मिलता था..... मैं बहुत क्रोधी और विषयासक्त था..... मैं सम्मेदशिखर के पास एक वन में रहता था, भविष्य में जहाँ से मैं मोक्ष प्राप्त करूँगा – ऐसे महान सिद्धधाम के समीप रहते हुए भी उस समय मेरी आत्मा सिद्धपंथ को नहीं जानती थी। उस वन का अपने को राजा मानने से वहाँ से निकलनेवाले मनुष्यों एवं अन्य जानवरों को मैं बहुत दुःख देता था।

एक बार एक महान संघ सम्मेदशिखरजी तीर्थ की यात्रा करने जा रहा था, हजारों मनुष्यों की भीड़ थी। हमारे राजा अरविंद – जो मुनि हो गये थे। वे मुनिराज भी इस संघ के साथ ही थे..... लेकिन पहले मुझे इस बात की खबर नहीं थी।

उस महान संघ ने मेरे वन में पडाव डाला..... मेरे वन म इस संघ का कोलाहल मुझसे सहन नहीं हुआ... क्रोध से पागल होकर मैं दौड़ने लगा और जैसे ही कोई मेरे चंगुल में आया, उसको

मैं कुचलने लगा..... कितने ही मनुष्यों को सूँड से पकड़कर ऊँचा उछाला, कितने ही को पैर के नीचे कुचल डाला..... रथ, घोड़ा वगैरह आदि को भी मैंने बहुत नुकसान पहुँचाया। संघ में चारों ओर हा-हाकार और भगदड़ मच गई।

क्रोध के आवेग में दौड़ते-दौड़ते मैं एक वृक्ष के पास आया..... वृक्ष के नीचे एक मुनिराज बैठे थे.... उन्होंने अत्यन्त शान्त-मधुर मीठी नजरों से मेरी ओर देखा.... हाथ ऊँचा करके वे मुझे आशीर्वाद दे रहे थे... अथवा मानों आदेश दे रहे थे कि 'रुक जा'।

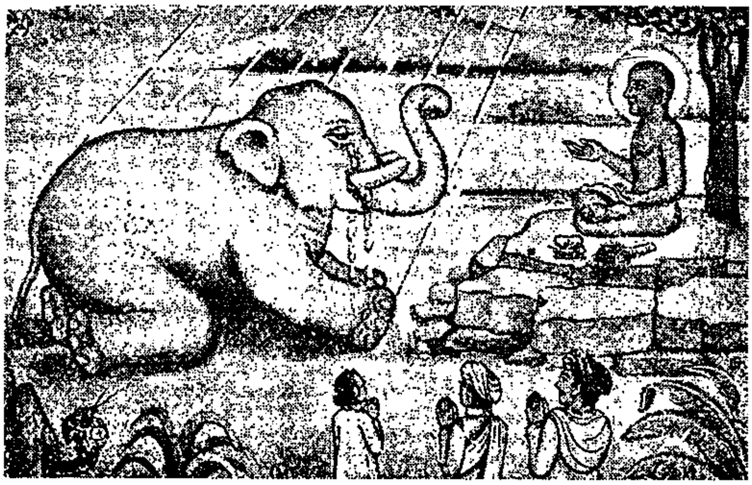

मुनिराज को देखते ही मैं अचानक स्तब्ध रह गया, क्रोध को भूल गया.....। मुनिराज मेरी ओर ही देख रहे थे..... मुझे बहुत अच्छा लगा... जैसे वे मेरे कोई परिचित हों – इसप्रकार मेरे हृदय में प्रेम भाव जाग गया।

अहा ! मुनि महाराज के सान्निध्य से क्षणमात्र में मेरे परिणाम चमत्कारिक ढंग से पलट गये...., क्रोध के स्थान पर शान्ति मिल गई।

जब मैं मुनिराज की ओर टकटकी लगाकर देख रहा था, तब मुनिराज भी करुणादृष्टि से मुझे सम्बोधित करते हुए बोले – "हे गजराज ! हे मरुभूति ! तू शान्त हो ! तुझे क्रूरता शोभा नहीं देती... पूर्वभव में तू मरुभूति था और अब भरत क्षेत्र का तेईसवाँ तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ होगा। तुम्हारी महान आत्मा इस क्रोध से भिन्न, अत्यन्त शान्त चैतन्य स्वरूप है ... उसे तू जान !"

अहा ! मुनिराज मुझे अत्यन्त शान्तिदायक वचनामृत पिला रहे थे.... मैं मुग्ध होकर उनकी ओर देखता रहा..... इतने में मेरी नजर उनकी छाती के श्री वत्स चिह्न के ऊपर पड़ी..... मेरे अन्तर में स्मृति जागी.... अरे, इन्हें तो मैंने पहले भी कभी देखा है ! ये कौन हैं ? ये तो मेरे राजा अरविन्द हैं, अहा ! ये राजपाट छोड़कर मुनिदशा में वीतरागता से कैसे सुशोभित हो रहे हैं ! इनके पास मुझे कितनी शान्ति मिल रही है ! अहो, इन मुनिराज की निकटता प्राप्त करने से मैं क्रोध के घोर दुःख से छूट गया.....और ये मुझे मेरा शान्त तत्त्व बता रहे हैं – ऐसा विचार करके मैं विनय से सूँड नवाकर श्री मुनिराज के सन्मुख खड़ा रहा... अब मेरा महा उपद्रव शान्त हो गया था और मेरी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी थी।

मुनिराज ने मेरी सूँड पर हाथ रखकर प्रेम से कहा – ''वत्स ! तू शान्त हो ! मैं अरविन्द राजा मुनि हुआ हूँ और तू इससे पहले के भव में मेरे मंत्री का पुत्र (मरुभूति) था.... उसे याद कर ! यह सुनते ही मुझे मेरे पूर्वभव की याद आई, जातिस्मरण हुआ और वैराग्य से मेरे परिणाम विशुद्ध होने लगे....।

श्री मुनिराज ने कहा – 'हे भव्य ! पूर्वभव में तुम्हारे सगे भाई ने ही तुझे मारा था.... ऐसे संसार से अपने चित्त को तू विरक्त कर.... क्रोधादि परिणामों को छोड़कर शान्त चित्त से अपने आत्मतत्त्व का विचार कर.... तू कौन है ? तू हाथी नहीं, तू क्रोध नहीं, शरीर और क्रोध दोनों से भिन्न तू तो चेतन्यस्वरूप है...अरे ! अपने चैतन्यस्वरूप को तू समझ...।'

श्री मुनिराज की मधुर वाणी मेरी आत्मा को जागृत करने लगी.... मुनिराज की वीतरागी शान्ति को देखकर मैं मुग्ध हो गया, कितने निर्भय, कितने शान्त ! कितने दयालु ! मेरे क्रोध की अशान्ति और मुनिराज की शान्ति इन दोनों के महान अन्तर का ज्ञान होते ही मेरा उपयोग क्रोध को तज कर क्षमा की ओर जाने लगा.... क्रोधरूपी पागलपन कहीं दूर चला गया।

श्री मुनिराज अपनी मधुर वाणी से मुझे सम्बोधित करते हुए कह रहे थे – 'हे भव्य ! अब तुम्हारे भव दु:ख का अन्त नजदीक आ गया है, आत्मज्ञान करके अपूर्व कल्याण करने का अवसर आ गया है.... तुम अन्त:वृत्ति के द्वारा चैतन्यतत्त्व को देखो...... उसकी अद्भुत सुन्दरता को देखकर तुम्हें अपूर्व आनन्द होगा....। और अब सुनो ! अतिशय हर्ष की बात यह है कि इस भव में ही सम्यक्त्व प्राप्त कर, आत्मा की आराधना में आगे बढ़ते-बढ़ते आठवें भव में तुम भरतक्षेत्र की चौबीसी में तेईसवें त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ होओगे..... अब तुम्हारे मात्र सात भव शेष हैं...... और वे भी आत्मा की आराधना सहित हैं.....।'

श्री मुनिराज से अपने भव के अन्त की बात सुनकर मुझे अपार प्रसन्नता हुई.... और तभी से अन्तरंग में चैतन्यतत्त्व के परम-आनन्द का स्वाद चखने के लिए बारम्बार मेरा मन करने लगा। 'ऐसे वीतरागी सन्त का मुझे समागम मिला है'– इसलिए मुझे इसीसमय कषाय से भिन्न शान्त चैतन्यरस की अनुभूति करना चाहिये... ऐसे शान्त परिणाम के द्वारा मेरी चेतना अन्तर में उतर गई..... मैंने अपने परमात्मस्वरूप के साक्षात् (प्रत्यक्ष) दर्शन किये..... मुझे परम-आनन्दमय स्वानुभूति सहित सम्यक्त्व प्राप्त हुआ।

अहा ! मुनि भगवंत के एक क्षणमात्र के सत्संग ने मुझे मेरे परमात्मा से मिलाया। मेरा अक्षय चैतन्य निधान मुझे प्राप्त हुआ.....। भव-दु:ख का अन्त और मोक्ष की साधना का प्रारम्भ हुआ।

मुनिराज के उपकार की क्या बात ! भाषा के शब्द तो मेरे पास नहीं थे तो भी मन ही मन मैंने उनकी स्तुति की, शरीर की चेष्टा के द्वारा वन्दना करके भक्ति व्यक्त की....। "प्रभो ! इस पामर जीव को आपने पशुता से छुड़ा दिया .... हाथी का यह भारी शरीर मैं नहीं, मैं तो चैतन्य परमात्मा हूँ, उस समय पल-पल अन्तर्मुख परिणाम से आनन्दमय अमृत की नदी मेरे अन्तर में उछल रही थी...। आत्मा अपने एकत्व में रमने लगा.... चैतन्य की गम्भीर शान्ति में ठहरते हुए इस भव से पार उतर गया.... कषायों की अशान्ति से छूट गया... मैं अपने में ही तृप्त-तृप्त हो गया।

सम्यग्दृष्टि हुआ हाथी कहता है – 'मेरी ऐसी दशा देखकर संघ के मनुष्यों को भी बहुत आश्चर्य हुआ। यह कैसा चमत्कार ! कहाँ एक क्षण पहले का पागल हाथी ! और कहाँ यह वैराग्य भाव से शान्तरस में सराबोर हाथी !"

मुनिश्री ने उन्हें समझाते हुए कहा – "हे जीवो ! यह हाथी एकाएक शान्त हो गया – यह कोई चमत्कार नहीं, यह तो चैतन्यतत्त्व की साधना का प्रताप है। ..... अथवा इसे चैतन्य का चमत्कार कहो..... कषाय आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वभाव तो शान्त-चैतन्यस्वरूप है – उसे लक्ष्य में लेते ही आत्मा क्रोध से भिन्न अपने अतीन्द्रिय चैतन्य सुख का अनुभव करता है। यह हाथी इस समय ऐसे परम चैतन्य सुख का अनुभव कर रहा है। अब आत्मज्ञान प्राप्त कर मोक्षमार्ग में प्रवेश पा गया है...... इसका जीवन धन्य हो गया है...... यह धर्मात्मा है.... और भविष्य में तेईसवाँ तीर्थंकर होनेवाला है।

यह सुनकर लोगों को अपार प्रसन्नता हुई..... चारों ओर आश्चर्य और हर्ष का वातावरण बन गया। अनेक जीवों ने मुनिराजश्री की बात सुनकर और मेरी शान्तदशा देखकर चैतन्य की महिमा को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

मैं शान्त दृष्टि से मनुष्यों को देखकर क्षमा माँग रहा था और मन ही मन यह विचार कर रहा था कि 'यह मुनिराज का उपकार है, इनके ही सत्संग का प्रताप है....., मेरा मन इनके प्रति कृतज्ञता से भर उठा।' मुनिराज ने भी प्रसन्न होकर मुझे पुनः आशीर्वाद दिया।

बन्धुओ ! यह हाथी कोई और नहीं अपने भगवान पारसनाथ का ही जीव है, हाथी तिर्यंच-प्राणी, मुनिराज के क्षणभर के समागम से क्रोध शान्त करके आत्मतत्त्व के परमार्थ स्वरूप को समझकर पशुपर्याय में भी परमात्मा बनने का मार्ग प्राप्त कर लेता है। उस सत्समागम की कितनी महिमा ! जीवन में आत्महित करने के लिए सत्समागम (सत्संग) जैसा साधन कोई दूसरा नहीं है। कभी महाभाग्य से क्षणभर के लिए भी

धर्मात्मा के सत्संग का सुयोग बन जावे तो प्रमाद (आलस) नहीं करना। सत्संग का महान लाभ लेकर आत्मकल्याण कर लेना।

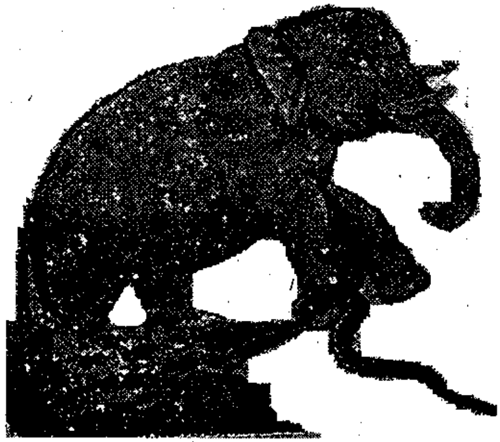

फिर, आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने से उस हाथी को अतिशय वैराग्य हुआ.... तथा मुनिराज के समक्ष उसने श्रावकधर्म के पाँच अणुव्रत धारण किये।

एकबार वह हाथी कहीं पर कीचड़ में फँस गया, वहाँ उसके पूर्वभव का भाई (बैरी) कमठ, जो मरकर सर्प हुआ था, उस सर्प ने हाथी को डस लिया, सम्यक्त्व सहित समाधिमरण करके वह हाथी तो स्वर्ग में देव हुआ और सर्प का जीव नरक में गया।

अगले भव में हाथी का जीव मनुष्य होकर जब मुनिदशा में ध्यान कर रहा था, तभी अजगर हुए कमठ के जीव ने उसे डस लिया। फिर से वह स्वर्ग में गया और अजगर नरक में गया।

इसके बाद के भव में हाथी का जीव वज्रनाभि-चक्रवर्ती हुआ, तब मुनि होकर ध्यान में बैठे उस हाथी के जीव को शिकारी भील हुए कमठ के जीव ने बाण से उन्हें वेध डाला। पुन: वह स्वर्ग में गया और भील नरक गया। उसके बाद के भव में हाथी का जीव अयोध्या नगरी में आनन्दकुमार नाम का महाराज हुआ। वहाँ वैराग्य पूर्वक मुनि होकर सोलह कारण भावना भाईं, जिससे उसने तीर्थंकर प्रकृति बाँधी। आनन्द मुनिराज आत्मध्यान में बैठे थे, इसीसमय सिंह हुए कमठ के जीव ने उन्हें खा लिया ..... वे मुनिराज स्वर्ग के देव हुए और कमठ का जीव नरकादि में भ्रमण करते-करते 'संगम' नाम का देव हुआ।

अन्तिम भव में उस हाथी के जीव ने वाराणसी (काशी) नगर में पारसनाथ तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया... दीक्षा लेकर मुनि होकर वे आत्मध्यान में मग्न थे, उस समय संगम देव हुए कमठ के जीव ने भयंकर उपद्रव किया, लेकिन पारस मुनिराज तो आत्मसाधना में अडिग रहकर केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर परमात्मा हुए.... इन्द्रों ने आकर आश्चर्यकारी महोत्सव मनाया। प्रभु की चरम महिमा को देखकर, कमठ के जीव उस संगम देव को अपनी भूल (अज्ञानता) का भान हुआ, क्षमा माँगकर भक्तिपूर्वक प्रभु का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

पारस के साथ लोहा भी सोना बन गया। धन्य है सत्संग की महिमा ! जिसके प्रताप से हाथी के जीव ने मोक्षमार्गी बन मोक्ष प्राप्त किया।

52

बोले.....तो क्या बोले !

भरत चक्रवर्ती के कितने ही राजकुमार जन्म से ही बोलते नहीं थे, मानों गूँगे ही हों .... "फिर जब पहली ही बार बोले.... तब क्या बोले ?" – जानने के लिए पढिये यह कहानी....।

भरत चक्रवर्ती सहित अनेक रानियाँ भी चिन्तित थीं, क्योंकि उनके अनेक राजकुमार कुछ बोलते ही नहीं थे, लगता है जन्म से ही गूँगे हों। अनेक वर्ष बीत गये, एक शब्द भी उनके मुख से अभी तक नहीं निकला था, राजकुमारों पर, बोलने के लिए अनेक युक्ति और उपाय किये गये; परन्तु वे नहीं बोले।

अरे ! चक्रवर्ती के रूपवान राजकुमार क्या जिंदगी भर ही गूँगे रहेंगे ? क्या वे बिल्कुल ही नहीं बोलेंगे ? – इसकी चिंता से सभी हमेशा चिन्तित रहते थे।

इसीसमय भगवान ऋषभदेव समवसरण सहित अयोध्यापुरी में पधारे.... सम्राट चक्रवर्ती भरत उनके दर्शन करने के लिए गये..... साथ में इन गूँगे राजकुमारों को भी ले गये। भरत ने भगवान के दर्शन किये। राजकुमारों ने भी भक्तिभाव से अपने दादा तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान के दर्शन किये, परन्तु अभी तक भी वे बोले नहीं।

आखिर भरत चक्रवर्ती ने पूछा – "हे प्रभो ! महापुण्यशाली राजकुमार कुछ भी नहीं बोलते हैं। क्या वे गूँगे हैं ?"

उस समय भगवान की वाणी में आया – "हे भरत ! ये राजकुमार गूँगे नहीं हैं, जन्म से ही वैराग्यचित्त के कारण वे कुछ भी नहीं बोलते; लेकिन अब ये सब बोलेंगे।"

भरत ने कहा – "हे पुत्रो ! तुम गूँगे नहीं हो" – यह जानकर हमें अपार प्रसन्नता हो रही है..... और अब क्या बोलते हो ? उसे सुनने के लिए हम उत्सुक हैं।

वे वैरागी राजपुत्र एक साथ खड़े हुए और भगवान के सम्मुख परम विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कुछ इसप्रकार बोले, मानों चैतन्य की गुफा में से वैराग्य की मधुर वीणा बज रही हो –

"हे प्रभो ! हमें मोक्ष के कारणरूप ऐसी मुनिदीक्षा चाहिये। हमारा चित्त इस संसार

से उदास है, इस संसार के संयोग में या परभाव में कहीं भी हमें शान्ति नहीं मिली, हमें अपने निजस्वभाव के मोक्षसुख का अनुभव करवा दीजिए, जिससे हम केवलज्ञान प्रकट करके भव-बन्धन से छूट जावें।"

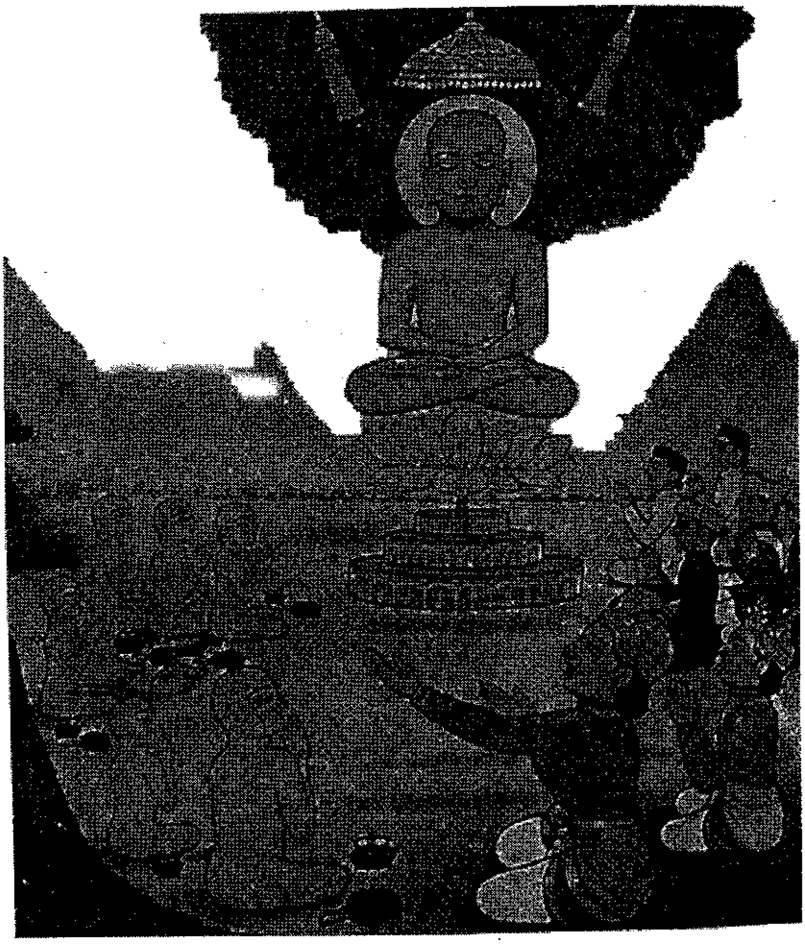

राजकुमार आज जीवन में पहली बार ही बोले। वाह ! पहली ही बार बोले ......और ऐसे उत्तम वचन बोले !

सम्राट चक्रवर्ती भरत और सभाजन भी राजकुमारों के शब्दों को सुनते ही स्तब्ध रह गये, लाखों-करोड़ों देवों और मनुष्यों ने उनके वैराग्य की प्रशंसा की।..... तिर्यंचों के समूह भी इन वैरागी राजकुमारों को आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे; परन्तु सभी राजकुमार अपने वैराग्य भाव में मग्न रहकर प्रभु के सन्मुख आज्ञा लेकर वस्त्र-मुकुट आदि परिग्रह छोड़कर मुनि हुए..... वचन-विकल्प छोड़कर शुद्धोपयोग के द्वारा निजानन्द स्वरूप में लीन होकर वचनातीत आनन्द का अनुभव करने लगे।.....

पाठको ! इन राजकुमारों का उत्तम जीवन हमें यह शिक्षा देता है कि हे जीव ! ऐसे ही वचन तू बोल, जिसमें तुम्हारा आत्महित का प्रयोजन सिद्ध हो.... संसार के निष्प्रयोजन कोलाहल में मत पड़....।

हे प्रभो ! हमें मोक्ष के कारणरूप ऐसी मुनिदीक्षा चाहिये।

53

जरा-सा अविवेक

(सुभौम चक्रवर्ती)

राजभवन सुन्दर ध्वजा-पताका आदि से सुशोभित था, चारों ओर दीवारों और कोटों पर अद्भुत सुन्दर चित्र बने हुए थे; छह खण्ड के अधिपति सुभौम चक्रवर्ती रत्नजड़ित स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान थे, पास में मंत्रीगण तथा अन्य सभासद बैठे थे। संगीत, नृत्य-गान तथा घुँघरुओं की छमछम से सबका मन मुग्ध हो रहा था। अचानक एक पूर्वभव का बैरी देव बैर लेने की इच्छा से व्यापारी का भेष धारण करके चक्रवर्ती को एक फल भेंट करते हुए कहता है कि – "हे राजन् ! आपने ऐसा मधुर फल कभी नहीं खाया होगा।"

राजा फल खाकर बहुत प्रसन्न होता है और उससे पूछता है कि – हे भाई ! आप ऐसा सुन्दर स्वादिष्ट फल कहाँ से लाये ?

व्यापारी ने कहा – "राजन् ! हमारे देश में चलिये, मैं वहाँ आपको ऐसे अनेकों फल खिलाऊँगा।"

देखो ! रसना इन्द्रिय की लोलुपता के कारण चक्रवर्ती का विवेक भी नष्ट हो गया। उसने विचार तक नहीं किया कि भला चक्रवर्ती के समान भोगोपभोग की सामग्री किसे मिल सकती है ? वह तो रसना इन्द्रिय की तीव्र आसक्ति के कारण उन फलों का भक्षण करने में ही सम्पूर्ण सुख मानने लगा; इसलिये विचारने लगा कि सब सामग्री होने पर भी इस फल की भी कमी मेरे यहाँ क्यों रहे ? अर्थात् इसकी भी कमी नहीं रहना चाहिये।

यदि वह चाहता तो अपने आज्ञाकारी सेवक देवों द्वारा अनुपम फल मँगवा सकता था, किन्तु उसे तो उस फल का स्वाद चखने की लोलुपता का ऐसा नशा चढ़ गया कि अब उसे अपने यहाँ की सब सामग्री नीरस लगने लगी। सुभौम चक्रवर्ती ने विचार किया कि यदि मैं वहाँ अकेला

जाऊँगा तो अकेला ही फल खा सकूँगा ? इसलिये मुझे वहाँ सकुटुम्ब जाना चाहिये। ऐसा विचार कर चक्रवर्ती ने विशाल चर्मरत्न नामक नौका में स्त्री-पुत्रादि सहित समुद्र में प्रयाण किया।

अब तो देव मन में अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था कि अकेले राजा को ही नहीं, किन्तु उसके समस्त परिवार को मैं डुबो दूँगा। साथ ही उसे यह भी विचार आ रहा था कि जिसके हजारों देव सेवक हैं, नवनिधि और चौदह रत्न हैं, उसे मार डालना कोई आसान काम नहीं है।

सुभौम चक्रवर्ती समुद्र की तरंगों पर तैरती हुई नौका में हास्य-विलास करता हुआ सुख सागर में निमग्न हो रहा था कि तभी अचानक उस देव द्वारा चलाये गये भयंकर तूफान में नौका डोलने लगी, जिससे चक्रवर्ती का हृदय काँपने लगा। उसने भयभीत होकर देव से पूछा कि अब बचने का कोई उपाय है ? पापी राजा के पाप का उदय होने से और देव को दुष्टबुद्धि उत्पन्न होने से उसने कहा कि सागर के मध्य में दूसरा तो कोई उपाय नहीं है। हाँ, यदि आप अनादि-निधन नमस्कार मंत्र, अपराजित मंत्र, जो णमो अरहंताणं है, उसे जल में लिखकर पैर से मिटा दें तो सब बच सकते हैं।

वह हित-अहित का विवेक छोड़कर तो घर से बाहर निकला ही था, अपने पास सर्व सम्पत्ति और अनुपम पुण्य का स्थान ऐसे चक्रवर्ती पद का भी जिसने विवेक खो दिया था और अजान व्यक्ति का विश्वास करके उसके साथ एक तुच्छ फल खाने के लोभ में चला गया था – ऐसा वह सुभौम चक्रवर्ती **इस अनित्य जीवन की चाह से और मौत के भय से ज्यों ही पानी में णमोकार महामंत्र लिखकर पैर से मिटाने को तैयार हुआ,** त्यों ही पाप का रस अतितीव्र होने लगा और नौका डूबने लगी। तब पूर्व का बैरी देव कहने लगा कि "मैं वही रसोइया हूँ, जिसके ऊपर तुमने गरम-गरम खीर डाली थी और जिसने तड़प-तड़प कर प्राण त्याग दिये थे। आर्तध्यान से मैं

व्यन्तर जाति का देव हुआ हूँ। अवधिज्ञान के द्वारा पूर्वभव का बैर याद आने पर मैंने उसका बदला लेने के लिये ही यह उपाय किया है।''

अब पश्चाताप करने से क्या होता ? चक्रवर्ती भी ऐसे अपमानजनक शब्द सुनकर तथा कुटम्ब-परिवार सहित अपना घात देखकर तीव्र संक्लेश भाव से मरण को प्राप्त हुआ और सातवें नरक में गया, जहाँ 33 सागरों के लिए वह अनन्त दुःख सागर में डूब गया। यह जीव अपने असली स्वरूप को भूल कर तीव्रमोह के कारण महान दुःख को भोगता है। ज्ञानी निष्कारण करुणा से सम्बोधन करते हैं कि – **अनन्तानन्त काल में महान दुर्लभ मनुष्य पर्याय मिली, इस अवसर पर भी, जो विषयों में लीन रहते हैं, वे राख के लिए रत्न को जलाते हैं।**

यह जीव आधी आयु तो निद्रादि प्रमाद में गँवाता है, कुछ पाप में और जो समय शेष रहता है उसमें कदाचित् कुधर्म को धर्म मानने वालों के पास जाय तो यहाँ मिथ्या मान्यता दृढ़ करके जीवन बर्बाद कर देता है। उपरान्त इन्द्रियों का दासत्व, व्यसनों की गुलामी (बीड़ी, तम्बाकू का सेवन एवं चलचित्र सिनेमा, टी.वी. आदि देखने की आदत भी व्यसनों में गर्भित है), मिथ्यात्व तथा मानादि कषाय द्वारा जीव हित-अहित का भान भूल जाता है।

जो लौकिक सज्जनता का भी ध्यान न रखे, अभक्ष्य-भक्षण, अन्याय, अनीति, द्रव्य-भाव हिंसा करना, झूँठ बोलना, पर की निंदा आदि पाप भावों से न डरे, स्वच्छंद वर्तन करे तो दुर्लभ अवसर खोकर वह मात्र पाप को ही बाँधने वाला होता है।

मिथ्यात्व और क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय की प्रवृत्ति से क्षण-क्षण में जो अपना भयानक भावमरण होता है, उससे बचने के लिये प्रथम तो सत्समागम से निर्मल तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सच्चा सुख अन्तर में है, उसको भूलकर दुःख को ही सुख मानने रूप झूठे उपाय द्वारा यह जीव अनादि से दुःख को ही भोगता है; इसलिये हे जीव ! **पुनः पश्चाताप करने का समय न आये ऐसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न कर !** प्रयत्न कर !! इससे शुद्ध स्वरूप में रुचि होगी और विषय कषाय आदि पाप स्वयमेव नष्ट होने लगेंगे। कहा भी है –

''जब निज आतम अनुभव आवे, तब और कछु न सुहावे ।। जब निज.।।
रस नीरस हो जात तत्क्षण, अक्ष-विषय नहिं भावे ।।जब निज.।।''

54

विचित्र होनहार

(पद्मपुराण से साभार)

बात बहुत पुरानी है, जब राम-लक्ष्मण आदि लंका को जीतकर अयोध्या लौटे और उनका राज्याभिषेक हुआ। तब अत्यन्त प्रीति पूर्वक उन्होंने अपने लघुभ्राता शत्रुघ्न से कहा कि – बन्धु ! तुम्हें जो देश पसन्द हो वह ले लो। यदि अयोध्या चाहते हो तो आधी अयोध्या ले लो अथवा राजगृही, पोदनपुर आदि अनेक राजधानियों में से जो तुम्हें पसन्द हो, वहाँ राज्य करो।

तब शत्रुघ्न ने कहा कि – "मुझे मथुरा का राज्य दे दीजिये।"

रामचन्द्रजी ने कहा कि – हे भ्राता ! मथुरा नगरी में तो राजा मधु का राज्य है, वह रावण का दामाद और अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने वाला है, चमरेन्द्र ने उसे त्रिशूलरत्न दिया है और उसका पुत्र लवणसागर भी महा शूरवीर है, उन दोनों पिता-पुत्र को जीतना कठिन है, इसलिये मथुरा को छोड़कर दूसरा जो भी राज्य तुम्हें अच्छा लगे वह ले लो।

शत्रुघ्न ने कहा – मुझे तो मथुरा ही दीजिये, मैं राजा मधु को युद्ध में मधु के छत्ते की भाँति गिरा दूँगा। ऐसा कहकर शत्रुघ्न मथुरा जाने को तैयार हो गये।

तब रामचन्द्रजी ने उनसे कहा कि – भाई, तुम मुझे एक वचन देते जाओ।

शत्रुघ्न ने कहा – बन्धु ! आप तो मेरे सर्वस्व हैं, प्राण हैं, राजा मधु के साथ युद्ध करने के अतिरिक्त आप जो भी कहें, मैं वह सब करने को तैयार हूँ।

राम ने कहा – हे अनुज ! तुम मधु के साथ युद्ध करो तो उस समय करना, जब उसके हाथ में त्रिशूल रत्न न हो।

शत्रुघ्न ने कहा – मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

तत्पश्चात् जिनदेव की पूजा करके तथा सिद्धों को नमस्कार करके माता के पास आकर शत्रुघ्न ने विदा माँगी, तब माता ने कहा कि हे वत्स ! तुम्हारी विजय हो। माता ने ऐसा मंगलकारी आशीर्वाद दिया, उसे शिरोधार्य करके शत्रुघ्न ने माता को नमस्कार किया और वहाँ से मथुरा की

ओर प्रस्थान किया। लक्ष्मणजी ने उन्हें समुद्रावर्त नामक धनुष देकर कृतान्तवक्र सेनापति को उनके साथ भेजा।

शत्रुघ्न सेना सहित मथुरा के निकट आ पहुँचे और जमुना नदी के किनारे पड़ाव डाला। वहाँ मंत्री चिन्ता करने लगे कि राजा मधु तो महान योद्धा है और यह शत्रुघ्न बालक है, वह शत्रु को किस प्रकार जीत सकेंगे ? तब कृतान्तवक्र सेनापति ने कहा कि – अरे मंत्री ! आप साहस छोड़कर ऐसे कायरता के वचन क्यों बोल रहे हो ? जिसप्रकार हाथी महा बलवान है और सूंढ़ द्वारा बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फैंकता है, तथापि सिंह उसे पराजित कर देता है; उसीप्रकार मधु राजा महा बलवान होने पर भी शत्रुघ्न उसे अवश्य जीत लेंगे। सेनापति की बात सुनकर सबको बहुत प्रसन्नता हुई। इतने में नगर में गये हुए गुप्तचरों ने आकर समाचार दिये कि – इस समय राजा मधु वनक्रीड़ा के लिये नगर के बाहर उपवन में रहता है, उसे खबर तक नहीं है कि आप मथुरा जीतने के लिये आये हैं; इसलिये मथुरा पर आसानी से अधिकार किया जा सकता है। यह सुनकर शत्रुघ्न ने अपने योद्धाओं सहित मथुरा नगरी में प्रवेश किया।

जिसप्रकार योगी कर्मनाश करके सिद्धपुरी में प्रवेश करते हैं, उसीप्रकार शत्रुघ्न द्वारों को तोड़कर मथुरापुरी में प्रविष्ट हुए और आयुधशाला पर अपना अधिकार कर लिया। यह सब देखकर नगरजन भयभीत हो गये; किन्तु शत्रुघ्न ने ऐसा कहकर उन्हें धैर्य बँधाया कि अब श्री राम का राज्य है, उसमें किसी को दुःखी या भयभीत होने की जरूरत नहीं है। सभी निर्भय होकर रहें।

शत्रुघ्न ने मथुरा में प्रवेश किया है, यह सुनकर राजा मधु क्रोधपूर्वक उपवन से नगर की ओर आया; परन्तु शत्रुघ्न के योद्धाओं ने उसे नगर में प्रविष्ट नहीं होने दिया। **जिसप्रकार मुनिराज के हृदय में मोह का प्रवेश नहीं होता,** उसीप्रकार राजा अनेक उपाय करने पर भी नगर में प्रवेश नहीं कर सका। यद्यपि वह त्रिशूल रहित हो गया था, तथापि महा-पुरुषार्थ पूर्वक उसने शत्रुघ्न से युद्ध किया। युद्ध में राजा मधु का पुत्र लवणसागर सेनापति कृतान्तवक्र के प्रहार से मृत्यु को प्राप्त हुआ। पुत्र की मृत्यु देखकर मधु राजा अत्यन्त शोक एवं क्रोध पूर्वक शत्रुघ्न की सेना से युद्ध करने लगा; किन्तु जिसप्रकार **जिनशासन के स्याद्वादी पण्डित के समक्ष कोई एकान्तवादी नहीं टिक सकता,** उसीप्रकार शत्रुघ्न की वीरता के समक्ष मधु राजा के योद्धा न टिक सके।

शत्रुघ्न को दुर्जय समझकर, स्वयं को त्रिशूल आयुध रहित जानकर तथा पुत्र की मृत्यु और अपनी भी अल्पायु देखकर मधु राजा अत्यन्त विवेकपूर्वक विचार करने लगे कि – "**अहो ! संसार का समस्त आरम्भ महा हिंसारूप एवं दुःखदायी है, इसलिये सर्वथा त्याज्य है,**

मूढ़ जीव इस क्षणभंगुर संसार में सुख मान रहे हैं। इस जगत में धर्म ही प्रशंसनीय है। यह दुर्लभ मनुष्य देह पाकर भी जो जीव धर्म में बुद्धि नहीं लगाता, वह मोह द्वारा ठगा हुआ अनन्त संसार में ही परिभ्रमण करता है।

अरे! मुझ पापी ने असाररूप संसार को सार समझा, क्षणभंगुर शरीर को ध्रुव माना और अभी तक आत्महित नहीं किया.... जब मैं स्वाधीन था, तब मुझे सुबुद्धि उत्पन्न नहीं हुई, अब तो मेरा अन्तकाल आ गया है....सर्प डस ले उस समय दूर देश से मणिमंत्र या औषधि मँगवाने से क्या लाभ ? इसलिये अब मैं सर्व चिन्ताओं को छोड़कर निराकुलरूप से अपने मन को समाधान करूँ।'' – ऐसा विचार करके युद्ध में हाथी के हौदे पर बैठा हुआ मधु राजा मुनि बनने की भावना भाने लगा....और बारम्बार अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय एवं साधुओं को मन-वचन-काय से नमस्कार करने लगा और सोचने लगा कि अरहन्त-सिद्ध-साधु तथा केवली प्ररूपित धर्म ही मंगलरूप है, वही उत्तम है तथा उसी की मुझे शरण है।

ढाई द्वीप के भीतर कर्मभूमि में (पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह में) जो अरहन्तदेव हैं वे मेरे हृदय में वास करें.... मैं बारम्बार उन्हें नमस्कार करता हूँ....अब मैं सर्व पापों को जीवन पर्यंत छोड़ता हूँ....अनादिकाल से संसार में उपार्जित मेरे दुष्कृत्य मिथ्या होओ.... अब मैं **तत्त्वज्ञान में स्थिर होकर त्यागने योग्य जो रागादिक उनका त्याग करता हूँ तथा ग्रहण करने योग्य जो निजभाव – जिनभाव, उन्हें ग्रहण करता हूँ, ज्ञान दर्शन मेरा स्वभाव ही है, वह मुझसे अभेद है, और शारीरिक समस्त पदार्थ मुझसे पृथक् हैं....** संन्यास मरण के समय भूमि अथवा तृणादि का त्याग वह सच्चा त्याग नहीं है; किन्तु दोष रहित – ऐसे शुद्ध आत्मा को अपनाना ही त्याग है। – ऐसा विचार करके मधु राजा ने दोनों प्रकार के परिग्रहों का भावपूर्वक त्याग किया।

मधु राजा ने वीररस छोड़कर शान्तरस अंगीकार कर लिया और महा-धैर्यपूर्वक अध्यात्म योग में आरूढ़ होकर देह का ममत्व छोड़ दिया....। दिगम्बरदीक्षा धारण करने

की घोषणा कर संसार की असारता का मन-वचन-काय पूर्वक विचार करने लगे। जिसका शरीर अनेक घावों से घायल है ऐसा मधु राजा हाथी की पीठ पर बैठे-बैठे ही केशलोंच करने लगे....।

मधु राजा की ऐसी परम शान्तदशा देखकर शत्रुघ्न कहने लगे कि – "हे महान आत्मा ! मेरा अपराध क्षमा करो।....धन्य है आपके वैराग को....।" युद्ध के समय पहले मधु राजा का वीररस और फिर शान्तरस देखकर देव भी आश्चर्य सहित पुष्पवृष्टि करने लगे.... महाधीर मधु राजा एक क्षण में समाधिमरण करके तीसरे स्वर्ग में देव हुए और शत्रुघ्न ने उनकी स्तुति करके मथुरा नगरी में प्रवेश किया।

राजा मधु तो समाधिमरण पूर्वक देह त्यागकर स्वर्ग चले गये और उनके मरण का समाचार सुनकर उनका परममित्र असुरेन्द्र महाक्रोध पूर्वक पाताल से निकलकर मथुरा आने के लिये उद्यमी हुआ।

उस समय गरुडेन्द्र उसके निकट आया और पूछा कि – हे दैत्येन्द्र ! कहाँ के लिये प्रस्थान कर रहे हो ?

चमरेन्द्र ने कहा – जिसने मेरे परममित्र मधु को मारा है, उसे कष्ट देने जा रहा हूँ।

तब गरुडेन्द्र ने कहा –

क्या विशल्या का माहात्म्य आप नहीं जानते ? युद्ध में जब रावण की अमोघ शक्ति से लक्ष्मणजी मूर्च्छित हो गये थे, तब विशल्या के स्नान जल के प्रभाव से ही वह अमोघ शक्ति भाग गई थी, क्या यह आपने नहीं सुना है ? (विशल्या लक्ष्मणजी की पटरानी थी।)

चमरेन्द्र बोला – विशल्या की वह अद्‌भुत शक्ति कौमार्यावस्था में ही थी, इस समय तो वह विषरहित नागिन समान हो गई है, जब तक उसने वासुदेव का आश्रय नहीं किया था तभी तक उसमें ब्रह्मचर्य के प्रसाद से असाधारण शक्ति थी, यद्यपि इस समय वह पवित्र है, किन्तु

ब्रह्मचारिणी नहीं है, इसलिये अब उसमें वह शक्ति नहीं रही। मैं अपने मित्र मधु राजा के शत्रु से अवश्य बदला लूँगा। – ऐसा कहकर वह चमरेन्द्र मथुरा की ओर चल दिया।

मथुरा आकर चमरेन्द्र ने देखा कि यहाँ तो स्थान-स्थान पर उत्सव मनाया जा रहा है.... जैसा उत्सव मधु राजा के समय में होता था, इस समय भी नगरजन वैसा ही मना रहे हैं। यह देखकर चमरेन्द्र ने विचार किया कि –

अरे ! यह प्रजाजन महादुष्ट एवं कृतघ्नी हैं। नगर का स्वामी पुत्र सहित मृत्यु को प्राप्त हुआ और दूसरे राजा ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया, फिर भी इन्हें शोक नहीं है, उल्टा हर्ष मना रहे हैं। जिसकी छत्रछाया में इतने समय तक सुख पूर्वक रहे, उस मधु राजा की मृत्यु से इन लोगों को दुःख क्यों नहीं हुआ ? लगता है, यह लोग कृतघ्नी और मूर्ख हैं, इसलिये मैं इनका नाश कर दूँगा, अभी तत्काल ही समस्त मथुरा नगरी को नष्ट करता हूँ।

– इसप्रकार असुरेन्द्र महाक्रोध पूर्वक मथुरा नगरी की प्रजा पर घोर उपसर्ग करने लगा। सारे नगर में भयंकर मरी व्याधि फैल गई.... जो जहाँ खड़े थे वहीं खड़े-खड़े मरने लगे....जो बैठे थे वे बैठे-बैठे मृत्यु को प्राप्त हुए....और सोने वाले सोते-सोते मर गये....इसप्रकार उस भयंकर मरी के रोग से सारे नगर में हाहाकार मच गया और देवकृत उपसर्ग समझकर शत्रुघ्न भी अयोध्या लौट आये।

यद्यपि अयोध्या नगरी अति सुन्दर है, तथापि शत्रुघ्न का चित्त वहाँ नहीं लगता, उनका चित्त तो मथुरापुरी में ही अति-आसक्त है....जिसप्रकार सीता के बिना राम उदास रहते थे, उसीप्रकार मथुरा के बिना शत्रुघ्न भी उदास रहते हैं। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि – **"जीवों को इष्ट वस्तु का संयोग क्षणभंगुर होता है.... और उसका वियोग तीव्र दाह उत्पन्न करता है।"**

शत्रुघ्न ने किस कारण से मथुरा की माँग की ? उन्हें अयोध्या की अपेक्षा मथुरा का निवास क्यों विशेष प्रिय लगा ? स्वर्ग के समान दूसरी अनेकों राजधानियाँ होने पर भी उनकी इच्छा न करके उन्होंने मथुरा की ही इच्छा क्यों की ? मथुरा के प्रति शत्रुघ्न को इतनी अधिक प्रीति क्यों? उसके स्पष्टीकरण में शास्त्रकार कहते हैं कि – शत्रुघ्न के जीव ने पूर्वकाल में अनेकों भव मथुरा में (मधुपुरी में) धारण किये हैं, इसलिये उन्हें मथुरा के प्रति अधिक स्नेह है। शत्रुघ्न का जीव संसार में भवभ्रमण करते-करते एक बार मथुरा में यमन देव नाम का व्यक्ति हुआ। महाक्रूर धर्मविमुख परिणाम से मरकर उसने तिर्यंचगति में अनेकों भव धारण किये और फिर कुलंधर नाम का दुराचारी

ब्राह्मण हुआ, वहाँ से तप करके स्वर्ग में गया, वहाँ से फिर मथुरा नगरी में चन्द्रप्रभा राजा का अचल नामक पुत्र हुआ।

एक बार अचलकुमार को जंगल में काँटा लग गया और वह अपकुमार नाम के पुरुष ने निकाला, इसलिये दोनों में मित्रता हो गई। जब अचलकुमार ने अनेक देशों सहित मथुरा का राज्य प्राप्त किया, तब उसने अपने मित्र अपकुमार को उसकी जन्मभूमि श्रावस्ती नगरी का राज्य दिया और दोनों मित्र एक साथ अपना-अपना राज्य करने लगे।

एक दिन दोनों मित्रों ने यशसमुद्र आचार्य के निकट सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिदीक्षा धारण की और परमसंयम की आराधना पूर्वक समाधिमरण करके उत्कृष्ट देव हुए। वहाँ से च्यवकर अचलकुमार का जीव तो राजा दशरथ की सुप्रभा रानी का पुत्र शत्रुघ्न हुआ और उसके मित्र अपकुमार का जीव कृतान्तवक्र सेनापति हुआ। – इस कारण शत्रुघ्न को मथुरा नगरी से विशेष प्रीति थी।

इधर मथुरा नगरी में चमरेन्द्रकृत घोर मरी व्याधि का उपद्रव चल रहा था। उसी समय आकाश में गमन करने वाले और सूर्य समान तेजस्वी ऐसे चारण ऋद्धिधारी सात ऋषि-मुनिवर विहार करते-करते मथुरा नगरी में पधारे। **श्री सुरमन्यु, श्री मन्यु, श्री निचय, श्री सर्वसुन्दर, श्री जयवान, श्री विनयलालस और संजयमित्र नामक के सातों मुनिवर महाचारित्र के धारी और सगे भाई थे।**

वे श्री नन्दन राजा और धारिणी सुन्दरी रानी के पुत्र थे। प्रीतंकर स्वामी का केवलज्ञान देखकर वे सातों पुत्र पिता के साथ ही वैराग्य को प्राप्त हुए और मात्र एक महीने के तुंबरु नामक पुत्र को राज्य देकर पिता तथा सातों पुत्र प्रीतंकर स्वामी के निकट दीक्षा लेकर मुनि हुए।

श्रीनन्दन राजा तो केवली हुए और यह सातों पुत्र चारणऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के धारी श्रुतकेवली हुए। वे गगनविहारी सप्तर्षि श्रुतकेवली भगवन्त पृथ्वी को पावन करते-करते मथुरा पुरी में पधारे और चातुर्मास के लिये मथुरा के वन में एक वटवृक्ष के नीचे विराजमान हुए।

सप्तर्षिमुनि भगवन्तों का पुनीत पदार्पण होते ही उनके तप के प्रभाव से चमरेन्द्र द्वारा फैलाया गया मरी का घोर उपसर्ग एकदम शान्त हो गया तथा समस्त मथुरा नगरी सुखरूप हो गई। **जिसप्रकार सूर्य का आगमन होने से अंधकार भाग जाता है, उसीप्रकार सप्तर्षि मुनिवरों का आगमन होते ही उनके प्रताप से मरी रोग का घोर उपद्रव दूर हो गया तथा सारे नगर में शान्ति छा गई।** फल फूल खिल गये, वृक्ष और बेलें लहलहा उठीं, बिना बोये धान्य उगने लगे, समस्त रोग रहित मथुरापुरी अति शोभायमान होने लगी और नगरजनों ने महा-आनन्द पूर्वक सातों मुनिवरों के दर्शन-पूजन किये।

सप्तर्षि मुनिवरों के आगमन का यह आनन्दमय प्रसंग आज भी मथुरा नगरी में जिनमन्दिर में अंकित है। जिनके दर्शन करते भक्तों के हृदय में आनन्द की ऊर्मि जागृत हुए बिना नहीं रहती। मथुरा में "सप्तर्षि टीला" नाम का एक स्थान भी है।

उन सप्तर्षि मुनि-भगवन्तों को हमारा नमस्कार हो।

मथुरा में चातुर्मास और अयोध्या में आहार –

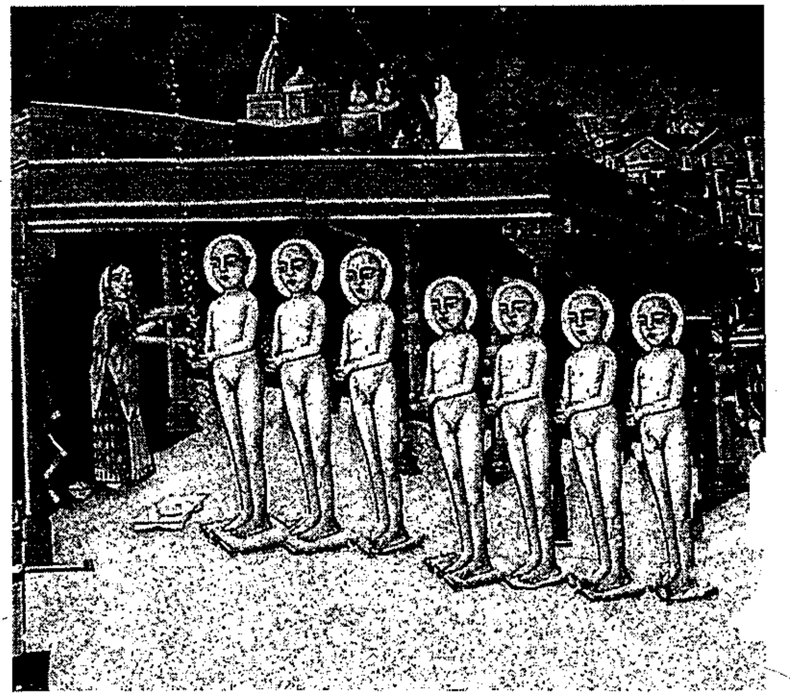

एक समय की बात है कि श्री सुरमन्यु आदि सप्त ऋद्धिधारी महा मुनिराज मथुरा नगरी के वन में चातुर्मास हेतु ठहरे हुए थे। चारणऋद्धि के प्रभाव से उन महा मुनिराजों को चातुर्मास में भी गमन सम्बन्धी दोष नहीं लगता था; अतः वे कभी किसी नगर में, वे कभी किसी नगर में जाते, वहाँ के मन्दिरों की वन्दना करते, योग मिलने पर वहीं आहार करते। आकाश मार्ग से क्षणमात्र में कभी पोदनपुर पहुँचकर आहार लेते, तो कभी विजयपुर जाते, कभी उज्जैन तो कभी सौराष्ट्र में पधारते। (चारण ऋद्धिधारी मुनिवर आकाश में विचरते हैं और चातुर्मास में भी विहार करते हैं।)

इसप्रकार किसी भी नगरी में जाकर उत्तम श्रावक के यहाँ आहार लेते और फिर मथुरा नगरी में आ जाते। वे धीर-वीर महाशान्त मुनिवर एकबार आहार के समय अयोध्या नगरी में पधारे और अर्हदत्त सेठ के भवन के निकट पहुँचे।

अचानक उन मुनिवरों को देखकर अर्हदत्त सेठ ने विचार किया कि – "अरे ! मुनि तो चातुर्मास में विहार करते नहीं हैं और यह मुनि यहाँ कैसे आ पहुँचे ? चातुर्मास के पूर्व तो यह मुनि यहाँ आये नहीं थे। अयोध्या के आस-पास वन में, गुफाओं में, नदी किनारे, वृक्षों के नीचे या वन के चैत्यालयों में जहाँ-जहाँ मुनि चातुर्मास कर रहे हैं, उन सबकी वन्दना मैं कर चुका हूँ, किन्तु इन साधुओं को मैंने कभी नहीं देखा, यह मुनि आचारांग सूत्र की आज्ञा से परांगमुख स्वेच्छाचारी मालूम होते हैं, इसीलिये तो वर्षा काल में जहाँ-तहाँ घूम रहे हैं। यदि जिनाज्ञा के पालक होते तो वर्षा काल में विहार कैसे करते ? इसलिये यह मुनि जिनाज्ञा से बाहर हैं।" – ऐसा सोचकर अर्हदत्त सेठ ने मुनियों का सत्कार नहीं किया और वहाँ से चले गये; किन्तु उनकी पुत्रवधू ने अत्यन्त भक्ति से विधिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया।

आहार ग्रहण करके सातों मुनिवर भगवान के चैत्यालय में आये, जहाँ द्युतिभट्टारक आचार्य विराजमान थे। सातों ऋषि-मुनिवर ऋद्धि के प्रभाव से चार अंगुल ऊपर अलिप्तरूप से अर्थात् धरती से चार अंगुल ऊपर चले आ रहे थे, चैत्यालय में आकर उन्होंने धरती पर चरण रखे। उन सप्तर्षि भगवन्तों को देखते ही द्युतिभट्टारक आचार्य खड़े हुए और अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हें नमस्कार किया। अन्य शिष्यों ने भी नमस्कार किया। सप्तर्षि भगवन्तों ने उनसे धर्मचर्चा की और फिर चैत्यालय में जिनवन्दना करके वे मथुरा नगरी लौट आये।

सप्तर्षि मुनिवरों के जाने पर कुछ ही समय पश्चात् अर्हदत्त सेठ चैत्यालय में आये, तब द्युतिभट्टारक आचार्य ने उनसे कहा कि – "सात महर्षि महायोगीश्वर चारण मुनि यहाँ पधारे थे, तुमने भी उनके दर्शन अवश्य किये होंगे, वे मुनिवर महातप के धारक हैं और मथुरा नगरी में चातुर्मास कर रहे हैं। चारणऋद्धि से गगनविहार करके आहार के लिये चाहे जहाँ चले जाते हैं। आज उन्होंने अयोध्यापुरी में आहार लिया और फिर चैत्यालय की वंदना के हेतु यहाँ पधारे। हमारे साथ धर्मचर्चा भी की और फिर मथुरा नगरी लौट गये। वे महा-वीतरागी गगनगामी, परम उदारचेष्टा के धारक मुनिवर वन्दनीय हैं।" इत्यादि प्रकार से आचार्य के मुख से चारण मुनियों की महिमा सुनकर, श्रावक शिरोमणि अर्हदत्त सेठ खेदखिन्न होकर खूब पश्चाताप करने लगे कि–

"अरे ! मुझे धिक्कार है....मैं मुनिवरों को नहीं पहिचान सका। अपने आँगन में आये हुए मुनि भगवन्तों का मैंने आदर-सत्कार नहीं किया.... हाय ! मुझ जैसा अधम कौन होगा ? वे मुनिवर आहार के हेतु मेरे आँगन में पधारे, किन्तु मैंने उन्हें नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान नही दिया....मुझ जैसा पामर अज्ञानी दूसरा कौन होगा कि मैं आँगन में आये हुए संतों को नहीं पहिचान सका, चारण मुनिवरों की तो रीति यही है कि चातुर्मास में निवास तो एक स्थान पर करें और आहार किसी भी नगर में जाकर लें। चारण ऋद्धि के प्रभाव से उनके शरीर द्वारा जीवों को बाधा नहीं पहुँचती। अहा ! जबतक मैं उन चारणऋद्धि धारी मुनि भगवन्तों के दर्शन नहीं करूँगा, तब तक मेरे मन का संताप नहीं मिट सकता।" – इसप्रकार पश्चाताप पूर्वक अत्यन्त भक्तिपूर्वक चित्त से अर्हदत्त सेठ सातों मुनिवरों के दर्शन की कामना करने लगे।

कार्तिक पूर्णिमा निकट आते ही सम्यग्दृष्टि अर्हदत्त सेठ ने समस्त परिवार सहित सप्तर्षि मुनिवरों की वन्दन-पूजा के लिये अयोध्या से मथुरा की ओर प्रयाण किया। जिन्होंने मुनिवरों की अपार महिमा को जाना है, राजा के समान जिनका वैभव है – ऐसे अर्हदत्त सेठ बारम्बार अपनी निन्दा और मुनिवरों की प्रशंसा करते हुए रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदलों की विशाल सेनासहित योगीश्वरों की पूजा के लिये मथुरा की ओर चल पड़े। महाविभूतिसहित और शुभध्यान में तत्पर अर्हदत्त सेठ कार्तिक शुक्ला सप्तमी के दिन मुनिवरों के चरणों में आ पहुँचे। उन धर्मात्मा ने विधिपूर्वक सप्तर्षि मुनिवरों की वंदना एवं पूजा की तथा मथुरा नगरी को अनेक प्रकार से सजाया। मथुरा नगरी स्वर्ग के समान सुशोभित हो गई।

यह सब वृतान्त सुनकर शत्रुघ्न कुमार भी तुरन्त सप्तर्षि मुनिवरों के समीप आ पहुँचे और उनकी माता सुप्रभा भी मुनिभक्ति से प्रेरित हो उनके साथ आई। शत्रुघ्न ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिवरों से धर्म का श्रवण किया।

मुनिवरों ने कहा – "**यह संसार असार है, एक वीतरागता ही सारभूत है। जिनदेव द्वारा कहा गया वीतराग मार्ग ही जगत के जीवों को शरणभूत है। अतः हे भव्यजीवो ! तुम जिनधर्म के अनुसार उसकी आराधना करो।**"

उपदेश सुनकर शत्रुघ्न कुमार विनय से कहने लगे कि – "हे देव ! आपके पदार्पण से मथुरा नगरी का महान उपसर्ग मरी रोग दूर हुआ, दुर्भिक्ष गया और सुभिक्ष का आगमन हुआ, सर्व जीवों को शान्ति एवं धर्मवृद्धि हुई, इसलिये हे प्रभो ! कृपा करके आप कुछ दिनों तक यहीं विराजें।"

तब श्री मुनिराज ने कहा कि हे शत्रुघ्न ! जिन-आज्ञा के अनुसार अधिक समय तक रहना योग्य नहीं है, अब हमारे चातुर्मास का काल पूर्ण हुआ....मुनि तो अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं, यह चौथा काल धर्म के उद्योत का है, इसमें अनेक जीव मुनिधर्म धारण करते हैं, जिन-आज्ञा का पालन करते हैं और महामुनि केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं।

बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ तो मोक्ष पधारे, अब इस भरत क्षेत्र में नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान यह चार तीर्थंकर होंगे। हे भव्य ! जिनशासन के प्रभाव से मथुरा नगरी का उपद्रव दूर हो गया है, अब मथुरा के समस्त निवासियों को जिनधर्म में तत्पर होना, दया पालन करना, साधर्मियों के प्रति वात्सल्य एवं जिनशासन की प्रभावना करना, घर-घर में जिनबिम्बों की स्थापना, जिनपूजन तथा अभिषेक की प्रवृत्ति करना चाहिए उससे सर्वत्र शान्ति होगी। जो जिनधर्म की आराधना नहीं करेगा, उसी पर आपदा आयेगी; किन्तु जो जिनधर्म की आराधन करेंगे, उनसे तो आपदा ऐसी भागेगी, जिसप्रकार गरुड़ को देखकर नागिन भागती है। इसलिये जिनधर्म की आराधना में सर्व प्रकार से तत्पर रहना....''

शत्रुघ्न ने कहा – ''प्रभो ! आपकी आज्ञानुसार समस्त प्रजा धर्माराधन में प्रवृत्त होगी।''

तत्पश्चात् मुनिवर तो आकाश मार्ग से विहार कर गये और अनेक निर्वाण भूमियों की वन्दना करके अयोध्या नगरी में पधारे, वहाँ सीताजी के घर आहार किया। सीताजी ने महा हर्षपूर्वक श्रद्धादि गुणों सहित मुनिवरों को प्रासुक आहार दिया।

इधर शत्रुघ्न ने मथुरा नगरी के बाहर तथा भीतर अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराया, घर-घर में जिनबिम्बों की स्थापना कराई और धर्म का महान उत्सव किया। समस्त नगरी उपद्रव रहित हो गई। वन-उपवन फल-फूलों से शोभायमान हो उठे, सरोवरों में कमल खिल गये और भव्यजीवों के हृदय कमल प्रफुल्लित होकर धर्माराधना में तत्पर हुए। इसप्रकार सप्तर्षि मुनिभगवन्तों के प्रताप से मथुरा नगरी का उपद्रव दूर हो गया और महान धर्मप्रभावना हुई।

कथा के अन्त में शास्त्रकार कहते हैं कि जो जीव इसे पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा साधुओं की भक्ति में अनुरागी होकर मुनिवरों का समागम चाहेंगे, उन जीवों को मनवांछित फल की प्राप्ति होगी अर्थात् वे साधुओं की संगति पाकर धर्माराधन द्वारा परमपद को प्राप्त करेंगे।

शुद्ध सम्यक्त्व के आराधक धर्मात्मा को मोक्ष सुख प्राप्त होता है, अतः वहाँ स्वर्ग की क्या बात ?

55

आटे के मुर्गे की हिंसा का फल

(अत्यन्त वैराग्य प्रेरक करुणरस से भरी अहिंसाधर्म की प्रतिपादक वैराग्यी क्षुल्लक श्री अभयरुचि की आत्मकथा)

योधेय देश के राजपुर नगर में मारिदत्त नामक राजा राज करता था। एक बार उस राजा के वीर भैरव नामक कुलगुरु ने कहा– हे राजन्! यदि तुम चंडमारी देवी के समक्ष सभी जाति के जीवों के युगलों (स्त्रीलिंग व पुलिंग धारक जीवों) की बलि चढ़ाओगे तथा इनमें सर्वोत्कृष्ट मनुष्य युगल की बलि अपने हाथ से चढ़ाओगे तो तुम्हें विद्याधरों के ऊपर भी विजय प्राप्त करानेवाली दिव्य तलवार की सिद्धि होगी तथा आकाशगामिनी विद्या भी प्रकट होगी।

वह घोर पापबुद्धि का धारक मिथ्यादृष्टि तथा लोभी राजा अपने कुलगुरु वीर भैरव की बात मानकर इस महाहिंसक यज्ञ को करने के लिए तैयार हो गया। तदनुसार अपने सैनिकों को सर्वप्रकार के जीवों के युगल लाने का आदेश दे दिया। कुछ ही समय में हाथी, घोड़ा, ऊंट, मगरमच्छ, बंदर, मोर, तोता, खरगोश आदि लगभग सभी प्रकार के जीव युगल यज्ञ में मारने के लिए लाये जा चुके, मात्र मनुष्य युगल आना बांकी रहा। सो उस राजा ने मनुष्य युगल को खोजने हेतु सैनिकों को पुन: भेजा।

चंडमारी देवी का मन्दिर महाभयानक था, वहाँ माँस मदिरा के लालची अंधभक्तों की भीड़ जमा रहती थी। मूर्ख लोग देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने शरीर में से खून, माँस निकाल कर उसे चढ़ाते थे। पशुओं का वध करके उस देवी को चढ़ाते थे, फिर उस माँस का स्वयं भक्षण करते थे तथा दूसरों को कराते थे। इसी मन्दिर पर आज महा-हिंसक यज्ञ की तैयारी चल रही थी, राजा मारिदत्त मनुष्य युगल के आने की प्रतिक्षा कर रहा था।

उसी समय उस राजपुर नगर में वीतराग दिगम्बर जैन आचार्य श्री सुदत्त मुनिराज का ससंघ आगमन हुआ। उसी संघ में मुनि की तथा आर्यिका पद की भावना वाले सहोदर भाई-बहिन भी थे। एक क्षुल्लक अभयरुचि और दूसरी उसकी बहिन क्षुल्लिका अभयमति। ये दोनों भाई-बहिन अतिसुन्दर रूपवान एवं राजकुलीन थे।

यशोमति राजा की कुसुमावती रानी के गर्भ से एक साथ जन्मे थे। ये दोनों पूर्वोक्त राजा

मारिदत्त के भानजे थे। दोनों ही भाई-बहिन बचपन से ही वैरागी थे और बचपन से ही मुनिसंघ के साथ रहकर साधना का अभ्यास करते थे।

जिस समय राजा मारिदत्त के सैनिक मनुष्य युगल की खोज कर रहे थे, उसी समय ये सहोदर आहार के लिए नगर में आ रहे थे। राज सैनिकों ने जब इन दोनों को देखा तो इन्हें पकड़ कर राजा के पास चंडमारी देवी के मन्दिर में ले गये।

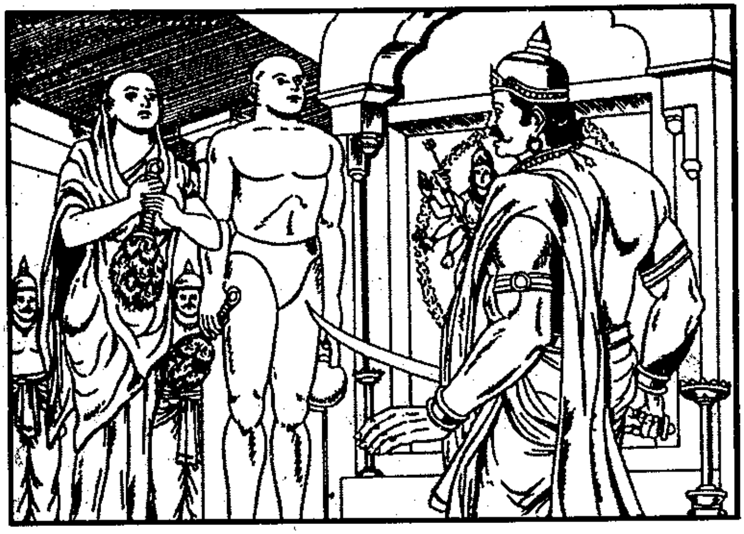

चंडमारी देवी के भैरव मन्दिर का क्रूर हिंसामय वातावरण देखकर ये भाई-बहिन समझ गये कि जरूर हमारे ऊपर कोई उपसर्ग आया है। वहाँ हाथी, घोड़ा, ऊंट, मगरमच्छ, बंदर, मोर, तोता, खरगोश आदि समस्त प्राणी युगल भय से थर-थर काँप रहे हैं। सबसे पहले मनुष्य युगल का बलिदान होना था, उसके बाद अन्य समस्त प्राणियों का बलिदान होना था। अभयरुचि और अभयमति की सादा वेष-भूषा और भद्रमुख-मुद्रा देखकर सभी प्राणी उनकी तरफ टकटकी लगाकर आशाभरी नजरों से देखने लगे कि ये पुण्यवान दयालु मनुष्य हमारी रक्षा अवश्य करेंगे।

राजा मारिदत्त के हाथ में नंगी तलवार एवं वातावरण की भयानकता देखकर वैरागी अभयरुचि धीरता भरी नजरों से अपनी बहिन की ओर देखता है। वीरपुत्री अभयमति भी सचमुच 'अभया' ही थी, वह भाई की दृष्टि से ही भाई का आशय समझ गई। अत: उसने भी अपने भाई की तरफ एकदम निशंक व निर्भय दृष्टि से देखा। बहिन की इतनी हिम्मत देखकर अभयरुचि निश्चिंत हो गया।

अहा ! आत्मा की अमरता को जानने वाले ये भाई-बहिन अपनी आँखों के सामने मृत्यु का भयंकर ताण्डव देखकर भी घबराये नहीं, बल्कि पंच-परमेष्ठी के स्मरण पूर्वक धर्म की आराधना में दृढ़ हो गये। दोनों को एक-दूसरे के ऊपर विश्वास था कि चाहे जितना उपसर्ग आवे, परन्तु वे धर्म-ध्यान को नहीं छोड़ेंगे, धैर्य को नही छोड़ेंगे।

राजा मारिदत्त इस सुन्दर व भद्रपरिणामी मनुष्य युगल को देखकर प्रसन्न हुआ। कौन जाने? किस कारण से हिंसा के लिए उठा हुआ राजा का हाथ वहीं का वहीं रुक गया, उसकी तलवार की पकड़ ढीली पड़ गई। उसकी आँखों में निर्दयता के बदले करुणा उभर आई। उसे स्वयं आश्चर्य होने लगा कि अरे ! इन साधु जैसे भाई-बहिनों को देखकर मेरे चित्त में क्रूरता के बदले आनन्द/प्रसन्नता क्यों हो रही है।

"अरे राजन् ! तुम्हारे चित्त में आनन्द क्यों नहीं उभरेगा ? अर्थात् अवश्य उभरेगा; क्योंकि अब हमारे जैसा तुम्हारा अहिंसक स्वभाव भी जाग उठा है। तुम्हें घोर हिंसा से दुर्गति में जाने से रोकने वाला अहिंसा धर्म प्राप्त कराने वाले सज्जन युगल आत्माओं का सुयोग्य सहज ही मिल रहा है। अत: तेरे चित्त में शान्ति उत्पन्न क्यों नहीं होगी ? अवश्य होगी।"

अभयरुचि और अभयमति दोनों भाई-बहिन गंभीर दृष्टि से राजा की तरफ देखते हैं और हाथ ऊँचा करके उसे धर्मध्यान का आशीर्वाद देते हैं। राजा तो आश्चर्य से देखता ही रह जाता है। अरे ! मैं जिन्हें मारने के लिए हाथ में नंगी तलवार लिए खड़ा हूँ, वे ही मुझे निर्भयपने धर्मलाभ का आशीर्वाद दे रहे हैं। अरे ! मेरे इस तलवार वाले हाथ के सामने यह आशीर्वाद देता हुआ परम अहिंसक हाथ कितना अच्छा लग रहा है। जरूर इनके द्वारा मेरा अवश्य ही कोई अपूर्ण कल्याण होने वाला है। ऐसे विचारपूर्वक वह मारिदत्त राजा ने क्षुल्लक श्री अभयरुचि से पूछा–

हे भद्र ! तुम कौन हो ? किस देश के हो ? किस कुल की शोभा हो ? बाल्यावस्था से ही तुमने वैराग्य कैसे पाया ? तुम्हें देखकर मुझे अच्छा क्यों लग रहा है ? मेरी इन सब शंकाओं का कृपा करके समाधान करो।

तब, जिन्हें अपने अनेकों पूर्वभवों का जातिस्मरण ज्ञान हुआ है– ऐसे वे वैरागी क्षुल्लक श्री अभयरुचि बोले – हे राजन् ! सुनो, वैसे तो साधु पुरुष अपने देश, कुल, या दीक्षा का कारण किसी को बिना प्रयोजन बताते नहीं है. फिर भी तुम्हें जानने की जिज्ञासा है, इसलिए तथा इसमें अनेक जीवों का हित है – ऐसा जानकर मैं वैराग्य को जगाने वाली अपनी कथा तुम्हें सुनाता हूँ। राजा सहित हजारों की जनसंख्या में वहाँ उपस्थित जन-समुदाय, भैरव आदि कुगुरु सभी आश्चर्यचकित हो उन क्षुल्लक श्री अभयरुचि की कथा ध्यान से सुनने बैठ गये।

पूर्वभव के राजा यशोधर और वर्तमान भव के क्षुल्लक अभयरुचि अपने श्रीमुख से अपने पूर्वभवों की वैराग्य कथा इसप्रकार कहते हैं–

"अवन्ती देश की उज्जैनी नगरी में यशोरथ (यशोर्थ) नाम का राजा और उसकी चंद्रमती

नाम की रानी रहती थी। उनका एक यशोधर नाम का पुत्र था। एक बार राजा यशोरथ अपने सिर का सफेद बाल देखकर संसार से विरक्त होकर दिगम्बर दीक्षा धारण कर साधु हो गये। तब यशोधर कुमार का राज्याभिषेक हुआ और अमृतमती के साथ उनका विवाह हुआ।

पाठकगण ! ध्यान रखें कि ये यशोधर राजा का जीव ही इस कथा का कथानायक है, जो अभी क्षुल्लक अभयरुचि की पर्याय में है।

एक दिन राजा यशोधर अमृतमती रानी के महल में सो रहे थे, तभी अर्धरात्रि के समय वे दखते हैं कि उनकी रानी अमृतमती अपनी शय्या से उठकर कहीं जा रही है।

पहले तो उन्होंने सोने का बहाना करते हुए उसे देखा, परन्तु जब रानी वस्त्र बदल महल के बाहर गई, तब उन्होंने उसका पीछा किया और देखा कि रानी महल के बाहर अष्टबक्र महावत की झोंपड़ी में गई और वहाँ कुबड़े बदसूरत महावत को जगाया। 'आज देर से क्यों आई है।' – ऐसा पूछते हुए वह कुबड़ा महावत रानी की चोटी खींचकर उसे क्रोधपूर्वक मारने लगा। विषयान्ध रानी उसके पैरों पर गिरकर क्षमा मांगते हुए बोली– 'राजा के होने के कारण आने में देरी हो गई, परन्तु यशोधर के पास होने पर भी मेरे हृदय में तो तुम्हीं विराजमान थे। सच कह रही है, यदि झूंठ बोलती होऊँ तो मुझे देवी चण्डिका खा जाये।' इसप्रकार महावत को मनाकर रानी उसके साथ भोग भोगने लगी।

अरे रे ! संसार ! विषयमग्न अज्ञानी प्राणी जिसप्रकार चैतन्य सुख को छोड़कर इन्द्रिय विषयों में रंजायमान होता है, उसीप्रकार यह विषयान्ध रानी सुन्दर रूपवान, गुणवान अपने पति राजा यशोधर को छोड़कर कुबड़े बदसूरत महावत के साथ रम रही है। जब यह सब दुष्कृत्य राजा ने अपनी आँखों से देखा और कानों से सुना, तो उसे इतना क्रोध आया कि उन्होंने दोनों को मारने के लिए पहले तो तलवार निकाल ली, फिर 'छोटा सा कुंअर (बालक) माँ के बिना अकेला रह जायेगा और लोक में निन्दा भी होगी।' – ऐसा विचार कर शान्त रहा और तलवार अन्दर म्यान में रख ली। तथा चुपचाप वापस आकर सोने का बहाना करके लेट गया। रानी भी चुपचाप आकर अपने पलंग पर सो गई। मानों जैसे कुछ हुआ ही न हो।

इस रात राजा को नींद नहीं आई, वह पूरी रात अन्दर ही अन्दर इस घोर वेदना से उभर नहीं सका, अत्यन्त दुःखी रहा। उसे रानी के प्रति अत्यन्त नफरत हो गई, संसार की यह दशा देखकर उसने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया।

दूसरे दिन प्रातः राजसभा लगी, राजसभा में राजा यशोधर राजमाता चन्द्रमती के साथ-साथ

सेनापति, मंत्री, कविराज, दीवान आदि सभी उपस्थित थे। सबसे पहले राजकवि ने एक सुन्दर गीत गाया, गीत के बोल थे – **"देखा नहिं कछु सार जगत में, देखा नहिं कछु सार.....।"**

अपने वैराग्य विचार के अनुकूल गीत सुनकर राजा ने राजकवि को विशेष इनाम दिया। यह देखकर राजमाता चंद्रमती को संदेह हो गया कि अवश्य ही कोई विशेष बात है। यशोधर आज उदास क्यों है ? यह जानने के लिए राजमाता ने राजसभा समाप्त होने पर उसकी उदासीनता का कारण पूछते हुए कहा – बेटा ! आज तुम्हारा चित्त राज-काज से एकदम उदास क्यों है ?

तब राजा यशोधर ने जो पहले से ही मन में सोच रखा था, वह अपने मुख से राजमाता से इस प्रकार कहा – हे माता ! आज रात्रि में मैंने एक भयानक दुःस्वप्न देखा है, जिससे मैं भयभीत हूँ और पुत्र को राज सौंप कर संसार से विरक्त होना चाहता हूँ।

मोहान्ध अज्ञानी माता ने कहा – बेटा ! ऐसे स्वप्नों पर तुम्हें ध्यान देने की जरूरत नहीं है, यदि तुम्हें इस दुःस्वप्न से अधिक भय लगता है, तो इसकी शान्ति के लिए तुम्हारे ही हाथों कुलदेवी चंडिका के समक्ष समस्त प्रकार के पशुओं की बलि चढ़ाने वाला पशुयज्ञ करा देते हैं, जिससे तुम्हें शान्ति होगी।

अपने हाथ से पशुओं के बलि देने की बात सुनते ही राजा यशोधर का चित्त कांप उठा। अरे ! पशु हिंसा तो पाप है उसके द्वारा शान्ति कहाँ से होगी ? अहिंसा ही एक मात्र सुखकर है/हो सकती है। हिंसा सुखकर कैसे हो सकती है ? – इसप्रकार अनेक युक्तियों पूर्वक उन्होंने माता को समझाने का प्रयास किया, क्योंकि हिंसा कार्य में उनका मन नहीं लगता था।

राजमाता ने समझा कि शायद कोई जैन मुनि से इसकी मुलाकत हो गई है, इसलिए उसे जैनधर्म की हवा लग गई है। जब से इसने दिगम्बर धर्म का उपदेश सुना है तब से इसने माँस-मदिरा का सेवन करना भी छोड़ दिया है। ऐसा विचार कर राजमाता चंद्रमती जैन गुरुओं से नफरत

करने लगी और जैनधर्म की निन्दा करने लगी, जिससे उसने मिथ्यात्व रूपी घोर पाप का बंध किया।

राजमाता ने राजा यशोधर को पशु यज्ञ पूर्वक देवी चंडिका की पूजन करने के लिए बहुत समझाया, परन्तु राजा यशोधर ने उनकी यह बात नहीं मानी और युक्ति एवं तर्क पूर्वक उसका खण्डन किया। तब माता ने विचार किया कि यह कुँवर अपने हाथ से जीवित प्राणियों का वध तो नहीं करेगा; परन्तु यज्ञ में पशुओं का बलिदान तो देना ही चाहिए। हिंसा मार्ग में फँसी हुई वह पापी रानी कुँवर को मनाने हेतु एक युक्ति विचार कर कहती है – बेटा ! तुम जीवित मुर्गे को नहीं मार सकते तो भले मत मारो; परन्तु आटे के बने हुए मुर्गे में जीवित मुर्गे का संकल्प करके देवी के सामने उसका बलिदान तो दे ही सकते हो, तब भी वही फल मिलेगा।

(पाठको ! ''वही फल मिलेगा'' इसका अर्थ समझे ? इसका अर्थ है कि – जो जीवित जीवों को मारने का फल – नरक, तिर्यंच आदि के अनन्त दु:ख हैं, वही फल अर्थात् नरक, तिर्यंच आदि के अनन्त दु:ख आटे के मुर्गे को मारने का मिलेगा; क्योंकि जीव मरता या जीता तो अपनी आयु कर्म के क्षय या उदय से है और फल मिलता है परिणामों का। अत: हमें हिंसा के परिणामों से विरक्त होना चाहिए।) इसलिए मैं तुझसे निवेदन करती हूँ कि तू आटे के मुर्गे में जीवित मुर्गे का संकल्प करके उसे देवी चंडिका के सामने बलिदान कर दे।

जिसके धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दूर हो ऐसे उस मूर्ख राजा यशोधर ने रानी की यह बात स्वीकार कर ली, साथ में उसके साथ दुर्गति भी स्वीकार कर ली अर्थात् महापाप का बंध किया।

इधर रानी अमृतमती या कहो जहरमती राजसभा का यह समाचार सुनकर क्षुब्ध हो उठी। वह समझ गई कि यह दु:स्वप्न की बात तो बनावटी है, राजा ने जरूर मेरे द्वारा रात्रि के अंधकार में किया गया पाप जान लिया है। इसलिए अपना पाप कलंक प्रसिद्ध नहीं हो, अत: उस रानी ने राजा को मारने का एक क्रूर षड़यंत्र बनाया। अरे रे ! विषयान्ध रानी स्वयं ही अपने आप को विधवा बनाने के लिए तैयार हो गई। उसने राजमाता को यह खबर भिजवाई कि मैं उनकी (पति की) सलामती के लिए स्वयं देवी के समक्ष अपना बलिदान देने को तैयार हूँ और यदि वे राज संसार छोड़कर वन में जाते हों, तो भी सीताजी की तरह मैं उनके साथ वन में जाऊँगी। तथा जब राजा द्वारा देवी पूजा पूर्ण हो जाए तब राजपुत्र के साथ राजमाता मेरी रसोई में भोजन करने पधारें, – ऐसा उसने आमंत्रण दिया और राजमाता ने उस आमंत्रण को स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन आटे से बने मुर्गे को यशोधर राजा ने ऐसे मारा, जैसे मानो सचमुच के जीवित मुर्गे

को मार रहा हो। "जीवित मुर्गे की बलि चढ़ाने में जो फल लगता है; वही फल मुझे इसके चढ़ाने से लगे" इस संकल्प के साथ उसने आटे के मुर्गे की गरदन पर छुरी चला दी और बाद में उसके टुकड़े में मांस की कल्पना करके उसे खाया भी।

इसी यशोधर राजा का जीव वर्तमान में क्षुल्लक अभयरुचि की पर्याय में अपनी ही पूर्वभव की यह दुखभरी कथा मारिदत्त राजा को सुनाते हुए कहता है–

"हे राजन्! ऐसी संकल्प पूर्वक हिंसा घोर मिथ्यादृष्टि के ही होती है और उसका महान पाप लगता है। जीव मरे या न मरे पर उसको मारने के संकल्पमात्र से मारने वाले जीव को ऐसा महान पाप का बंध होता है कि उसे उसके फल में भंयकर दुख सहन करने पड़ते हैं।"

कथा आगे बढ़ती है– आटे के मुर्गे का बलिदान देने के बाद राजा यशोधर तथा उसकी माता चन्द्रमती रानी अमृतमती के महल में भोजन करने जाते हैं।

रानी अपने पूर्व षडयंत्र के अनुसार कपट करके राजा तथा राजमाता के भोजन में हालाहल जहर मिला देती है। परिणामस्वरूप राजा तथा राजमाता भोजन करते ही मर जाते हैं।

हिंसारूपी दुर्ध्यानपूर्वक मरण करके यशोधर का जीव तो मयूर होता है और उसकी माता चन्द्रमती कूतरी होती है। यशोधर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र यशोमति कुमार राज्य करने लगा। संयोगवशात् एकबार वह मयूर और कूतरी दोनों उसके राजमहल में आ गये। राजमहल को देखते ही मयूर को अपने पूर्वभव का स्मरण हो गया। एकबार उस मयूर ने रानी अमृतमती को उसी पहले वाले कुबड़े महावत के साथ देखा, तो उसे

भारी गुस्सा आया और वह अपनी चोंच के तीव्र प्रहारों से उसे मारने लगा। तब रानी जोर-जोर से चिल्लाने लगी, शोर सुनकर आस-पास के लोग इकट्ठे हो गये और मयूर को मारने लगे; इतने में कूतरी भी वहीं आ गई और उसने मयूर को मार डाला।

पूर्वभव की माता ने अपने ही पुत्र को मार डाला। राजा यशोमति को उस मयूर से बहुत लगाव था, राग था। अत: उसने कूतरी को मार डाला अर्थात उसने अपनी दादी को ही मार डाला।

फिर दूसरे भव में मोर का अर्थात् यशोधर का जीव तो मरकर नेवला हुआ और कूतरी अर्थात् चन्द्रमती का जीव सर्प हुआ। नेवला एक दिन सर्प को खा गया। अर्थात् एकप्रकार से बेटा अपनी माँ को खा गया। तभी नेवले को एक शिकारी ने मार डाला।

क्षुल्लक अभयरुचि अपनी यह कथा सुनाते हुए आगे बोले – हे राजन् ! साँप का जीव है जो यशोधर पर्याय में मेरी माता थी और जिसने मुझे संकल्पीहिंसा कराई थी।

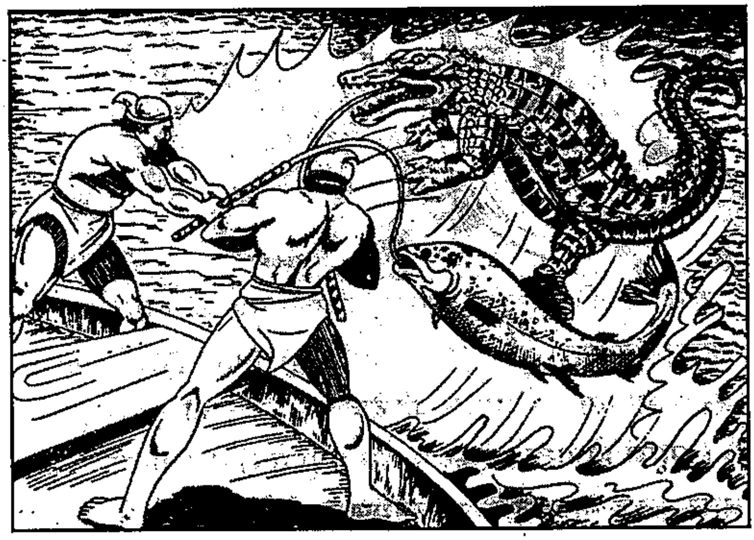

फिर तीसरे भव में मैं तो उज्जैन की क्षिप्रा नदी में मछली हुआ और यह मगर हुआ।

एक बार यशोधर पर्याय में जो मेरा पुत्र था यशकुमार, उसकी रानी कुसुमावती नदी किनारे गई। तब उसकी दासी को वह मगर पकड़ कर ले गया। अत: राजा के आदेशानुसार मछेरों द्वारा मगर तथा मछली को पकड़वा कर, उनका माँस पकाया गया और उससे अपने पूर्वजों को श्राद्ध-तर्पण किया। "अरे रे ! पूर्वजों के जीवों को ही मारकर उनका श्राद्ध किया।"

फिर चौथे भव में वह मगर और मच्छ अर्थात् राजा यशोधर तथा माता चन्द्रमती दोनों मर कर बकरी तथा बकरा हुए।

"अरे! एक समय (यशोधर के भव में) इन दोनों में माँ और पुत्र जैसा पवित्र सम्बन्ध था, आज वही बकरा और बकरी होकर भोगासक्त हो रहे हैं। संसार की कैसी विचित्रता है।" जब ये बकरा और बकरी भोगासक्त थे, तभी एक मैढ़े ने उस बकरे को मार डाला। तब बकरा मरकर

बकरी के ही गर्भ में आ गया अर्थात् बकरा स्वयं ही स्वयं का पिता तथा स्वयं ही स्वयं का पुत्र बन गया।

एक बार राजा यशोमतिकुमार शिकार करने गया, तब वहाँ उसने इस गर्भवती बकरी को ही बाण मारा, बाण से बकरी का पेट फट गया और बकरी मर गई तथा उसके पेट में से बकरी का बच्चा निकला। राजा उस बच्चे को लेकर राजमहल गये, जहाँ उसकी माता अमृतमती ने उसका मांस पका कर खाया अर्थात् एक प्रकार से वह अपने पति को ही खा गई।

फिर पाँचवे भव में बकरी का जीव पाड़ा हुआ। एक बार पाड़ा ने राजा के घोड़े को जोर से सींग मार दिया, जिससे राजा यशकुमार ने पाड़े को पकड़वा कर अत्यन्त क्रूरता से मारा और फिर जीवित ही पका कर उसका माँस खाया अर्थात् अपनी दादी माँ को ही खा गया।

छठवें भव में वह बकरी का बच्चा तथा पाड़ा दोनों वहाँ से मरकर फिर मुर्गा एवं मुर्गी हुए। अरे ! एक बनावटी मुर्गा की संकल्प पूर्वक हिंसा करने के फल में यह दोनों जीव इतने भवों में नीच पर्याय/हीन पर्याय में भ्रमण करते रहे।

अब यही मुर्गा और मुर्गी का जीव दिगम्बर जैन मुनिराज के पास से अहिंसा धर्म के संस्कार किस प्रकार पाते हैं। यह कहते हैं –

एक बार एक जल्लाद उन मुर्गा-मुर्गी को पकड़कर राज्य उद्यान में ले गया और उन्हें आपस में लड़ाने का खेल दिखाने हेतु राजा यशोमति कुमार को निमन्त्रण दिया।

राजा ने कहा – मैं कामदेव की पूजा करके आता हूँ, तबतक उद्यान में इन्तजार करो।

अत: राजा के इन्तजार में उन मुर्गा-मुर्गी को उज्जैन के राज्य उद्यान में एक पिंजड़े में बन्द करके रखा गया। जब वे मुर्गा-मुर्गी पिंजड़े में ही मनोहारी क्रीड़ा कर रहे थे, तभी एक आश्चर्यकारी घटना घटी; उद्यान में समस्त प्रकार के फल अचानक खिल उठे। चारों ओर सुन्दर सुगन्ध फैल गई। सुगंधित हवा बहने लगी। इन सबका क्या कारण है ? यह बात भी अत्यन्त मनोहारी है, तुम ध्यान से सुनो। बात यह थी कि उस समय उद्यान में सुदत्त नाम के जैनाचार्य का पदार्पण हुआ, जिससे चारों तरफ खुशियाली छा गई।

यह सुदत्त नाम के आचार्य पहले कलिंग देश के राजा थे तथा यशोधर राजा जो कि अभी मुर्गा की पर्याय में पिंजड़े में बंद हैं, उनके मित्र थे। वे ही दिगम्बर मुनि बनकर विहार करते हुए आज इस उज्जैन के उद्यान में पधारे थे, मानों जैसे वे अपने पूर्व के मित्र को अहिंसा धर्म प्राप्त

कराने व तिर्यंच गति से निकालने के लिए ही आये हों। मुर्गा-मुर्गी सुदत्ताचार्य को देखकर मन ही मन अत्यन्त खुश हुए और मानों मुनिराज की शान्त मुद्रा को देख-देखकर उनकी दिव्यवाणी सुनने को आतुर हो रहे हों।

किसी महापुण्य के उदय से वह मुर्गा-मुर्गी भी आम मनुष्यों की भाषा समझने लगे।

आचार्य श्री सुदत्त मुनिराज ने अहिंसाधर्म का उपदेश देते हुए कहा – यह जीव हिंसा से भयंकर दुःख भोगता है। यज्ञ के लिए कुदेव-कुदेवी के नाम पर की हुई संकल्पी हिंसा भी महापाप है। हिंसा पोषक कुमार्ग के सेवन से और कुदेवादि के सेवन से जीव घोर संसार में रखड़ते हैं।

अरे ! अपने शरीर में छोटा सा काँटा चुभने पर कैसा भयंकर दुःख होता है। तब फिर यज्ञ के बहाने दूसरे जीवों की गरदन पर छुरी चलाने से उन जीवों को कितनी पीड़ा होती होगी। यह मूढ़ जीव ! इसका विचार भी नहीं करता।

"अहो ! इस जगत में एक जैनधर्म ही परम अहिंसक है। जैनधर्म किसी भी बहाने किसी भी जीव की हिंसा को स्वीकार नहीं करता। अरे ! सच्चे जीव की तो क्या बात। आटे या मिट्टी के बनावटी जीव की भी हिंसा नहीं करता।"

जब मुनिराज की मधुर एवं हितकारी वाणी मुर्गा-मुर्गी बड़े ही ध्यान से सुनते हुए चित्त में अहिंसा धर्म की महिमा से अभिभूत हो रहे थे, तभी उन मुनिराज सुदत्ताचार्य ने उन्हीं मुर्गा-मुर्गी का उदाहरण देते हुए कहा– देखो ! यह पिंजरे में बंद मुर्गा-मुर्गी हैं – यह अपने पिछले भव में क्रमशः पुत्र व माता थे। पुत्र का जीव तो इस उज्जैनी नगर का राजा यशोधर था तथा माता का जीव उसकी माँ थी। यशोधर मेरा मित्र था, इसने अपनी माँ के आग्रह से आटे का मुर्गा बनाकर उसमें जीवित मुर्गे का संकल्प करके उसे देवी चण्डिका के समक्ष चढ़ाने हेतु मारा था और इसकी माता ने उसकी अनुमोदना की थी।

इस महापाप के फलस्वरूप ये दोनों जीव क्रमशः मयूर-कूतरी, नेवला-सर्प, मगर-मच्छ, बकरा-बकरी, बकरा-भैंसा आदि दुर्गतियों में परिभ्रमण करते हुए, दुःख भोगते हुए अब मुर्गा-मुर्गी की पर्याय में जन्मे हैं।

श्री मुनिराज के मुख से अपने पूर्व भवों की बात सुनते ही उन्हें भी अपने पूर्व भव का स्मरण ज्ञान हुआ, जिससे वे अपने पूर्व में किये गये पापों का इतना भयंकर फल जानकर पाप से विरक्त हुए तथा उनके चित्त में अहिंसा का अंकुर फूटने लगा। आँख में से झर-झर आँसू बहने लगे। पंखों

की फड़फड़ाहट से वे मुनिराज से अपने उद्धार हेतु विनती करने लगे। जैसे कि मुनिराज से दीक्षा ही मांग रहे हों।

मुनिराज सुदत्ताचार्य भी उस कुक्कुट युगल की शुभ-चेष्टा समझ गये, उन्होंने देखा कि यह दोनों भद्र परिणामी जीव अहिंसा धर्म का उपदेश सुनकर उसका पालन करने के लिए अति-उत्साही हो रहे हैं। अत: उन्हें सम्बोधन करते हुए बोले – हे भद्रजीवो ! तुम घबराओ नहीं, अब तुम्हारे दु:खों का अन्त समय आ गया है। जैनधर्म के प्रताप से तुम्हें अहिंसा धर्म के प्रति प्रेम जागृत हुआ है और हिंसा रूपी पापों से तुम्हारा चित्त विरक्त हुआ है। अत: अब तुम अहिंसाणुव्रत का शान्त चित्त से पालन करो। कभी भी किसी भी जीव को मारने का भाव मत करना।

कुक्कुट युगल ने भी प्रसन्न चित्त से गर्दन झुकाकर मुनिराज की बात को स्वीकार किया।

इसप्रकार इन दोनों भव्यजीवों को सम्बोधन कर मुनिराज सुदत्ताचार्य अन्य स्थान के लिए विहार कर गये।

जब अहिंसा धर्म की प्राप्ति से वे दोनों आनन्दित होकर हर्षभरी चेष्टा कर रहे थे। तभी उद्यान में आते हुए यशोमति राजा(पूर्वभव के पुत्र)ने दूर से ही उन मुर्गों की आवाज सुनकर अपनी रानी को शब्दभेदी बाण चलाने की कला दिखाने के लिए ऐसा लक्ष्यभेदी बाण चलाया कि वे दोनों कुक्कुट युगल एक ही तीर में एक साथ विंध गये।

अरे ! इन राजा-रानी को क्या खबर है कि यह जीव तो एक समय इसी भव में मेरे पिता एवं पितामही थे। भली होनहार के योग से वे दोनों मरकर उन्हीं राजा यशोमति की रानी के गर्भ में युगल भाई-बहिन के रूप में जन्मे ! अर्थात् अपने पुत्र का ही पुत्र हुआ।

अपने पूर्व भवों के दु:ख की कथा को सुनाते हुए क्षुल्लक अभयरुचि मारिदत्त राजा से कहते हैं कि हे राजन् ! यशोमति राजा के वे पुत्र-पुत्री हम ही हैं। हम सहोदर भाई-बहिन हैं। जब हम रानी कुसुमावती के गर्भ में आये तभी से रानी को ऐसे भाव जागृत हुए कि "मैं सर्व जीवों को अभयदान दूँ।" इसी कारण उन्होंने मेरा नाम अभयरुचि एवं बहिन का नाम अभयमति रखा है।

राजा मारिदत्त आश्चर्य प्रकट करते हुए बोला – अरे ! तुम तो मेरे भानजे-भानजी हो। रानी कुसुमावती तो मेरी बहिन है। तुम्हें देखकर मेरे हृदय में प्रेम उमड़ रहा है और तुम्हारी पूर्वभव की कथा सुनकर मेरा चित्त भी जीवहिंसा से डर रहा है अर्थात् अब मुझे भी जीव हिंसा से डर लगने लगा है, मुझे अहिंसा धर्म के प्रति बहुमान एवं आदर के साथ प्रीति हो गई है।

हे बालको ! तुम इतनी छोटी उमर में संसार को छोड़कर मुनिसंघ के साथ क्यों रहते हो ?

सुनो राजन् ! हमें धर्म में लगाने वाले महा-उपकारी वे सुदत्त महाराज कई वर्षों के बाद जब पुन: उज्जैनी नगरी में पधारे, तब राजा यशोमति उनके दर्शन करके अत्यन्त प्रभावित हुए और पूछा कि हे स्वामी ! मेरे पितामह राजा यशोरथ तथा पितामही रानी चन्द्रमती अभी कहाँ हैं ? तथा मेरे माता-पिता अमृतमती और यशोधर कहाँ हैं ?

तब श्री मुनिराज सुदत्ताचार्य ने कहा – हे भव्य ! सुनो, तुम्हारे दादा यशोरथ का जीव तो अभी देवलोक में है तथा दुराचारी माता अमृता का जीव नरक में है और तुम्हारे पिता तथा पितामही आटे का मुर्गा बनाकर उसका संकल्प पूर्वक यज्ञ में बलिदान करने के कारण तिर्यंचगति के कई जन्मों में दु:ख भोगने के बाद मुर्गा-मुर्गी भव में थे, तब दोनों तेरे ही बाण से विंध कर मरण को प्राप्त हुए और तेरी रानी के गर्भ से ही उत्पन्न होकर अभी तेरे ही (अभय तथा अभया) पुत्र-पुत्री हैं। तुम्हारे इस भव में ही जो तेरे पिता और दादी माँ थे, वे ही अभी तेरे पुत्र और पुत्री हैं। अहिंसा धर्म के प्रताप से इन दोनों का तिर्यंचगति से उद्धार हुआ है।

यह सम्पूर्ण वृत्तांत सुनकर राजा यशोमति को अपने दुष्कृत्य पर अत्यन्त पछतावा हुआ और उन्हें मुनिराज से दीक्षा लेने का भाव जागा। उन्होंने घर जाकर यह सम्पूर्ण वृत्तांत हम सबको सुनाया। हमें अपने पूर्व भवों का वृत्तांत सुनकर पूर्वभवों का जातिस्मरण हुआ। उस समय हमारी (भाई-बहिन की) उम्र 8 वर्ष की थी, हमने मुनि तथा आर्यिका के व्रत धारण करने का विचार किया; परन्तु हमारी कम उम्र को देखते हुए आचार्य महाराज ने हमें दीक्षा तो नहीं दी। परन्तु श्रावक के उत्तम व्रत प्रदान किये। उन व्रतों का पालन करते हुए हम सुदत्ताचार्य महाराज के साथ संघ में रह रहे हैं। विहार करते हुए आज जब हम नगरी में आ रहे थे तभी तुम्हारे सेवक हमें तुम्हारे पास ले आये। इसके बाद क्या हुआ ? वह तो तुम्हारे को पता ही है।

अपने भानजा-भानजी की इतनी छोटी उम्र में वैराग्य कथा सुनकर राजा मारिदत्त का परिणाम एकदम पलट गया। तब उसने हिंसा यज्ञ बंद करने का आदेश दिया, हिंसा के लिए इकट्ठे किये गये सभी जीवों को छोड़ दिया और स्वयं सुदत्ताचार्य महाराज के पास जाने को तैयार हो गया।

यह सब सुदत्ताचार्य महाराज अपने अवधिज्ञान से जानकर और धर्मप्रभावना का हेतु समझकर स्वयं ही वहाँ आ पहुँचे।

राजा तथा हजारों प्रजाजनों ने उनका सम्मान किया तथा सुदत्ताचार्य महाराज ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश का सार इसप्रकार है –

"जो आत्मा को दुर्गति में ले जाकर दुःखित करती हैं, उन्हें (क्रोधादि को) कषाय कहते हैं अथवा जैसे वटवृक्ष आदि के कसैले रस विशुद्ध वस्तु को कलुषित (मलिन) करने वाले हैं, वैसे ही क्रोधादि कषाय भी विशुद्ध आत्मा को कलुषित (मलिन) करने में कारण हैं; अतः कसैले सरीखी रसवत् होने के कारण इन्हें कषाय कहते हैं। वे कषाय चार प्रकार की हैं – क्रोध, मान, माया व लोभ।

क्रोध – अपने या दूसरों के अपराध से अपना या दूसरों का नाश (घात) होना या नाश करना क्रोध है अथवा अशुभभावों का उत्पन्न होना क्रोध है।

मान – विद्या, विज्ञान व ऐश्वर्य – आदि के घमण्ड में आकर पूज्य पुरुषों की आज्ञा का उल्लंघन करना अर्थात् उनका आदर-सत्कार न करना मान है अथवा युक्ति दिखा देने पर भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ना मान है।

माया – दूसरों को धोखा देने के अभिप्राय से अथवा अपनी कीर्ति, आदर-सत्कार और धनादि की प्राप्ति के अभिप्राय से मन, वचन व काय की कुटिल प्रवृत्ति का होना माया है।

लोभ – चेतन स्त्री पुत्रादिक में और अचेतन धन-धान्यादि पदार्थों में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार की चित्त में उत्पन्न हुई विशेष तृष्णा को लोभ कहते हैं अथवा इन पदार्थों की वृद्धि होने पर जो विशेष सन्तोष होता है और उनके विनाश होने पर जो असन्तोष होता है, उसे लोभ कहते हैं।

कषायों के भेद – इस प्रकार ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ हैं – अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

कषायों का स्वरूप –

जो सम्यक्त्व गुण का घात करती हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नहीं होने देतीं, उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

जो सम्यक्त्व का घात न कर श्रावकों के देशव्रत (एकदेश चारित्र) को नष्ट करती हैं, उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

जो कषाय सम्यग्दर्शन व देशव्रत को न घातकर मुनियों के सकल चारित्र को घातती हैं, उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

जो कषाय यथाख्यातचारित्र को उत्पन्न नहीं होने देतीं, उन्हें संज्वलन कषाय कहते हैं।

शक्ति की अपेक्षा कषायों के भेद –

चारों क्रोध-आदि कषायों में से प्रत्येक के शक्ति की अपेक्षा से भी चार-चार भेद हैं।

पत्थर की लकीर के समान क्रोध, पृथ्वी की लकीर के समान क्रोध, धूलि की लकीर के समान क्रोध और जल की लकीर के समान क्रोध। इनमें से पत्थर की लकीर के समान उत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध तो नरकगति में ले जाता है। पृथ्वी की रेखा के समान क्रोध जीव को तिर्यंचगति में ले जाता है। धूलि की रेखा के समान क्रोध जीव को मनुष्यगति में ले जाता है और जल की रेखा के समान जघन्य शक्तिवाला क्रोध जीव को देवगति में ले जाता है।

मान कषाय के भी शक्ति की अपेक्षा चार भेद हैं – पत्थर के खम्भे के समान, हड्डी के समान, गीली लकड़ी के समान और वेंत के समान। जैसे – पत्थर का खम्भा कभी नहीं नमता वैसे ही जो मान जीव को कभी विनीत नहीं होने देता, वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान जीव को नरकगति में उत्पन्न होने का कारण है। हड्डी-जैसा मान जीव को तिर्यंचगति में उत्पन्न होने का कारण है। थोड़े समय में नमने-योग्य गीली लकड़ी जैसा अनुत्कृष्ट शक्ति वाला मान जीव को मनुष्यगति में उत्पन्न होने का कारण है और अतिशीघ्र नमने-लायक वेंत-सरीखा मान जीव को देवगति में उत्पन्न होने का कारण है।

इसी तरह बाँस की जड़, बकरी के सींग, गोमूत्र और चामरों जैसी माया क्रमश: चारों गतियों में उत्पन्न कराने में निमित्त होती है अर्थात् जैसे बाँस की जड़ में बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं, वैसे ही प्रचुर छल-छिद्रों वाली व उत्कृष्ट शक्ति वाली माया जीव को नरकगति की कारण है। बकरी के सींगों-सरीखी कुटिल माया तिर्यंचगति की कारण है और गोमूत्र-जैसी कम कुटिल माया मनुष्यगति की कारण है और चामरों-सरीखी माया देवगति की कारण है।

किरमिच के रंग, नील के रंग, शरीर पर मैल के लेप और हल्दी के रंग-सरीखा लोभ शेष कषायों की तरह किस जीव के संसार का कारण नहीं होता ? अर्थात् – किरमिच के रंग-जैसा पक्का तीव्र लोभ नरकगतिरूप संसार का कारण है। नील के रंग-जैसा लोभ तिर्यंचगति का कारण है और शरीर पर मैल के लेप जैसा लोभ मनुष्यगति का कारण है एवं हल्दी के रंग-सरीखा लोभ देवगति का कारण है।

क्रोध से हानि – जिस प्रकार अपथ्य सेवन करने वाले रोगी का औषधि-सेवन व्यर्थ है, उसी प्रकार क्रोधी मानव के धर्मध्यान, श्रुताभ्यास व संयम व्यर्थ हैं।

मान से हानि – जैसे दावानल अग्नि से जले हुए व खारी मिट्‌टी के कषायले रसवाले वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले अंकुर नहीं उगते, वैसे ही मानरूपी दावानल अग्नि से भस्म हुए और मदरूपी खारी मिट्‌टी से कषायले रस वाले मनुष्यरूपी वृक्षों से प्रशस्त कान्तिवाले नये अंकुर नहीं उगते।

माया से हानि – जब तक जीव रूपी जलराशि में माया (छल-कपट) रूपी रात्रि का लेशमात्र भी निवास रहता है, तब तक उसका मनरूपी कमल-समूह विकास-लक्ष्मी को धारण नहीं करता।

लोभ से हानि – जैसे पथिक लोक में गड़ी हुई हड्डियों के चिन्हों वाली चाण्डालों की सरसी (तलैया) दूर से ही छोड़ देते हैं, वैसे ही प्रशस्त ज्ञानादि गुण, लोक में लोभरूपी हड्डियों के चिन्होंवाले मानवों के चित्तरूपी झरनों को दूर से ही छोड़ देते हैं अर्थात् लोभी व्यक्ति के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं।

अत: आत्मज्ञानी पुरुष को अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए संयमरूपी कीलों द्वारा अपने मनरूपी गृह से इन क्रोध, मान, माया व लोभरूपी चारों शल्यों को निकालने का यत्न करना चाहिए। पाँच इन्द्रियाँ व एक मन स्वभाव से ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होते हैं, अत: उन विषयों के स्वरूप को जानकर सदा इन्द्रियों को उनके विषयों से पराङ्मुख करना चाहिए अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों में फँसने से बचाना चाहिए।

जब आत्मा ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ग्रस्त (व्याकुल याफँसाहुआ)होता है, तब उस आत्मा को कल्याण की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? जो कि विष-सरीखे तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं, अर्थात् जैसे विष भक्षणकाल में मिष्ट प्रतीत होता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषय भी तत्काल में मनोज्ञ प्रतीत होते हैं और जो फलकाल में वैसे ही दुर्गति के दु:ख देने वाले हैं, जैसे भक्षण किया हुआ विष उत्तरकाल में घातक होता है।

व्रती-कर्तव्य – व्रती पुरुष को अपने व्रतों को विशुद्ध रखने के लिये दुष्ट (जो दो जगह स्थित रहता हो) मन के आधार से दूसरे का बुरा चिन्तवन नहीं करना चाहिये। वचन के आधार से असत्य, निन्दा व कलहकारक वचन नहीं बोलना चाहिए और शरीर के आश्रय से बुरी चेष्टा (हिंसा आदि) नहीं करना चाहिए। व्रती द्वारा जो व्रत ग्रहण किये गये हैं, उनमें न तो अतिचार लगाना चाहिए और न व्रतों को खण्डित करना चाहिए – इसप्रकार से जो व्रतों की रक्षा की जाती है उसे ही व्रतों का पालन कहा जाता है।

व्रती को सदा वैराग्य की भावना भाना चाहिए। सदा तत्त्वों का चिन्तवन करना चाहिए और यम व नियमों के पालन में सदा तत्पर रहना चाहिए।

वैराग्य-आदि का स्वरूप – प्रत्यक्ष से देखे हुए (राज्यादि वैभव) व आगम में निरूपण किये हुए (स्वर्गादि भोगों) की लालसा से रहित हुए साधु या श्रावक का मन को वश करना वैराग्य है। प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण से जाने हुए पदार्थों का ऐसा स्मरण करना तत्त्वचिन्तन है, जो कि उल्लंघन करने के लिए अशक्य स्वभाव वाला है। बाह्य व आभ्यन्तर शौच, तप, स्वाध्याय और ध्यान को यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये नियम हैं। इसप्रकार हे मारिदत्त महाराज ! हमने यह गृहस्थ-धर्म कहा और मूलगुण व उत्तर गुणोंवाला मुनिधर्म आगम से जानना चाहिए।''

इस प्रकार उस भव्यात्मा मारिदत्त महाराज और नगरवासी-जनों ने सुदत्ताचार्य से श्रावक 3
व मुनिधर्म विषयक व कथाओं के अवतरण-वाले और अभयरुचि क्षुल्लक व उनकी बहिन अभयमति क्षुल्लिका के आचरण वाले धर्म को सुनकर अपनी पर्याय व परिणामों के अनुसार सभी ने अपने-अपने योग्य धर्म ग्रहण किया।

उस क्षुल्लक जोड़े ने भी क्रम से कुमारकाल व्यतीत करते हुए चिरकाल तक ऐसा चारित्र (मुनिधर्म व आर्यिका-धर्म) पालन किया, जो कि स्वर्गलोक में स्थापित करने वाला है और जो मुनिवेष (दिगम्बर मुद्रा) व आर्यिकावेष में कहे हुए अनेक भेदोंवाले तपरूपी महल पर कलश स्थापित करने वाला है।

अपनी छोटी बहिन (अभयमति क्षुल्लिका) सहित अभयरुचि क्षुल्लक ने उस चण्डमारी देवी के वन के एकान्त स्थान पर यथाविधि समाधिमरण करके ऐशानकल्प नाम का दूसरा स्वर्ग प्राप्त किया और श्री सुदत्ताचार्य से धर्म श्रवण करके श्रावक धर्म धारण करने वाले मारिदत्त राजा ने भी उसी तरह स्वर्ग-लक्ष्मी का विलास प्राप्त किया।

(कहानी संख्या 43 से 55 के लेखक ब्र. हरिलाल जैन हैं। - आभार)

56

ब्रह्म समाये ब्रह्म में

लगभग 400 वर्ष पुरानी बात है, उस समय यमुना नदी के किनारे एक विश्वविख्यात टापानगर था, जिसकी तत्कालीन राजधानी सुदेश थी। साहित्य में उपलब्ध जानकारी के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि आज के भौगोलिक चित्र में वह टापानगर आगरा के आस-पास ही रहा होगा। उस समय आगरा एक अध्यात्म नगर के नाम से प्रसिद्ध था। कविवर बनारसीदास जैसे आध्यात्मिक कवि का सानिध्य भी आगरा को प्राप्त हुआ।

इसी टापानगर में एक बणिक रहता था, जिसका नाम हल्ल था। वह एक बार धन कमाने हेतु जब अपने नगर से बाहर परदेश गया था, तब उसके नगर टापा में भीषण आग लग गई और सम्पूर्ण नगर उस आग में जलकर भस्म हो गया। जब हल्ल परदेश से अपने नगर वापस आये, तब नगर की विनाशलीला के समाचार सुनकर विह्वल हो गये। कहा भी है –

विह्वल हुए हल्ल सुनते ही, मानों लगा वज्र आघात।
साहस ने आ धैर्य बँधाया, दूर किया सब पश्चाताप॥
जिनवर का सुमिरन कर बोले, तुमको झलका वही हुआ।
मैं सुख-दुःख में तुम्हें न भूलूँ, हे प्रभु ! देना यही दुआ॥

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

अपने आपको धैर्य बँधाकर हल्ल टापानगर की राजधानी सुदेश के राजा कीर्तिसिन्धु के पास गये। राजा भी धर्मप्रेमी, उदारमना, प्रजापालक था, सो उसने हल्ल को अपने राजभवन में ही एक कक्ष देकर रख लिया। नीति निपुण, ईमानदार हल्ल से राजा अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने बड़े ही धूमधाम से एक गुणवान, रूपवान, सुशील, सुन्दर बणिक पुत्री से शुभमुहूर्त में हल्ल का विवाह भी करा दिया। इसप्रकार एक उजड़े हुए परिवार को पुनः बसा हुआ देखकर राजा ने अपना कर्त्तव्य निर्वाह पूर्ण हुआ जानकर राहत अनुभव की।

हल्ल भी अपनी नवविवाहिता पत्नि को पाकर अधिकाधिक समय उसके साथ बिताने लगे। और एक दिन उस नवदम्पत्ति के घर एक सुन्दर-स्वस्थ और रूप तथा गुणों से सम्पन्न बालक का जन्म हुआ। बालक के जन्म की सब ओर से बधाईयाँ आने लगीं। ज्योतिषज्ञान से शुभराशि,

नक्षत्र आदि को देखकर ज्योतिषी द्वारा बालक का नामकरण किया गया, बालक का नाम रखा गया – ब्रह्मगुलाल।

बालक ब्रह्मगुलाल दूज के चाँद की तरह नित्य वृद्धिंगत होने लगा। उसका उन्नत भाल, घुँघराले बाल, सुघड़-सलोने अंगोपांग, विकार रहित तन देख-देखकर मात-पिता सहित सभी परिजन-पुरजन भी प्रमुदित होते और उसकी मंगल कामना करने वाली तरह-तरह की चर्चाएँ करते।

अब बालक ब्रह्मगुलाल चलने व बोलने लगा है, अपनी बाल-भाषा में बचपन से ही सुन्दर-सुन्दर ज्ञानवर्द्धक तथ्यात्मक बातों से सबका मन मोहने लगा। अतः योग्य समय आने पर उनके माता-पिता ने उसे पाठशाला में पढ़ने भेज दिया; क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकों को उचित समय पर उचित शिक्षा नहीं देते, वे तो कहने के संरक्षक हैं, वास्तव में नहीं। और जो बालक पढ़ाने पर भी पढ़ते नहीं हैं, वे दुष्ट चित्त होते हैं, तथा स्वयं ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी पटकने जैसा कार्य करते हैं। कहा भी है –

मात-पिता जो योग्य उम्र में, नहीं पढ़ाते निज बालक।
कहने भर के हों संरक्षक, सत्य रूप उनके घातक॥
मात-पिता की कोशिश पर भी, जो नहिं विद्या पढ़ते हैं।
दुष्ट चित्त वे ढीट कटारी, पर अपना पग धरते हैं॥

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

जगत में कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि सभी रतनों से भी विद्यारत्न महान होता है; क्योंकि विद्या के बिना सब प्रकार का वैभव होने पर भी उनका सही उपयोग नहीं किया जा सकता। अतः विद्यारहित अज्ञानी दुखी ही रहता है। और जो विद्याधन से संयुक्त होता है, वह अन्य समस्त प्रकार के वैभव से रहित भी हो तो भी सुखी रहता है। इसलिए सभी माता-पिता अपने बालकों को सर्वप्रथम विद्याधन ही देते हैं। **विद्याधन में भी सर्वश्रेष्ठ विद्या अध्यात्म विद्या है, क्योंकि वही इस भवसागर के दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली है,** बाकी लौकिक विद्या तो किञ्चित् संसार के सुखों को देने वाली है, जो वास्तव में दुख स्वरूप ही हैं।

पाठशाला में पहुँचने पर ब्रह्मगुलाल से उनके गुरु ने सबसे पहले उनको "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" लिखवाया। इसके बाद विद्या का महत्त्व समझाते हुए कहा –

वत्स ! विनय विद्या की जननी, गुरु अनुभव से बतलाते।
इससे विद्यावान सभी जन, विनयवान हैं दिखलाते।।
गुणी जनों को देख खुशी से, हाथ जोड़ स्वागत करना।
सात्विक हल्का भोजन कर नित, दुखकर आलस परिहरना।।

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

जिसप्रकार स्वभाव से स्वच्छ वस्त्र मलिन होने पर भी जल और सोड़ा-साबुन के संयोग में आकर शीघ्र साफ हो जाता है अथवा कीचड़ में लिपटा हुआ, किट्टिमायुक्त स्वर्ण अग्नि के संयोग में आकर परिपूर्ण शुद्ध हो जाता है। उसीप्रकार योग्य गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर बालक ब्रह्मगुलाल भी अत्यल्प काल में ही धर्मशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, वाणिज्य, अलंकार सामाजिक, वैद्यक, कविता, शिल्प, मनोविज्ञान आदि सभी विद्याओं का अध्ययन कर एक योग्य विद्वान बन गये; परन्तु कुछ चंचल एवं मनोरंजन व स्वार्थी प्रकृति के मित्रों के साथ रहकर उन्हें अनेक प्रकार के रूप प्रदर्शन करने का शौक लग गया। जिस कारण वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, दधि लूटन, चीर हरन, गोपीचंद, भरथरी, तापस, महिषी, घोड़ा, गाय, वृषभ, सारस, मोर, कोकिला आदि विविध रूपों को धारण कर लोगों को रिझाने लगे। कहा भी है –

पड़े कुसंगति में खल जागा, करने लगे अशोभन काम।
कौतुक रूप ख्याल अरू नाटक, चेटक माहिं रचे प्रतियाम।।
अग्नि थंभ जल थंभन विषधर, स्ववश करन पुतली का नृत्य।
वशीकरन मारन उच्चाटन मंत्र तंत्र के सारे कृत्य।।
रचे हास्य शृंगार रसों में, पकड़ लिया भान्डों का काम।
भाँति-भाँति के स्वाँग बनाकर, जनता-मनरंजन प्रतियाम।।
कभी-कभी तो कला अनोखी, ऐसा रूप दिखाती थी।
जिसे देखकर देव विक्रिया, भी लज्जित हो जाती थी।।

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

इस प्रकार उनके इन मनोरंजन रूप कार्यों को देखकर जनता तो हर्षित होती, परन्तु परिजन वाले इस बात से दुःखी रहने लगे, उन्हें इसप्रकार के कार्यों को न करने के लिए सब प्रकार से समझाया। तब उन्होंने प्रतिदिन करना तो बन्द कर दिया; परन्तु सामाजिक, धार्मिक त्यौहारों पर करने की छूट रखी।

इन सबसे गुजरते हुए अब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हो गये थे, अतः परिवार वालों ने उनका एक योग्य व सुशील कन्या से विवाह कर दिया। विवाह कर गृहस्थी के कार्यों एवं विषय भोग में, व्यापार धन्धे में, षट् आवश्यक रूप धर्म कार्यों में – इत्यादि सब कार्यों को करते हुए भी उनका बहुरुपिया का शौक कम न हुआ, त्यौहार पर्वों पर तो वे उसे कर ही लेते। धीरे-धीरे उनकी स्वाँग बनाने की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। जब उनकी प्रसिद्धि राजा कीर्तिसिन्धु ने सुनी तो वे भी उनकी यह कला देखने के लिए उन्हें कभी-कभी राजदरबार में ससम्मान आमंत्रित करने लगे। इससे ब्रह्मगुलाल राजा के काफी नजदीक पहुँच गये, अब तो राजा ब्रह्मगुलाल को सर्वाधिक महत्त्व देने लगे। जिससे मंत्रीगण उनसे ईर्ष्या करने लगे और उन्हें नीचा दिखाने की युक्ति सोचने लगे। कहा भी है –

ख्याति देखकर श्री गुलाल की, मंत्री उर ईर्षा जागी।
कल का बनिया बनता जाता, नृप के आगे बड़भागी॥
इधर ख्याति बढ़ती थी उर, ईर्षा बढ़ती मंत्री मन में।
इसका हो अपमान कौन विधि, रहता इस उधेड़बुन में॥
यह जैनी है, जैनी होकर हिंसा कभी न कर सकता।
हिंसा बिना स्वाँग केहरि का, किन्तु कभी नहिं फव सकता॥
सबसे अच्छी युक्ति यही है, राजकुंवर को समझाऊँ।
क्रूर सिंह का स्वाँग बनाकर, भरी सभा में बुलवाऊँ॥

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

ऐसा विचार कर मंत्री ने प्रथम राजकुमार को हिरण बच्चे के आकार वाले खिलौनों से खिलाना आरम्भ किया। फिर सचमुच के हिरण बच्चे को साथ रखने की आदत डाली और अब तो ये हालत हो गई राजकुमार की कि वह हिरण के बच्चे को एक पल भी अपने से जुदा नहीं करता।

एक बार मौका पाकर मंत्री ने राजा के सामने ब्रह्मगुलाल से सिंह का रूप धारण कर आने का प्रस्ताव रखा। राजा ने भी इस प्रस्ताव को सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की तथा मंत्री की बात का समर्थन करते हुए ब्रह्मगुलाल से सिंह बनकर आने का स्नेहमयी आग्रह किया।

यह सुनकर ब्रह्मगुलाल ने राजा से कहा – ''महाराज ! यह आप क्या कह रहे हैं ? इससे कुछ अनर्थ भी हो सकता है। शेर का भयंकर रूप देखकर यदि कोई मर गया तब क्या होगा ?

इसलिए इस मनोरंजन के कार्य में किसी भी प्रकार की हिंसा हो यह मुझे कतई स्वीकार नहीं हो सकता।''

राजा ने कहा – ''इसकी चिन्ता तुम मत करो। प्रथम तो ऐसा कुछ होगा ही नहीं, परन्तु यदि विधि-वशात् हो भी जाए तो तुम्हें इसकी कोई सजा नहीं मिलेगी। तुम्हारे इस कार्य के निमित्त से होने वाली हिंसा से तुम्हें मुक्त किया जाता है। तुम तो निश्चिंत होकर शेर का स्वाँग धारणकर राजसभा में पधारो। पूरी सभा तुम्हें देखकर अवश्य प्रसन्न होगी और तुम्हें ढेर सारी बधाइयाँ देगी।'' ब्रह्मगुलाल राजा की बात न टाल सका, परन्तु उसे अपनी रूप धारण करने की कला चातुर्य पर पूरा भरोसा था, अतः उसे इस बात की चिन्ता तो बनी ही रही कि कहीं कुछ अनिष्ट न हो जाये। ऐसे विकल्प जाल में उलझा वह ब्रह्मगुलाल अपने घर कब पहुँच गया, इसका उसे पता भी नहीं चला।

इधर पापबुद्धि मंत्री भी मन ही मन यह सोच-सोचकर प्रसन्न हो रहा है अर्थात् प्रसन्न होकर निरन्तर पाप बाँध रहा है कि अब ब्रह्मगुलाल की हार निश्चित है; क्योंकि मैंने जो कुचक्र रचा है, उसमें वह नियम से फँसकर ही रहेगा। या तो वह सिंह का असली रूप ही धारण नहीं कर सकेगा, अतः रूप धारण करने में फेल हो जाएगा या फिर किसी की हिंसा के आरोप में समाज से बहिष्कृत हो जाएगा।

अरे रे ! यह जीव अपने अज्ञान व स्वार्थवश कैसे-कैसे पाप कर लेता है। पर वह यह महा-सिद्धान्त को नहीं जानता कि सभी कार्य अपनी-अपनी योग्यता के ही अनुसार होते हैं। उपादान की अपेक्षा विचार करें तो वे द्रव्य स्वयं ही उस कार्यरूप परिणमित होते हैं और निमित्त अपेक्षा विचार करें तो सभी स्वयं अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। बाह्य कारण तो बहिरंग निमित्त होता है, वास्तव में अन्तरंग निमित्त तो हमारे कर्म का उदय है।

जब होनहार अच्छी होती है, तब प्रतिकूलताएँ भी अनुकूलता रूप फलती हैं। मंत्री इस सिद्धान्त से अनभिज्ञ था, अतः निरन्तर पाप बंध कर रहा था और शेर के स्वाँग धारण करने के तत्काल बाद ब्रह्मगुलाल मोक्षमार्ग धारण कर अपना यह मनुष्य भव सार्थक कर आत्मकल्याण करेंगे। उसे इस बात का आभास भी नहीं था, आखिर होता भी कैसे ? वह तो निरन्तर द्वेष की अग्नि में जल रहा था।

दूसरे दिन सुबह के 10 बजे सम्पूर्ण राजदरबार सिंह का स्वाँग अथवा यूँ कहो कि सिंह देखने के लिए जनता से खचाखच भर गया।

ब्रह्मगुलाल ने अपनी कला को चित्रित करने हेतु अपने सभी साथियों के साथ मिलकर एक भयंकर खूंखार शेर तैयार करने की सामग्री एकत्रित की और सिंह का रूप धारण कर लिया। वह शेर का रूप इतना प्रभावशाली था कि उनके जिन मित्रों को यह ज्ञात था कि आज हमारा मित्र शेर का रूप धारण करनेवाला है, एकबार तो वे भी उसे देखकर डर गये। कहा भी है –

दी दहाड़ तो सहसा सारे, मित्र डरे हो गये खड़े।
देख भयातुर उनको ऐसे, श्री गुलाल खिलखिला पड़े॥
यों प्रमुदित हो मित्र मण्डली, चल दी राज्य सभा की ओर।
मारग के पशु डरे भगे कुछ, अपने-अपने बन्धन तोर॥

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

ऐसे सचमुच के शेर समान रूप को धारण कर ब्रह्मगुलाल राजभवन की ओर चल दिए। राज सभा में पहुँचते ही.....।

पहुँचे राज्य सभा में सब ही, बालक युवा भीड़ के साथ।
हुए भयातुर सभी सभासद, सहसा चौंक पड़े नरनाथ॥
सुन दहाड़ सब खड़े हो गये, कुछ सहमे कुछ डरे-डरे।
नखशिख सिंह स्वाँग लख सुन्दर, सब अचरज में भरे-भरे॥

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

तभी मंत्री की पूर्व नियोजित चाल के अनुसार राजकुँवर अपने साथ मृगछोने को लिए हुए अचानक राजदरबार में प्रवेश करता है। और उसी समय शेर बने ब्रह्मगुलाल ने पुनः एकबार जोर से दहाड़ लगाकर उसी ओर छलाँग मारी, जिस ओर से राजकुँवर प्रवेश कर रहा था। बस ! इस तथ्य से अनभिज्ञ राजकुमार सहसा उसे देखकर उसकी भंयकर दहाड़ सुनकर मृत्यु को प्राप्त हो गया। यह अनहोनी घटना के घट जाने पर सारा राजदरबार निस्तब्ध रह गया, सभी शोकसागर में डूब गये। अब ब्रह्मगुलाल भी अपने वास्तविक रूप में आ गये।

राजकुमार की अकाल मृत्यु से राजा अत्यन्त दुःखी हुए, वे प्रयत्न करने पर भी अपने दुःख को नहीं भुला पा रहे थे। शोक के अलावा अब उनके पास कोई दूसरा उपाय भी नहीं था। हाँ, एक उपाय था और वह था वैराग्य; पर वह राजा के वश में नहीं था।

इधर ब्रह्मगुलाल भी अपने द्वारा किए इस कृत्य से शोकसागर में डूबे हुए थे, वे पश्चाताप कर रहे थे, तथा प्रायश्चित करने के लिए तैयार थे। अब उनका इसप्रकार के कार्यों को करने से

तो मन उठ ही गया था, बल्कि अब तो वे संसार से ही उदास हो गये थे, वैरागी हो गये थे। परन्तु दीक्षा लेने का कोई योग नहीं बन पा रहा था। पर उनके अन्तर में निरन्तर यही भावना बनी रहती, वे अपनी इस भावना को अपने मित्रों को बताते, तब मित्र उन्हें इस काम को करने से रोकते। कहते तुम चिन्ता मत करो ! राजा तुम्हें कोई दण्ड नहीं दे सकता।

तब वे कहते कि मुझे दण्ड का कोई भय नहीं है, परन्तु मेरे से जो जघन्य अपराध हुआ है, उसका मुझे खेद है, मैंने अब तक अपनी मानकषाय के कारण, अपनी प्रशंसा कराने के हेतु सब प्रकार के खोटे-सांसारिक रूप तो धारण किए और छोड़े; परन्तु अब मैं उस महान रूप को धारण करना चाहता हूँ, जिसे फिर कभी छोड़ना न पड़े। जो मुझे इस संसार सागर से पाप उतारने में सहायक बने। जगत के सभी रूप तो संसार में फँसाने वाले हैं, परन्तु एकमात्र वीतरागी दिगम्बर रूप ही संसार से निकालने वाला है। अतः मैं तो अब दिगम्बरी दीक्षा धारण कर मुक्तिमार्ग प्रगट करूँगा। अन्यथा इस पापमय संसार में ही पड़ा रहा तो फिर यह जिनवाणी, यह जिनेन्द्र परमात्मा, जिनगुरु का समागम, धर्म चर्चा आदि सब कुछ वहाँ नरकों में कहाँ मिलेंगे ? और इसके बिना भी कोई जीवन है ?

इसप्रकार की चर्चाएँ ब्रह्मगुलाल तथा उनके मित्रों में रोज-रोज होने लगीं। मित्र अपने तर्क देते और ब्रह्मगुलाल अपने तर्क देते। ऐसी चर्चाएँ तो होती, पर अपनी कमजोरी के कारण और कुछ होनहार ही ऐसी थी कि अन्तर में भावना होने पर भी वे अभी गृहस्थ दशा को छोड़कर मुनिदशा धारण नहीं कर पा रहे थे।

इसी बीच एक दिन ब्रह्मगुलाल के घर मंत्रीजी आये और उन्होंने अपनी दुर्भावना को छिपाते हुए ब्रह्मगुलाल से कहा कि – "हे कलाविद् ! तुम रूप धारण करने में सचमुच सर्वश्रेष्ठ हो। जब से राजा को पुत्र वियोग हुआ है, तब से राजा एकमात्र शोक सन्तप्त ही रहते हैं। न तो अब वे राज-काज में ध्यान देते हैं और न ही अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखते हैं। अतः मेरा आपसे निवेदन है कि आप एकबार दिगम्बर गुरु का वेश धारण करके आओ और राजा को सम्बोधित करो, तो वे अवश्य ही शोक सागर से बाहर निकल सकेंगे।

मंत्री की यह बात सुनते ही मानों ब्रह्मगुलाल के मन की मुराद पूरी हो गई। वे तो दीक्षा लेना ही चाहते थे, अतः उन्होंने मंत्रीजी से "हाँ" कर दी। पर फिर भी वे गम्भीर हो गये और सोचने लगे कि – जैन साधुओं का पवित्र जीवन मात्र देखने के लिए नहीं होता। एकबार जिसने धारण किया, उसके बाद फिर गृहस्थ नहीं होता। साधु का स्वाँग धारण करना कोई मजाक नहीं है, उसके

अन्दर एक महान आत्मभावना समाहित होती है। उसके लिए अन्दर की पूरी तैयारी चाहिए।

इसलिए उसने ऐसी साधु दशा धारण करने के लिए पहले दृढ़ होकर वैराग्य भावनाओं का चिंतन किया और अपने हृदय को संसार से विरक्त बना लिया। अब वे निरन्तर आत्म-चिंतन और आत्म भावनाओं में ही मग्न रहने लगे। वे विरक्ति को वास्तविक रूप देना चाहते थे। उन्होंने स्व-पर के भेद-विज्ञान रूप तत्त्वाभ्यास सहित संसार विरक्ति के जोरदार अभ्यास में प्रवीणता प्राप्त कर ली। उनके अन्तर में उत्साह तो था ही कि अहो ! साधुदशा का सुन्दर अवसर आया है। संसार के पाप स्वाँग तो बहुत धारण किये, अब धर्म के सच्चे स्वाँग को धारण करने का धन्य अवसर आया है।

ऐसी धर्मभावनापूर्वक थोड़े समय में ही उन्होंने अपने अन्तर में पूर्ण विरक्ति जागृत कर ली....और अब वे गृहजाल का बंधन तोड़ने में समर्थ हो गये। अब सम्यक्त्व और आत्मज्ञान के प्रकाश से उनकी आत्मा जागृत हो गई थी। हृदय शान्त रस से भीग गया था।

वैराग्य से भरपूर साधु दशा में प्रवेश करने की पूर्ण तैयारी करने के बाद ब्रह्मगुलाल ने अपने माता-पिता और पत्नि के पास जाकर सारा रहस्य प्रकट किया और साधु होने के लिए मंजूरी माँगी। उनके इस फैसले को सुनकर परिवारजन आश्चर्यचकित रह गये। वे सभी तो बहुत मोहासक्त थे....ब्रह्मगुलाल के वैराग्य की बात सुनकर उनका मोह उमड़ पड़ा और उन्होंने एक बार तो ब्रह्मगुलाल को पुन: मोहसागर में ले जाने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्होंने तो अपने आत्मा को मोहसागर से बहुत ऊँचा उठा लिया था, अब मोह की लहरें उन्हें स्पर्श नहीं कर सकती थीं। अपने पवित्र भावनात्मक उपदेश के द्वारा उन्होंने अपने माता-पिता और पत्नि के हृदय के मोहजाल को तोड़ दिया और उज्ज्वल भावनाओं सहित सच्चा मुनिवेश धारण करने हेतु वे वन की ओर चल दिए। बारह भावना का चिन्तन किया, उनमें दृढ़ हुए।

हम भी उन बारह भावनाओं को भा कर अपने अन्तर में ऐसे मंगल अवसर को प्रशस्त करें, – इस बात को ध्यान में रखते हुए यहाँ एक नवीनतम बारह भावना दी जा रही है –

अनित्य – जो मैं देखूँ इन आँखन सौं इनमें कछू न मेरा।
जाने वालों से क्यों कहता फिर भी मेरा मेरा॥

अशरण – काल बली से कौन बचा अरु कौन है बचने वाला।
बचे स्वयं जिन तुम्हें बचावें पिला रतनत्रय प्याला॥

संसार – चौरासी लख योनि घूमकर सारा जग है छाना।
क्या नारक-पशु-देव-मनुष-भव दुख ही दुःख उपाना॥

एकत्व – साथ किसी के क्यों न हो गया क्यों न बनाया साथी।
जो निज साथ छोड़ कर ढूँढे उसे कहाँ संगाती॥

अन्यत्व – जितना चेतन तू स्वतंत्र उतना ही यह तेरा तन।
जानपना तू करे और वह नहिं छोड़े पुद्‌गलपन॥

अशुचि – बहता मैल मैल से निर्मित कैसे तुझे सुहावे।
फिर भी तू मदमत्त उसी पै बार-बार ललचावे॥

आस्रव – भाव शुभाशुभ कर तू नित करता कर्मों का आस्रव।
मान हेय दोनों को त्यागे हो जावे निर-आस्रव॥

संवर – सत्गुरु सीख देय निश दिन तू क्यों फिर समझ न पावे।
समझ जाए तो मोह राग की सैना को लौटावे॥

निर्जरा – पञ्च महाव्रत धार ज्ञान के नीके तीर चलावे।
इन्द्रिय विजयी होय आत्म-शासन की मुहर लगावे।

लोक – चौदह राजु उतुंग लोक जो घूम-घूम के आयो।
कर-कर के उसका विचार फिर व्यर्थहि में भटकायो॥

बोधिदु. – एक यथारथ ज्ञान आज मैं दुर्लभता से पायो।
स्थिरता की बाट तकूँ कब मिले समय मन चायो॥

धर्म – सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चरण-तप-दशलक्षण उर धारूँ।
भवसागर से निकल आज ही शिवमारग पग धारूँ॥

– श्रावकधर्म से साभार

इसप्रकार बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हुए ईया समिति पूर्वक वे कब जंगल में पहुँच गये, उन्हें पता भी न चला। जंगल में जाकर उन्होंने अपने सभी वस्त्र उतार दिये और दिगम्बर हो एक स्वच्छ शिला के ऊपर पद्‌मासन में बैठ गये, फिर उन्होंने अपने हृदय की उत्कृष्ट भावना पूर्वक श्री पंचपरमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार करके, कैशलोंच कर स्वयं साधु दीक्षा ग्रहण की....और आत्मध्यान में लीन हो गये।

संसार-नाटक के अनेक स्वाँगों को धारण करने वाला कलाविद् एक क्षण में आत्मकला का उपासक बन गया....अब उनका हृदय आत्मज्ञान और शान्त रस से भरपूर था, उन्हें न कोई इच्छा थी और न कोई कामना थी। संसार-नाटक का स्वाँग पूरा करके अब उन्होंने मुक्तिसाधक मुनिदशा का वेश धारण कर लिया।

प्रभात का सुन्दर समय है। महाराज अपने सिंहासन पर विराजमान है....सभासद भी बैठे हैं....इसी समय जिन्होंने प्राणीमात्र के ऊपर समभाव धारण किया है और जो शान्त रस में मग्न हैं ऐसे साधु मुनिराज ब्रह्मगुलालजी आहारचर्या हेतु नगर में आए आहारोपरान्त जब वे वापस जा रहे थे, तभी मंत्री उन्हें साग्रह राजदरबार ले गये। राजा ने मुनिराज को राजदरबार की ओर आते हुए देखकर तुरन्त ही उठकर उनको नमस्कार किया और उन्हें उच्च आसन दिया। तथा धर्मोपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की। तब मुनिराज ब्रह्मगुलालजी ने पवित्र आत्मतत्त्व का विवेचन किया।

''राजन् ! आत्मतत्त्व में अनन्त शक्तियाँ हैं, क्षणमात्र में अपने भावों का परिवर्तन करके पामर से परमात्मा बन जाने की तुममें ताकत है, इसलिए शोकभाव छोड़कर शान्तभाव प्रगट करो।''

कवि हृदय चन्द्रभान जैन ने उनके ज्ञान-वैराग्य पूर्ण उपदेश को अपनी कविता के माध्यम से इसप्रकार व्यक्त किया है –

''इच्छाओं के पूरन होने को, मानव सुख कहते हैं।
इसमें जब भी बाधा आती, दुसह वेदना सहते हैं।।
अथवा इष्ट विरह दुख देता, या देता अनिष्ट संयोग।
क्योंकि सभी जन यही चाहते, मिलें सदा मन वांछित भोग।।

सुखद संयोग मिला करते हैं, साता कर्म उदय पाकर।
और असातोदय में राजन्, सब ही दुखदायक आकर॥
साता और असाता दोनों, वेदनीय की हैं संतान।
नहिं हरषाता नहीं बिलखता, इनको पा वह भव्य महान॥
और देखिये राजन इच्छा, मोहनीय ही का तो भेद।
सुख आकास-कुसुम सम इससे, देती सदा खेद ही खेद॥
क्या कोई भी कर्म किसी को, बना कभी सुख का कारण।
ये चारों गतियों में करते, जीवों का तारन मारन॥
इच्छा का निरोध है तप, सब ही तो आचारज कहते॥
और इसी से नष्ट अष्ट को, करके शिवरमणी बरते॥
यह भी आप समझते राजन्, है तन में चेतन में भेद।
चेतन अविनाशी है, तन है, नाशवान अरु समल सखेद॥
गति गति में चेतन भ्रमता है, नये-नये रिश्ते अपना।
फिर यह मेरा सगा सहोदर, है केवल भ्रामक सपना॥
जीव कर्मवश जब अपना ही, बेटा बन जाता राजन्।
सारे जग में कहो कौनसा, रिश्ता शाश्वत मन भावन॥
जन्म-जन्म में जाने कितने, मात-तात-सुत बना लिये।
क्षण-क्षण शुभ चिन्तक अपने ही, बचे नाहिं तूँ सोच हिये॥
सोते समय जीव अपने, सपने को सत्य समझता है।
जगकर झूठा कह तन धन, यौवन को सच्चा कहता है॥
मरन समय तन धन सब झूठे, झूठा मरन मरम निज जान।
तन-धन-साथी सभी क्षणिक हैं, यों सारा जग झूँठ महान॥
मंत्र यंत्र सेना धन सम्पत्ति, पुरजन परिजन सब ही मिल।
प्रिय से प्रिय के मरण समय को, टाल नहीं सकते इक तिल॥
मोह ठगौरी देखो राजन्, आचारज हैं बतलाते।
चेतन तो दिखता न किसी को, अतः सभी तन के नाते॥

पर तन से चेतन जाते ही, रिश्ता कहाँ चला जाता।
मात्र स्वार्थ में रोता जल्दी, फूँक पजार चैन पाता॥
मरने से जब हम न किसी को, न हमें बचा पाता कोई।
आयु करम बस मरन सदा, जिसको न बढ़ा सकता कोई॥
आयु कर्म पूरन होने पर, निमित्त बने कोई घटना।
रोग अग्नि जल आयुध कोई, मुख्य न सब में गौणपना॥
फिर कोई भी विज्ञ समझ यों, किस पर रोष करे राजन्।
जिनको समझ समझ पाता है, अपनी भूल कोप-भाजन॥
पंचेन्द्रिय बल तीन आयु, उच्छ्वास, दसों तन के हैं प्राण।
उत्तम क्षमा आदि चेतन के, कहते वर्धमान भगवान॥
मोह भ्रमित चेतन ने राजन्, तन को चेतन मान लिया।
इसलिए तन सुख पा विहंसा, दुख पा बहुत विलाप किया॥
एकक्षेत्र अवगाही तन जब, अपना नहीं न अपने बस।
परिजन पुरजन की क्या गिनती, जिनको लुटा रहा सरबस॥
यों अपने को समझ समझ, लेता है जो झूठे नाते।
वह जग में रहता तो है, लेकिन रहता है कतराते॥

– ब्रह्मगुलाल चरित्र से साभार

मुनिराज ब्रह्मगुलालजी का ऐसा दिव्य उपदेश सुनकर महाराज के हृदय का शोक नष्ट हो गया, उनके मन का पाप धुल गया, ब्रह्मगुलालजी के पवित्र व्यक्तित्व पर आज पहले ही दिन से महाराज को अनन्य श्रद्धा हो गयी। परन्तु मंत्री अपने कुटिल भावों के अनुसार बोला –

''ब्रह्मगुलालजी आपने महात्मा के कार्य को जैसा का तैसा पालन किया है, साधु-स्वाँग धारण करके आपने हमारे राजा का शोक मिटा दिया है। अब आप इस साधु-स्वाँग को छोड़कर अपना इच्छित वरदान माँगो; अब आप जो माँगोगे, हमारे राजा आपको वही देंगे।''

ब्रह्मगुलालजी को साधु-स्वाँग से भ्रष्ट करने के लिए प्रलोभन के रूप में यह एक जाल फेंका गया था, परन्तु वे इसमें नहीं फँसे, वे बोले– ''मंत्रीवर ! आप एक दिगम्बर साधु के सामने ऐसे अनुचित शब्दों का प्रयोग क्यों कर रहे हैं ? क्या आप नहीं जानते कि जैन साधुओं को राज्य-

वैभव की इच्छा नहीं होती। उन्हें अपने आत्मवैभव के साम्राज्य के सामने संसार के वैभव की लेशमात्र इच्छा नहीं है।"

"हे नरेश्वर ! ममता के सभी बंधनों को मैंने तोड़ दिया है, अब मैं निर्ग्रन्थ जैन साधु हूँ और आपके पास से मुझे किसी भी वस्तु की अभिलाषा नहीं है। मैं तो मुक्तिपथ का पथिक हूँ, पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा ध्येय है, आत्मध्यान मेरी संपत्ति है, अपनी संपत्ति से मैं संतुष्ट हूँ। इसके अलावा मैं और कुछ नहीं चाहता।"

ब्रह्मगुलालजी की और परीक्षा करने के लिए अब राजा ने कहा – "परन्तु आपने यह साधुवेष तो सिर्फ स्वाँग के लिए ही ग्रहण किया है, जिससे उसमें कोई वास्तविकता नहीं होनी चाहिये। तुम्हारे स्वाँग का कार्य पूरा हुआ, अब तुम्हें यह स्वाँग बदल लेना चाहिये और इच्छित वैभव प्राप्त करके अपना जीवन सुखमय व्यतीत करना चाहिये।"

जिनके हृदय में समतारस का सिन्धु उछल रहा हो – ऐसे ब्रह्मगुलालजी ने हृदय की दृढ़ता व्यक्त करते हुए कहा –

"राजन् ! साधु का वेष स्वाँग के लिए नहीं लिया जाता, मुनिदीक्षा ये मात्र स्वाँग करने जैसी वस्तु नहीं है, इसमें तो जीवनपर्यंत के ज्ञान और वैराग्य की साधना होती है। मैं सांसारिक वैभव का त्याग कर चुका हूँ। जिससे वे मेरे लिए उच्छिष्ट के समान हैं। विवेकी जन उच्छिष्ट वस्तु का पुनः ग्रहण नहीं करते। मैं अब मात्र स्वाँगधारी साधु नहीं, मेरी अन्तरात्मा वास्तविक साधु होकर आत्म-साधना में रम रही है, जिसमें अब राज्य-वैभव के प्रलोभन के लिए कोई स्थान नहीं है। मेरी वासना मर गई है और अब मैं अपने साधुपद के कर्तव्य में स्थिर हूँ। अब मैं अपने आत्मकल्याण के स्वतंत्र मार्ग पर ही विचरण करूँगा और जगत को दिव्य आत्मधर्म का सन्देश सुनाऊँगा। आप मेरे मन को विचलित करने का निष्फल प्रयत्न न करें।"

मुनिराज ब्रह्मगुलालजी की वैराग्य से ओतप्रोत वाणी सुनकर राजा आश्चर्यचकित होकर उन्हें एकटक देखते रहे कि तभी ब्रह्मगुलाल मुनिराज खड़े हुए....और अपनी पीछी-कमण्डलु लेकर मन्द-मन्द गति से जंगल की ओर चले गये।

– पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री

मरने से जब हम न किसी को, न हमें बचा पाता कोई।
आयु करम बस मरन सदा, जिसको न बढ़ा सकता कोई ।।
आयु कर्म पूरन होने पर, निमित्त बने कोई घटना।
रोग अग्नि जल आयुध कोई, मुख्य न सब में गौणपना ।।

57

संसार-वृक्ष

देख तेरी वर्तमान दशा का एक सुन्दर चित्र दर्शाता हूँ। एक व्यापारी जहाज में माल भरकर विदेश को चला। अनेकों आशायें थीं उसके हृदय में। पर उसे क्या खबर थी कि अदृष्ट उसके लिए क्या लिये बैठा है। दूर क्षितिज में से साँय-साँय की भयंकर ध्वनि प्रगट हुई, जो बराबर बढ़ती हुई उसकी ओर आने लगी। घबरा गया वह, हैं ! यह क्या ? तूफान सरपर आ गया। आँधी का वेग मानों सागर को अपने स्थान से उठाकर अन्यत्र ले जाने की होड़ लगाकर आया है। सागर ने अपने अभिमान पर इतना बड़ा आघात कभी न देखा था। वह एकदम गर्ज उठा, फुंकार मारने लगा और उछल-उछलकर वायुमण्डल को ताड़ने लगा।

वायु व सागर का यह युद्ध कितना भयंकर था। दिशायें भयंकर गर्जनाओं से भर गईं। दोनों नये-नये हथियार लेकर सामने आ रहे थे। सागर के भयंकर थपेड़ों से आकाश का साहस टूट गया। वह एक भयंकर चीत्कार के साथ सागर के पैरों में गिर गया। घड़ड़ड़ड़ ! ओह ! यह क्या आफ़त आई ? आकाश फट गया और उसके भीतर से क्षणभर को एक महान प्रकाश की रेखा प्रगट हुई। रात्रि के इस गहन अन्धकार में भी इस वज्रपात के अद्वितीय प्रकाश में सागर का क्षोभ तथा इस युद्ध का प्रकोप स्पष्ट दिखाई दे रहा था। व्यापारी की नब्ज़ ऊपर चढ़ गई, मानों वह निष्प्राण हो चुका है।

इतने ही पर बस क्यों हो ? आकाश की इस पराजय को मेघराज सहन न कर सका। महाकाल की भाँति काली राक्षस सेना गर्जकर आगे बढ़ी और एक बार पुनः घोर अन्धकार में सब कुछ विलीन हो गया। व्यापारी अचेत होकर गिर पड़ा। सागर उछला, गड़गड़ाया, मेघराज ने जलवाणों की घोर वर्षा की। मूसलाधार पानी पड़ने लगा। जहाज में जल भर गया। व्यापारी अब भी अचेत था। दो भयंकर राक्षसों के युद्ध में बेचारे व्यापारी की कौन सुने ? सागर की एक विकराल तरंग– ओह ! यह क्या ? पुनः वज्रपात हुआ और उसके प्रकाश में..... ? जहाज जोर से ऊपर को उछला और नीचे गिरकर जल में विलुप्त हो गया। सागर की गोद में समा गया। उसके आंगोपांग इधर-उधर बिखर गये। हाय, बेचारा व्यापारी, कौन जाने उसकी क्या दशा हुई।

प्रभात हुआ। एक तख़्ते पर पड़ा सागर में बहता हुआ कोई अचेत व्यक्ति भाग्यवश किनारे पर आ गया। सूर्य की किरणों ने उसके शरीर में कुछ स्फूर्ति उत्पन्न की। उसने आँखें खोलीं। मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ हूँ ? यह कौन देश है ? किसने मुझे यहाँ पहुँचाया है ? मैं कहाँ से आ रहा हूँ? क्या काम करने के लिए घर से निकला था ? मेरे पास क्या है ? कैसे निर्वाह करूँ ? सब कुछ भूल चुका है अब वह।

उसे नवजीवन मिला है, यह भी पता नहीं है उसे। किसकी सहायता पाऊँ, कोई दिखाई नहीं देता। गर्दन लटकाये चल दिया, जिस ओर मुँह उठा। एक भयंकर चीत्कार। अरे ! यह क्या ? उसकी मानसिक स्तब्धता भंग हो गयी। पीछे मुड़कर देखा। मेघों से भी काला, जंगम-पर्वत तुल्य, विकराल गजराज सूँढ़ ऊपर उठाये, चीख़ मारता हुआ, उसकी ओर दौड़ा। प्रभु ! बचाओ। **अरे पथिक ! कितना अच्छा होता यदि इसी प्रभु को अपने अच्छे दिनों में भी याद कर लिया होता।** अब क्या बनता है, यहाँ कोई भी तेरा सहारा नहीं।

दौड़ने के अतिरिक्त शरण नहीं थी। पथिक दौड़ा, जितनी जोर से उससे दौड़ा गया। हाथी सर पर आ गया और धैर्य जाता रहा उसका। अब जीवन असम्भव है। "नहीं पथिक तूने एक बार जिह्वा से प्रभु का पवित्र नाम लिया है, वह निरर्थक न जायेगा, तेरी रक्षा अवश्य होगी", (अन्तर्मन से) आकाशवाणी हुई। आश्चर्य से आँख उठाकर देखा, कुछ सन्तोष हुआ, सामने एक बड़ा वटवृक्ष खड़ा था। एकबार पुनः साहस बटोरकर पथिक दौड़ा और वृक्ष के नीचे की ओर लटकती दो उपशाखाओं को पकड़कर वह ऊपर चढ़ गया।

हाथी का प्रकोप और भी बढ़ गया, यह उसकी मानहानि है। इस वृक्ष ने उसके शिकार को शरण दी है। अतः वह भी अब रह न पायेगा। अपनी लम्बी सूंढ़ से वृक्ष को वह जोर से हिलाने लगा। पथिक का रक्त सूख गया। अब मुझे बचानेवाला कोई नहीं। नाथ ! क्या मुझे जाना ही होगा, बिना कुछ देखे, बिना कुछ चखे ? "नहीं, प्रभु का नाम बेकार नहीं जाता। ऊपर दृष्टि उठाकर देख", (अन्तर्मन से) आकाशवाणी ने पुनः आशा का संचार किया। ऊपर की ओर देखा। मधु का एक बड़ा छत्ता, जिसमें से बूँद-बूँद करके झर रहा था उसका मद।

आश्चर्य से मुँह खुला का खुला रह गया। यह क्या ? और अकस्मात् ही – आ हा हा, कितना मधुर है यह ? एक मधु बिन्दु उसके खुले मुँह में गिर पड़ा। वह चाट रहा था उसे और कृतकृत्य मान रहा था अपने को। एक बूँद और। मुँह खोला और पुनः वही स्वाद। एक बूँद और.... । और

इसी प्रकार मधुबिन्दु के एक मधुर स्वाद में खो गया वह, मानों उसका जीवन बहुत सुखी बन गया है। अब उसे और कुछ नहीं चाहिए, एक मधुबिन्दु। भूल गया वह अब प्रभु के नाम को। उसे याद करने से अब लाभ भी क्या है ? देख कोई भी मधुबिन्दु व्यर्थ पृथ्वी पर न पड़ने पावे। उसके सामने मधुबिन्दु के अतिरिक्त और कुछ न था। भूल चुका था वह यह कि नीचे खड़ा वह विकराल हाथी अब भी वृक्ष की जड़ में सूड़ से पानी दे-देकर उसे ज़ोर-ज़ोर से हिला रहा है। क्या करता उसे याद करके, मधुबिन्दु जो मिल गया है उसे, मानों उसके सारे भय टल चुके हैं। वह मग्न है मधुबिन्दु की मस्ती में।

वह भले न देखे, पर प्रभु तो देख रहे हैं। अरेरे ! कितनी दयनीय है इस पथिक की दशा। नीचे हाथी वृक्ष को समूल उखाड़ने पर तत्पर है और ऊपर वह देखो दो चूहे बैठे उस डाल को धीरे-धीरे कुतर रहे हैं, जिस पर कि वह लटका हुआ है। उसके नीचे उस बड़े अन्ध कूप में, मुँह फाड़े विकराल दाढ़ों के बीच लम्बी-लम्बी भयंकर जिह्वा लपलपा रहा है जिनकी। लाल-लाल नेत्रों से, ऊपर की ओर देखते हुए चार भयंकर अजगर मानों इसी बात की प्रतीक्षा में हैं कि कब डाल कटे और उनको एक ग्रास खाने को मिले। उन बेचारों का भी क्या दोष, उनके पास पेट भरने का एक यही तो साधन है। पथभ्रष्ट अनेकों भूले भटके पथिक आते हैं और इस मधुबिन्दु के स्वाद में खोकर अन्त में उन अजगरों के ग्रास बन जाते हैं। सदा से ऐसा होता आ रहा है, तब आज भी ऐसा ही क्यों न होगा ?

गड़ गड़ गड़, वृक्ष हिला। मधु-मक्षिकाओं का सन्तुलन भंग हो गया। भिनभिनाती हुई, भन्नाती हुई वे उड़ीं ! इस नवागन्तुक ने ही हमारी शान्ति में भंग डाला है। चिपट गईं वे सब उसको, कुछ सर पर, कुछ कमर पर, कुछ हाथों में, कुछ पावों में। सहसा घबरा उठा वह,....यह क्या ? उनके तीखे डंकों की पीड़ा से व्याकुल होकर एक चीख निकल पड़ी उसके मुँह से, 'प्रभु ! बचाओ मुझे'। पुनः वही मधुबिन्दु। जिस प्रकार रोते हुए शिशु के मुख में मधु भरा रबर का निपल देकर माता उसे सुला देती है, और वह शिशु भी इस भ्रम से कि मुझे स्वाद आ रहा है, सन्तुष्ट होकर सो जाता है; उसी प्रकार पुनः खो गया वह उस मधुबिन्दु में और भूल गया उन डंकों की पीड़ा को।

पथिक प्रसन्न था, पर सामने बैठे परम करुणाधारी, शान्तिमूर्ति जगत हितकारी, प्रकृति की गोद में रहने वाले, निर्भय गुरुदेव[1] मन ही मन उसकी इस दयनीय दशा पर (करुणाद्र) आँसू बहा रहे थे। आखिर उनसे रहा न गया। उठकर निकल आये।

---

1. गुरुदेव की जगह उसे बचाने विद्याधर-विद्याधरनी आये, – ऐसा कथन भी भव्यप्रमोद आदि में मिलता है।

"भो पथिक ! एक बार नीचे देख, यह हाथी जिससे डरकर तू यहाँ आया है, अब भी यहाँ ही खड़ा इस वृक्ष को उखाड़ रहा है। ऊपर वह देख, सफेद व काले चूहे तेरी इस डाल को काट रहे हैं। नीचे देख वे अजगर मुँह बाये तुझे ललचाई-ललचाई दृष्टि से ताक रहे हैं। इस शरीर को देख जिस पर चिपटी हुई मधु-मक्षिकायें तुझे चूँट-चूँटकर खा रही हैं। इतना होने पर भी तू प्रसन्न है। यह बड़ा आश्चर्य है। **आँख खोल, तेरी दशा बड़ी दयनीय है। एक क्षण भी बिलम्ब करने को अवकाश नहीं। डाली कटने वाली है। तू नीचे गिरकर निःसन्देह उन अजगरों का ग्रास बन जायेगा। उस समय कोई भी तेरी रक्षा करने को समर्थ न होगा। अभी भी अवसर है। आ मेरा हाथ पकड़ और धीरे से नीचे उतर आ। यह हाथी मेरे सामने तुझे कुछ नहीं कहेगा।** इस समय मैं तेरी रक्षा कर सकता हूँ। सावधान हो, जल्दी कर।"

परन्तु पथिक को कैसे स्पर्श करें वे मधुर-वचन। मधुबिन्दु के मधुराभास में उसे अवकाश ही कहाँ है यह सब कुछ विचारने का ? "बस गुरुदेव, एक बिन्दु और, वह आ रहा है, उसे लेकर चलता हूँ अभी आपके साथ।" बिन्दु गिर चुका। "चलो भय्या चलो", पुनः गुरुजी की शान्त ध्वनि आकाश में गूँजी, दिशाओं से टकराई और खाली ही गुरुजी के पास लौट आई। "बस एक बूँद और, अभी चलता हूँ", इस उत्तर के अतिरिक्त और कुछ न था पथिक के पास। तीसरी बार पुनः गुरुदेव का करुणापूर्ण हाथ बढ़ा। अब की बार वे चाहते थे कि इच्छा न होने पर भी उस पथिक को कौली (बाहों में) भरकर वहाँ से उतार लें; परन्तु पथिक को यह सब स्वीकार ही कब था ? यहाँ तो मिलता है मधुबिन्दु और शान्तिमूर्ति इन गुरुदेव के पास है भूख व प्यास, गर्मी व सर्दी तथा अन्य अनेकों संकट। कौन मूर्ख जाये इनके साथ ? लात मारकर गुरुदेव का हाथ झटक दिया उसने और क्रुद्ध होकर बोला – "जाओ अपना काम करो, मेरे आनन्द में विघ्न मत डालो।"

गुरुदेव चले गये, डाली कटी और मधुबिन्दु की मस्ती को हृदय में लिये, अजगर के मुँह में जाकर अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी उसने।

कथा कुछ रोचक लगी है आपको, पर जानते हो किसकी कहानी है ? **आपकी और मेरी सबकी आत्मकथा है यह। आप हँसते हैं उस पथिक की मूर्खता पर, काश एक बार हँस लेते अपनी मूर्खता पर भी।**

इस अपार व गहन संसार-सागर में जीवन के जर्जरित पोत को खेता हुआ मैं चला आ रहा हूँ। नित्य ही अनुभव में आनेवाले जीवन के थपेड़ों के कड़े अघातों को सहन करता हुआ, यह

मेरा पोत कितनी बार टूटा और कितनी बार मिला, यह कौन जाने ? जीवन के उतार-चढ़ाव के भयंकर तूफान में चेतना को खोकर मैं बहता चला आ रहा हूँ, अनादिकाल से।

माता के गर्भ से बाहर निकलकर आश्चर्यकारी दृष्टि से इस सम्पूर्ण वातावरण को देखकर खोया-खोया-सा मैं रोने लगा; क्योंकि मैं यह न जान सका कि मैं कौन हूँ, मैं कहाँ हूँ, कौन मुझे यहाँ लाया है, मैं कहाँ से आया हूँ, क्या करने के लिए आया हूँ और मेरे पास क्या है जीवन निर्वाह के लिये ? सम्भवतः माता के गर्भ से निकलकर बालक इसीलिए रोता है। 'मानों मैं कोई अपूर्व व्यक्ति हूँ', ऐसा सोचकर मैं इस वातावरण में कोई सार देखने लगा। दिखाई दिया मृत्युरूपी विकराल हाथी का भय। डरकर भागने लगा कि कहीं शरण मिले।

बचपन बीता, जवानी आई और भूल गया मैं सब कुछ। विवाह हो गया, सुन्दर स्त्री घर में आ गई, धन कमाने और भोगने में जीवन घुलमिल गया, मानों यही है मेरी शरण अर्थात् गृहस्थ-जीवन; जिसमें हैं अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प, आशायें व निराशायें। यही हैं वे शाखायें व उपशाखायें, जिनसे समवेत यह गृहस्थ जीवन है वह शरणभूत वृक्ष। आयुरूपी शाखा से संलग्न आशा की दो उपशाखाओं पर लटका हुआ मैं मधुबिन्दु की भाँति इन भोगों में से आने वाले क्षणिक स्वाद में खोकर भूल बैठा हूँ सब कुछ।

कालरूप विकराल हाथी अब भी जीवन तरु को समूल उखाड़ने में तत्पर बराबर इसे हिला रहा है। अत्यन्त वेग से बीतते हुए दिन-रात ठहरे सफेद और काले दो चूहे, जो बराबर आयु की इस शाखा को काट रहे हैं। नीचे मुँह बाये हुए चार अजगर हैं चार गतियाँ – नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव, जिनका ग्रास बनता, जिनमें परिभ्रमण करता मैं सदा से चला आ रहा हूँ और अब भी निश्चित रूप से ग्रास बन जाने वाला हूँ, यदि गुरुदेव का उपदेश प्राप्त करके इस विलासिता का आश्रय न छोड़ा तो। मधु-मक्षिकायें हैं – स्त्री, पुत्र व कुटुम्ब जो नित्य चूँट-चूँटकर मुझे खाये जा रहे हैं, तथा जिनके संताप से व्याकुल हो मैं कभी-कभी पुकार उठता हूँ 'प्रभु ! मेरी रक्षा करें''। मधुबिन्दु है वह क्षणिक इन्द्रिय सुख, जिसमें मग्न हुआ मैं न बीतती हुई आयु को देखता हूँ, न मृत्यु से भय खाता हूँ, न कौटुम्बिक चिन्ताओं की परवाह करता हूँ और न चारों गतियों के परिभ्रमण को गिनता हूँ। कभी-कभी लिया हुआ प्रभु का नाम है वह पुण्य, जिसके कारण कि यह तुच्छ इन्द्रियसुख कदाचित् प्राप्त हो जाता है।

यह मधुबिन्दुरूपी इन्द्रिय सुख भी वास्तव में सुख नहीं, सुखाभास है। जिसप्रकार कि बालक

के मुख में दिया जाने वाला वह निपल, जिसमें से कुछ भी स्वाद बालक को वास्तव में नहीं आता, क्योंकि रबर के बन्द उस निपल में से किञ्चित् मात्र भी मधु बाहर निकलकर उसके मुँह में नहीं आता। जिसप्रकार वह केवल मिठास की कल्पना मात्र करके सो जाता है उसी प्रकार इन इन्द्रिय-सुखों में मिठास की कल्पना करके मेरा विवेक सो गया है, जिसके कारण गुरुदेव की करुणाभरी पुकार मुझे स्पर्श नहीं करती तथा जिसके कारण उनके करुणाभरे हाथ की अवहेलना करते हुए भी मुझे लाज नहीं आती। गुरुदेव के स्थान पर है यह गुरुवाणी, जो नित्य ही पुकार-पुकारकर मुझे सावधान करने का निष्फल प्रयास कर रही है।

यह है संसार-वृक्ष का मुँह बोलता चित्रण व मेरी आत्मगाथा। भो चेतन ! कबतक इस सागर के थपेड़े सहता रहेगा ? कबतक गतियों का ग्रास बनता रहेगा ? कबतक काल द्वारा भग्न होता रहेगा ? प्रभो ! ये इन्द्रियसुख मधुबिन्दु की भाँति निःसार हैं, सुख नहीं सुखाभास हैं, 'एक बिन्दुसम'। ये तृष्णा को भड़काने वाले हैं, तेरे विवेक को नष्ट करने वाले हैं। इनके कारण ही मुझे हितकारी गुरुवाणी सुहाती नहीं। आ ! बहुत हो चुका, अनादिकाल से इसी सुख के झूठे आभास में तूने आज तक अपना हित न किया। अब अवसर है, बहती गंगा में मुँह धोले। बिना प्रयास के ही गुरुदेव का यह पवित्र संसर्ग प्राप्त हो गया है। छोड़ दे अब इस शाखा को, शरण ले इन गुरुओं की और देख अदृष्ट में तेरे लिये वह परम आनन्द पड़ा है, जिसे पाकर तृप्त हो जायेगा तू, सदा के लिये प्रभु बन जायेगा तू।

58

षट्लेश्या वृक्ष

समता की प्राप्ति के लिये अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति का सूक्ष्मता से अवलोकन करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति काषायिक भावों से रंगी होती है। मन से विचारने का, वचन से बोलने का शरीर से चेष्टा करने का जो कुछ भी काम मैं करता हूँ वह सब किसी न किसी कषाय से प्रेरित होता है। हमें केवल बाहर की प्रवृत्ति दिखाई देती है परन्तु वह कषाय नहीं, जिसकी गुप्त प्रेरणा से कि वह अस्तित्व में आ रही है। तीक्ष्ण प्रज्ञा के द्वारा उन्हें पकड़े बिना उनकी निवृत्ति का पुरुषार्थ-सम्भव नहीं, और उनसे निवृत्त हुए बिना समता का स्वप्न देखना वास्तव में साधना का उपहास है। कषायानुरञ्जित मेरी इन प्रवृत्तियों को शास्त्रों में 'लेश्या' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। इनका स्पष्ट प्रतिभास कराने के लिए गुरुजनों ने तीव्रता-मन्दता की अपेक्षा इन्हें छह भेदों में विभाजित किया है – तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम।

कलापूर्ण बनाने के लिए इन्हें छह रंगों से उपमित किया है, क्योंकि जीव के प्रतिक्षण के परिणाम इन कषायों से रंगे हुए होने के कारण ही चित्र-विचित्र दिखाई देते हैं। तीव्रतम भाव की उपमा कृष्ण या काले रंग से दी जाती है, तीव्रतर की नीले रंग से और तीव्रभाव की उपमा कापोत या कबूतर जैसे सलेटी रंग से दी जाती है। इसी प्रकार मन्द भाव की उपमा पीत या पीले रंग से, मन्दतर की पद्म या कमल सरीखे हलके गुलाबी रंग से, और मन्दतम भाव की उपमा शुक्ल या सफेद रंग से दी जाती है। यद्यपि जीव के शरीर भी इन छह में से किसी न किसी रंग के होते हैं, परन्तु यहाँ शरीर के रंग से प्रयोजन नहीं है, जीव के भावों में उपमागत रंगों से प्रयोजन है। इसप्रकार कषायों या इच्छाओं में रंगे हुए चेतन के ये परिणाम या लेश्या छह प्रकार की होती हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल। इन्हीं को विशेष स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हूँ।

एकबार छह मित्र मिलकर पिकनिक मनाने निकले। सुहावना-सुहावना समय, मन्द-मन्द शीतल वायु, आकाश पर नृत्य करने वाली बादलों की छोटी-छोटी टोलियाँ, मानों प्रकृति के यौवन का प्रदर्शन कर रही थीं। छहों मित्रों के हृदय भी अरमानों से भरपूर थे। सब ही अपने-अपने विचारों में निमग्न चले जाते थे। नदी के मधुर गान ने उनके हृदय में और भी उमंग भर दी। वे भूल गए सब कुछ और खो गए इस सुन्दरता में।

आ हा हा हा ! कितना सुन्दर लगता है, और देखो मित्र इस ओर ! वाह-वाह काम बन गया,

अब खूब आनन्द रहेगा, जी भरकर आम खायेंगे। सामने ही मद झरते पीले-पीले आमों से लदा एक वृक्ष खड़ा था। एक बार ललचाई-सी दृष्टि से देखा और स्वतः ही उनके पाँव उस ओर चलने लगे। छहों के हृदय में भिन्न-भिन्न विचार थे।

वृक्ष के पास पहुँचते ही अपने-अपने विचारों के अनुसार सब ही शीघ्रता से काम में जुट गए। एक व्यक्ति कहीं से एक कुल्हाड़ी उठा लाया, जिसे लेकर वह वृक्ष पर चढ़ गया और आमों से लदफद एक टहनें को काटने लगा। यह देखकर दूसरा मित्र उसकी मूर्खता पर हँसने लगा। बोला– ''अरे मूर्ख ! क्यों परिश्रम व्यर्थ खोता है ? जितनी देर में इस टहनी को ऊपर जाकर काटेगा उतनी देर में तो नीचे वाला वह टहना ही सरलता से कट जाएगा। टहनी में तो दस पाँच ही आम लगे

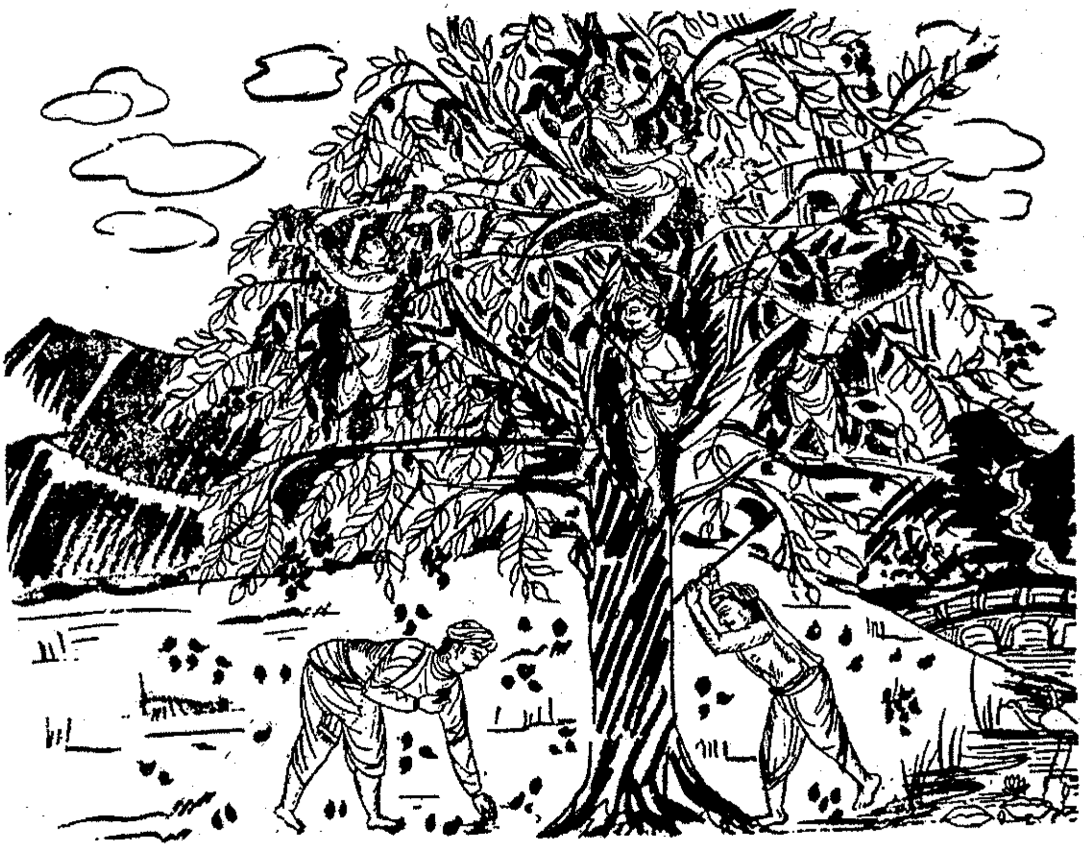

हैं, छहों का पेट न भरेगा। इस टहने में सैकड़ों लगे हैं, एकबार नीचे गिरा लो, फिर जी भरकर खाओ और साथ में घर भी बाँधकर ले जाओ।'' यह सुनकर नीचे खड़ा वह तीसरा मित्र अपनी हंसी रोक न सका और बोला– ''अरे भोले ! यदि घर ही ले जाने हैं तो नीचे आओ मैं तुम्हें और भी सरल उपाय बताता हूँ। वृक्ष पर चढ़ने से तो चोट लगने का भय है, तथा अधिक लाभ भी

नहीं है। नीचे ही खड़े रहकर इसे मूल से काट डालो। वृक्ष थोड़ी ही देर में नीचे गिर जाएगा, फिर बेखटके खाते रहना और जितने चाहो भरकर घर ले जाना। भैय्या! मैं तो एक छकड़ा लाकर सारा ही वृक्ष लादकर घर ले जाऊँगा। कई दिन आम खाऊँगा और सालभर ईंधन में रोटी पकाऊँगा। छकड़ेवाला अधिक से अधिक पाँच रुपया लेगा।'' और ऐसा कहकर लगा मूल में कुठार चलाने।

शेष तीन मित्र अन्दर ही अन्दर पछताने लगे कि व्यर्थ ही इन दुष्टों के साथ आए, जिसका फल खायेंगे उसको ही जड़ से काट डालेंगे। धिक्कार है ऐसी कृतघ्नता को। कौन समझाए अब इनको। प्रभु इन्हें सद्‌बुद्धि प्रदान करें। साहस बटोरकर उनमें से एक बोला कि भो मित्र ! तनिक ठहरो, मैं एक कथा सुनाता हूँ पहले वह सुन लो, फिर वृक्ष काटना। तीनों चुप हो गए और कथा प्रारम्भ हुई।

एकबार एक सिंह कीचड़ में फँस गया। बड़ी दयनीय थी उसकी व्यवस्था। बेचारा लाचार हो गया। कहाँ तो उसकी एक दहाड़ से सारा जंगल थरथरा जाता था और कहाँ आज वह ही सहायता के लिए प्रभु से प्रार्थना कर रहा है कि नाथ ! अब की बार बचा तो हिंसा न करूँगा, पत्ते ही खाकर निर्वाह कर लूँगा। प्रभु का नाम व्यर्थ नहीं जा सकता। एक पथिक उधर से आ निकला, सिंह की करुण पुकार ने उसके हृदय को पिघला दिया। यद्यपि भय था, परन्तु करुणा के सामने उसने न गिना और बेधड़क कीचड़ में घुसकर उस सिंह को बाहर निकाल दिया।

वह समझता था कि वह सिंह अपने उपकारी का घात करना कभी स्वीकार न करेगा, परन्तु उसकी आशा के विपरीत बंधन-मुक्त होते ही एक भयानक गर्जना करके उस व्यक्ति को तत्काल ललकारा ''किधर जाता है, मैं तीन दिन का भूखा हूँ, तूने मुझे बन्धन से मुक्त किया है और तू ही मुझे भूख से मुक्त करेगा।'' अब तो पथिक के पाँव तले की मिट्‌टी खिसकने लगी, वह घबरा गया, प्रभु के अतिरिक्त अब उसके लिये कोई शरण नहीं थी। उसने उसे याद किया, फलस्वरूप उसे एक विचार आया। वह सिंह से बोला कि भाई ! ऐसी कृतघ्नता उचित नहीं है। सिंह कब इस बात को स्वीकार कर सकता था, गरजकर बोला–''लोक का ऐसा ही व्यवहार है, तू अब मुझसे बचकर नहीं जा सकता।'' पथिक को जब कोई उपाय न सूझा तो बोला कि अच्छा भाई ! किसी से इसका न्याय करालो।

व्यवहार कुशल सिंह ने यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली, मानों उसे पूर्ण विश्वास था कि न्याय उसके विरुद्ध न जा सकेगा, क्योंकि वह जानता था कि मनुष्य से अधिक कृतघ्नी संसार में दूसरा

नहीं है। दोनों मिलकर एक वृक्ष के पास पहुँचे और अपनी कथा कह सुनाई। वृक्ष बोला कि सिंह ठीक कहता है। कारण कि मनुष्य गर्मी से संतप्त होकर मेरे साये में सुख से विश्राम करता है, मेरे फलों के रस से अपनी प्यास बुझाता है, परन्तु फिर भी जाते हुए मेरी टहनी तोड़कर ले जाता है अथवा मुझे उखाड़कर चूल्हे का ईंधन बना लेता है। अतः इस कृतघ्नी के साथ कृतघ्नता का ही व्यवहार करना योग्य है।

निराश होकर वह आगे चला तो एक गाय मिली। उसको अपनी कथा सुनाई, पर वह भी पथिक के विरुद्ध ही बोली। कहने लगी कि अपनी जवानी में मैंने अपने बच्चों का पेट काटकर इस मनुष्य की सन्तान का पोषण किया, परन्तु बूढ़ी हो जाने पर यह निर्दयी मेरा सारा उपकार भूल गया और इसने मुझे कसाई के हवाले कर दिया। इसने मेरी खाल खिंचवाली और उसका जूता बनवाकर पाँव में पहिन लिया। अतः इस कृतघ्नी के साथ ऐसा ही व्यवहार करना योग्य है।

जहाँ भी वे गये न्याय सिंह के पक्ष में ही गया और सिंह ने उसे खा लिया।

इसलिये भो मित्रो ! तुम्हें भी कुछ विवेक से काम लेना चाहिये। दूसरे की कृतघ्नता को तो तुम कृतघ्नता देखते हो, परन्तु अपनी इस बड़ी कृतघ्नता को नहीं देखते। जिस वृक्ष के आम आप खायेंगे उस पर ही कुठाराघात करते क्या आपका हृदय नहीं काँपता। नीचे उतर आओ भैया, नीचे उतर आओ, मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ। मैं स्वयं वृक्ष पर चढ़कर तुम्हें भरपेट आम खिला दूँगा।

वह वृक्ष पर चढ़ गया और आमों के बड़े-बड़े गुच्छे तोड़कर नीचे डालने लगा। यह देखकर दूसरे मित्र से बोले बिना न रहा गया। बोला कि ''मित्र ! तुम्हें भी विवेक नहीं है। क्या नहीं देख रहे हो कि इस गुच्छे में पके हुए आमों के साथ-साथ कच्चे भी टूट गये हैं, जो चार दिन के पश्चात् पककर किसी और व्यक्ति की सन्तुष्टि कर सकते थे, परन्तु अब तो ये व्यर्थ ही चले गये, न हमारे काम आये और न किसी अन्य के। अतः आप नीचे आ जाइये, मैं स्वयं ऊपर चढ़कर तुम्हें पके-पके मीठे आम खिला दूँगा। यह कहकर वह वृक्ष पर चढ़ गया और चुन-चुनकर एक-एक आम तोड़कर नीचे गिराने लगा।

छठा व्यक्ति यह सब कुछ देख रहा था, परन्तु चुप था। क्या बोले, किसे समझाये ? उसकी सन्तोषपूर्ण बात को स्वीकार करने वाला यहाँ था ही कौन ? विद्वान लोग, मूर्खों को उपदेश नहीं देते। एक दिन की बात है कि वर्षा जोर से हो रही थी। एक वृक्ष के नीचे कुछ बन्दर ठिठुरे बैठे थे। वृक्ष पर कुछ बयों के घोंसले थे। वे बये सुखपूर्वक उन घोंसलों में बैठे प्रकृति की सुन्दरता

का आनन्द ले रहे थे। बन्दरों की हालत देखकर वे हंसने लगे और बोले कि रे मूर्ख बन्दर ! तुझको ईश्वर ने दो हाथ दिये हैं, फिर भी तू अपना घर नहीं बना सकता। देख, हम छोटे-छोटे पक्षी भी कितने सुन्दर घोंसले बनाकर इनमें सुखपूर्वक रहते हैं। क्या तुझे देखकर लज्जा नहीं आती ? बस इतना सुनता था कि बन्दर का पारा चढ़ गया और उसने वृक्ष पर चढ़कर सब बयों के घोंसले तोड़ दिये और उनके अण्डे फोड़ दिये। इसी से ज्ञानी जनों ने कहा है, ''सीख ताको दीजिये जाको सीख सुहाय, सीख न दीजिये बान्दरा, बैये का घर जाय।'' ऐसा सोचकर वह सन्तोषी व्यक्ति कुछ न बोला और पृथ्वी पर पहले से इधर-उधर पड़े हुए कुछ आमों को उठाकर पृथक् बैठ सुखपूर्वक खाने लगा।

इस उदाहरण पर से व्यक्ति की इच्छाओं व तृष्णाओं की तीव्रता व मन्दता का बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है। पहिला व्यक्ति जो वृक्ष की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने लगा था अत्यन्त निकृष्ट तीव्रतम इच्छावाला था। उसकी कषाय कृष्ण वर्ण की थी अर्थात् वह कृष्ण-लेश्यावाला था। टहने को काटनेवाला दूसरा व्यक्ति तीव्रतर इच्छावाला होने के कारण नील-लेश्यावाला था। टहनी को काटनेवाला तीसरा व्यक्ति तीव्र इच्छावाला होने के कारण कापोत-लेश्यावाला था। इसीप्रकार आमों का गुच्छा तोड़नेवाला चौथा व्यक्ति मन्द इच्छावाला होने के कारण पीत-लेश्यावाला था। केवल पके हुए आम तोड़नेवाला पाँचवाँ व्यक्ति मन्दतर इच्छावाला होने के कारण पद्म-लेश्यावाला था। और वह अत्यन्त सन्तोषी छठा व्यक्ति मन्दतम इच्छावाला होने के कारण शुक्ल-लेश्यावाला था। इसप्रकार व्यक्ति की सर्व ही कषायों की तीव्रता व मन्दता का अनुमान कर लेना चाहिये।

जिसप्रकार 'धर्म का प्रयोजन' बताते हुए पूर्व में इच्छा गर्त की भयंकरता दर्शाने के लिये संसार वृक्ष का कलापूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है, उसीप्रकार यहाँ साधना के प्रकरण में कषायों की शक्ति दर्शाने के लिये लेश्या वृक्ष का यह चित्रण किया गया है। ये दोनों चित्रण जैन आम्नाय में आ-बाल-गोपाल प्रसिद्ध हैं। यत्र-तत्र पुस्तकों में तथा मन्दिरों में लगे हुए मिलते हैं। इन्हें केवल सजावट के लिये नहीं बनाया गया है। वास्तव में ये दोनों ही चित्र आध्यात्मिक भावनाओं से तथा रहस्यपूर्ण उपदेशों से ओत-प्रोत हैं। अपने आन्तरिक भावों का दर्शन करते हुए तीव्र भावों से पीछे हटने में ही इनकी सजावट का सार्थक्य है। इसमें ही कल्याण है।

(कहानी संख्या 57 से 58 के लेखक श्री जिनेन्द्र वर्णी हैं। - शान्तिपथ प्रदर्शन से साभार)

59

विचित्र घटनाचक्र

तीर्थंकर भगवान श्री नेमिनाथ प्रभु के समय की बात है। उत्तमपुरी नाम की नगरी में धर्मसेन राजा राज्य करते थे, उनकी गुणवती नामक रानी थी, उनका एक वरांगकुमार नामक पुत्र था। वे श्री नेमिनाथ तीर्थंकर तथा महाराज श्रीकृष्ण के समकालीन थे। जयसिंहनंदि नाम के मुनिराज ने (वीर निर्वाण की 12वीं सदी में) वरांग चरित्र की रचना की है, उसमें से वैराग्यांश के साथ मूल कथानक का दोहन कर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वरांगकुमार के जीवन का घटनाचक्र बड़ा ही विचित्र है। जवान होने पर धर्मसेन महाराज ने वरांगकुमार को युवराज पद दिया, इस बात से नाराज होकर उसकी सौतेली माता और उसका पुत्र सुषेणकुमार, दुष्ट मंत्री के साथ मिलकर राजकुमार वरांग को मार डालने की कोशिश करने लगे। उसे दुष्ट घोड़े के ऊपर बैठाकर कुएँ में गिराया, वह वहाँ से जिस-तिस प्रकार बचकर निकला, तब फिर वाघ को उसके पीछे लगाया; लेकिन पुण्ययोग से हाथी की सहायता के द्वारा वह उससे भी बच गया। फिर अजगर का उपद्रव हुआ, वहाँ एक देवी ने उसे बचाया और उसके शीलव्रत से प्रसन्न होकर वह उसकी भक्त बन गई।

उसके बाद एक भील बलिदान (बलि देने) के लिए उसे पकड़ कर ले गया, लेकिन वरांगकुमार ने भील-पुत्र के साँप का जहर उतारा, तब उसने भी उसे छोड़ दिया। उसके बाद सागरबुद्धि सेठ की वणसार में रहकर उसने सेठ को लुटेरों से बचाया और सुभट के रूप में सेठ ने उसे पुत्र के समान रखा। इसप्रकार सागर सेठ उसका पालक पिता बना।

एकबार मथुरा के राजा ने ललितपुर के ऊपर चढ़ाई की, तब बहादुर वरांग ने उसको पराजित कर ललितपुर की रक्षा की। इससे ललितपुर के राजा ने उसे आधा राज्य दे दिया तथा अपनी राजकन्या से उसका विवाह कर दिया – इसप्रकार धर्मात्मा वरांगकुमार ने अनेक उपद्रवों के बाद भी पुण्ययोग से पुन: राजपद प्राप्त किया।

यहाँ उत्तमपुर में उसका भाई सुषेणकुमार राज्य संभाल रहा था, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। बकुलनरेश ने उसके ऊपर आक्रमण किया, तब उसने ललितपुर की सहायता माँगी। वहाँ

से वरांगकुमार आया और दुश्मन के दाँत खट्टे कर उसे भगा दिया। नगरवासियों ने अपने प्रिय राजा वरांगकुमार का नगर में भव्य स्वागत किया। वरांगकुमार ने सबको क्षमा करके एक नये राज्य की स्थापना की, परिजन तथा पुरजनों को धर्मोपदेश दिया, जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा कराई, नास्तिक मंत्रियों को जैनधर्म का स्वरूप समझाया और प्रजा का ज्ञान बढ़ाने एवं उत्तम संस्कार देने के लिए तत्त्व तथा पुराणों का उपदेश दिया। इस बीच वरांगकुमार को सुगात्र नाम के पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई।

श्री नेमिनाथ प्रभु के गणधर वरदत्त मुनि, केवलज्ञान प्राप्त होने पर एकबार उत्तमपुरी नगरी में पधारे, तभी वैरागी वरांगकुमार ने उनका धर्मोपदेश सुना।

युवराज वरांग संसार की अनेक मुसीबतों से पुण्ययोग के कारण पार हुए थे तथा राज्य के बीच रहकर धर्मपालन पूर्वक अनेक मंगल कार्य करते थे, अतः अन्तरंग से वैराग्यी तो थे ही, केवली भगवान का उपदेश सुनकर उनका वैराग्य और भी दृढ़ हो गया। परन्तु वैराग्यपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने का समय अभी भी नहीं आया था, अतः उनके अन्तर में संसार को पार करनेवाली जिनभक्ति ही अतिशय उल्लसित होती थी। उनके आंगन में हमेशा विद्वान-धर्मात्मा-सत्पात्रों का सम्मान होता था। पर्व के दिनों में वे संयम का पालन करते थे और धर्म को ही सकल सिद्धिदायक समझते थे। इसलिए धर्म, अर्थ और काम के बीच में भी वह मोक्षसाधना भूले नहीं थे, गृहस्थ जीवन में भी उनकी आत्मसाधना चल रही थी। सचमुच धन्य था उनका गृहस्थ जीवन !

सन्मार्ग दर्शक राजा वरांग –

धर्मात्मा वरांग, राज्यसभा में भी बारम्बार धर्म चर्चा सुनाकर प्रजा को सन्मार्ग दिखाते थे।

एकबार हिंसक-यज्ञ में दोष बताते हुए उन्होंने कहा– ''यज्ञ में होम करने के लिए आये पशु यदि स्वर्ग में जाते होवें तो फिर सबसे पहले वे यज्ञकर्त्ता पुरुष अपने पुत्रादि सगे-सम्बन्धियों को यज्ञ में होम करके उनको ही स्वर्ग में क्यों नहीं भेजते ? कहा भी है –

कहै पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,
होमत हुताशन में कौन सी बड़ाई है।
स्वर्ग सुख में न चहौं 'देहु मुझे' यों न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है।।
जो तू यह जानत है वेद यौं वखानत है,
जग्ग जर्‌यो जीव पावै स्वर्ग सुखदायी है।

डारे क्यों न वीर तामें अपने कुटुम्ब ही कौं,
मोहि जिन जारे जगदीश की दुहाई है ।।

यदि यज्ञादि के बहाने मूक प्राणियों की हिंसा करनेवाले और मांस भक्षण करनेवाले भी स्वर्ग में जायेंगे तो फिर नरक में कौन जायेगा ? अरे रे !....जिसमें जीवदया नहीं है, वह धर्म कैसा ? और वे वेद-शास्त्र कैसे ?'' इसप्रकार उन्होंने उपदेश देकर प्रजा को सन्मार्ग दिखाया। वरांग राजा का युक्तिपूर्ण धर्मोपदेश सुनकर विद्वानों, मंत्रियों, सेनापति, श्रेष्ठिजनों और उनकी प्रजाजनों को बहुत प्रसन्नता हुई और तत्त्वज्ञान पूर्वक उन्होंने मिथ्यामार्ग का सेवन छोड़कर परमहितकारी जैनधर्म की शरण ली तथा सदाचार में तत्पर हुए।

इसप्रकार प्रजा में सर्वत्र आध्यात्मिक शान्ति का वातावरण फैल गया। यदि राजा धर्मप्रेमी हो तो प्रजा में भी धर्म कैसे फैलता है। इसका स्पष्ट उदाहरण राजा वरांग और उनकी प्रजा को देखकर मिलता है।

वैरागी राजा वरांग ने राजसभा में जीवादि तत्त्वों का स्वरूप भी स्पष्ट समझाया–

卐 देह से भिन्न उपयोग स्वरूप जीव है, वह नये-नये रूप में परिणमित होने पर भी जीवत्वरूप में ही नित्य रहने वाला है, उसका कभी नाश नहीं होता।

卐 यह जीव अपने ज्ञानमय भावों का कर्त्ता-भोक्ता है अथवा राग-द्वेष, हर्ष-शोक क्रोधादि भावों को करता है और जिस भाव को करता है, उसके फल को भी भोगता है।

卐 जीव यदि ज्ञानमय वीतरागभाव करे तो उसके फल में मोक्षसुख प्राप्त करता है। शुभ रागादि भाव करे तो उसके फल में स्वर्ग प्राप्त करता है तथा अशुभ पापभावों को करे तो उसके फल में नरकादि गति को प्राप्त करता है। शुभाशुभ भाव से संसार का भ्रमण होता है और उससे रहित शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भाव से आत्मा मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

卐 मोक्ष का उपाय है कि अपनी आत्मा को देहादि सब पर-पदार्थों से भिन्न, शुद्ध चैतन्यस्वरूप जानना एवं अनुभव में लेना। **ऐसा शुद्ध आत्मानुभव, वही 'धर्म' अर्थात् मोक्षमार्ग है।**

ऐसे जीवादि तत्त्वों तथा मोक्षमार्ग को बतानेवाले सर्वज्ञ जिनेश्वर, वे 'देव' हैं। उस मार्ग पर चलनेवाले सर्वज्ञता के साधक साधु, वे 'गुरु' हैं। ऐसे देव तथा गुरु द्वारा वीतरागता का पोषण करनेवाले 'शास्त्र' कहलाते हैं। जो जीव जीवत्वरूप आत्मा तथा देव-गुरु-धर्म को समझे, वही जीव सम्यग्दृष्टि है।

जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव की आत्मशक्ति (आत्मा का वैभव) अपने-अपने में स्वाधीन है। अपने निज वैभव से अपने में परमात्मपना प्रगट करके प्रत्येक आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन सकता है। उस कार्य को आत्मा स्वयं ही स्वाधीनपने कर सकता है, कोई दूसरा उसका कर्त्ता नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य – ऐसे त्रि-स्वरूप में एकत्वपने रहता है। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हो तो बंध-मोक्ष, सुख-दुःख आदि कुछ नहीं हो सकते। अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का कर्त्ता जीव स्वयं है, ईश्वर या दूसरा कोई उसका कर्त्ता नहीं है।

राग-द्वेष से भिन्न अपने ज्ञानानन्द स्वभावरूप में रहनेवाले मुक्त जीव ही सर्वज्ञ भगवान, ईश्वर अर्थात् मुक्तात्मा हैं। ऐसे सर्वज्ञ भगवान एक नहीं, अनन्त हैं। हम भी रागादि से भिन्न शुद्धभाव प्रगट करके सर्वज्ञ भगवान बन सकते हैं।

जीव कषायभावों के द्वारा कर्म से बँधता है और वीतरागभाव के द्वारा बंधन से मुक्त होता है। इसलिए वीतरागता ही मोक्षार्थी जीव का कर्त्तव्य है।

वीतरागता का उपदेश देते हुए राजा वरांग आगे कहते हैं –

"जिस भूमि में मीठे आम को बो सकते हैं, उसमें मीठे आम के बदले कोई कड़वी निंबोली बोता हो तो उस मूर्ख को क्या कहना ? वैसे ही जो जीव इस मनुष्य पर्याय को कषाय के काम में लगावे तो उसकी मूर्खता का क्या कहना ? मोक्षार्थी तो धर्म साधना के द्वारा अपने जीवन में मोक्ष का बीज बोता है।"

अहो ! वैरागी राजा वरांग राजसभा में इस धर्म चर्चा को सुनाते हुए कहते हैं कि जैसे कोई उत्तम पुरुष रत्नद्वीप में जाकर भी वहाँ के रत्नों के बदले रेत लेकर आवे तो वह मूर्ख है, वैसे ही इस उत्तम मनुष्य द्वीप में आकर सारभूत धर्मरत्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करना योग्य है,

उसके बदले जो जीव विषयों को ग्रहण करके मनुष्य भव को गँवा देता है, वह मूर्ख है। विषयों में लीन प्राणी क्षण भर में विलय को प्राप्त होते हैं, इसलिए जिनदेव द्वारा कहे हुए सम्यक् रत्नत्रय के मार्ग पर चलना ही सुज्ञपुरुषों का कर्तव्य है।

सभा को सम्बोधित करते-करते वे राजा वरांग स्वयं को सम्बोधन करने लगे – **अरे, यह धनादि जड़ सम्पत्ति मुझे क्या सुख दे सकती है ? पुत्र-परिवार जो स्वयं ही अशरण हैं, वे मुझे क्या शरण दे सकते हैं और इस विपुल विशाल राज्य के द्वारा परमार्थ की क्या सिद्धि हो सकती है ? यह संयोग तो क्षणभंगुर और पाप को बढ़ानेवाला है। अब इसका मोह छोड़कर परमार्थ साधना में लगना – यही मेरा निश्चय है।**

इन्द्रिय-विषयों में कहीं भी सुख तो है नहीं। अरे, इन विषयों के स्वाद के लिए जीव को कितनी आकुलता करनी पड़ती है। ये तृप्ति-दायक नहीं हैं, ये तो दुखदायक ही हैं और इस देह का सौन्दर्य ! सनतकुमार चक्रवर्ती का कामदेव के जैसा सुन्दर शरीर (जिसे देखकर देव भी मुग्ध हो जाते थे) भी क्षणभर में सड़ने लगा – ऐसी **सुन्दरता से आत्मा को क्या लाभ है ? और यदि कुरूप होवे तो उससे आत्मा को क्या नुकसान है ? देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व अपने एकत्व में ही सुन्दरता से सुशोभित होता है।** अरे ! इस लोक में कषाय के कोलाहल से अब हमारा मन उदास हो गया है। संसार के संयोग भी जीव के साथ सदा एक समान कहाँ रहते हैं ? ये तो वियोग स्वभाववाले ही हैं। **जब कोई भी संयोग ध्रुव (स्थिर) ही नहीं है, तब फिर वे मुझे शरणरूप कैसे हो सकते हैं ?**

अरे ! लक्ष्मी-शरीर-सुख-दुख अथवा शत्रु-मित्र कोई भी जीव के साथ ध्रुव नहीं हैं, ध्रुव तो एक उपयोग-आत्मक जीव ही है। चाहे जितना धन हो, अथवा बहुत स्नेह रखनेवाले माता-पिता-पुत्र-परिवारजन हों; परन्तु जिस समय मृत्यु आती है, उस समय क्या मुझे कोई बचा सकता है ? – नहीं। मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा हमेशा सर्व पर्यायों में उपयोगरूप ध्रुव-निश्चल रहने वाला है, वही मुझे शरणभूत है....उसकी ही शरण मुझे जन्म-मरण से बचानेवाली है।

दृढ़-निश्चयी वरांग –

एक दिन आकाश में तारा टूटते हुए देखकर वरांग राजा का चित्त संसार से विरक्त हुआ और वे दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये। प्रथम तो उन्होंने जिन-पूजन का महान उत्सव किया तथा भावना भायी कि जैनधर्म जयवंत वर्तो ! अर्थात् अर्हंतदेव के शासन में अनुरक्त चार संघ सदा जयवंत रहें। जिनालय और जिनवाणी की अतिशय वृद्धि हो। जनता हमेशा आनन्दमय उत्सव

मनाती रहे और धर्म के पालनपूर्वक न्यायमार्ग पर चलती रहे। धर्म में पाखण्ड न हो। गुणीजनों का सर्वत्र गुणगान होता रहे। प्रजा में से मद्य, मांस और मधु आदि सात व्यसनों के महापाप का समूल नाश हो।

आज भी उन्होंने राज्यसभा में प्रजाजनों को जैनधर्म के पालन का सुन्दर उपदेश दिया। तथा अपनी रानियों को भी तत्त्व का उपदेश देकर सम्यक्त्व और अणुव्रतों की शिक्षा दी थी।

जिस समय उनके पालक-पिता सागरदत्त सेठ उन्हें दीक्षा लेने से रोकने का प्रयत्न करते हैं, उस समय वैरागी वरांग युक्तिपूर्वक उनको समझाते हैं –

"हे पिताजी ! कुटुम्ब-परिवार या स्नेहीजन मात्र भोजनादि साधारण कार्यों में ही मेरा साथ दे सकते हैं। मृत्यु के समय तो वे सभी व्यर्थ हैं, धर्मकार्य में भी वे साथ नहीं दे सकते, तब इनसे मेरा क्या भला हो सकता है ? वैसे ही वे जिस समय उनके कर्म अनुसार मृत्यु के मार्ग में जायेंगे, उस समय मैं भी उन्हें संभालने या बचाने में समर्थ नहीं हूँ। जीव का सच्चा साथी तो वही है, जो कि धर्ममार्ग में साथ देता है।

जैसे मकान में आग लग जावे, तब समझदार मनुष्य बाहर भागने का प्रयत्न करता है, परन्तु जो उसका शत्रु होता है वह उसे पकड़कर आग में फैंकता है। वैसे ही, मोह की ज्वाला में धधकता यह संसार है। इस संसार दु:ख की अग्निज्वाला से मैं बाहर निकलना चाह रहा हूँ, ऐसे समय में हे पिताजी ! आप मुझे किसी शत्रु के समान फिर से इस अग्निज्वाला में मत फैंकिये अर्थात् घर में रहने के लिए मत कहिये।

जिसप्रकार लहरों से उछलते भीषण समुद्र के बीच में से अगाध प्रयत्न पूर्वक तैरता-तैरता कोई पुरुष किनारे आवे और कोई शत्रु धक्का देकर उसे पुनः समुद्र में धकेल देवे। वैसे ही हे पिताजी ! मैं दुर्गति के दुखों से भरे हुए इस घोर संसार-समुद्र में अनादि से डूब रहा हूँ, और जब आत्मस्वरूप के आश्रय से तैरकर किनारे पर आया हूँ, तब आप मुझे इस संसार समुद्र में पुनः धकेल रहे हैं, आपका यह कार्य तो एक शत्रुवत् ही कहलायेगा, जो किञ्चित् भी उचित नहीं है। अत: फिर से आप मुझे इस संसार-समुद्र में मत डालिये।

जैसे कोई मनुष्य शुद्ध-स्वादिष्ट-स्वच्छ अमृत जैसा मिष्टान्न खाता हो और कोई शत्रु उसमें ज़हर मिला देवे, वैसे ही मैं भी संसार से विरक्त होकर, अन्तर में धर्मरूपी परम अमृत का भोजन ग्रहण करने के लिए तत्पर हुआ हूँ, ऐसे समय में आप उसमें राजलक्ष्मी के भोग रूप विष मिलाने जैसा शत्रुवत् कार्य न करें।

अरे ! मोही जीव संसार के पापकार्यों में ही सहायक होते हैं और पवित्र धर्मकार्यों में विघ्न डालते हैं, उनके समान दूसरा शत्रु कौन हो सकता है ?''

वैरागी वरांग अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहते हैं – ''मेरे अन्तर में अभी शुद्धोपयोग की प्रेरणा जागी है, मेरा मन सर्व जगह से विरक्त हो गया है, अब मैं इस संसार की जेल में नहीं रह सकता..., नहीं रह सकता।

यदि जीवन क्षणभंगुर न होता, इष्टसंयोग हमेशा कायम रहनेवाले होते तो कोई भी उन्हें नहीं छोड़ता; लेकिन जीवन की क्षणभंगुरता और संयोगों की अध्रुवता जानकर, विवेकी पुरुष उसे छोड़कर अपने ध्रुव सिद्धपद को साधने के लिये चले जाते हैं... मैं भी उसी मार्ग पर जाऊँगा...।''

तत्पश्चात् दीक्षा के लिए वन में जाते समय उन वैरागी राजा वरांग के स्त्री-पुत्रादि परिवार के प्रति कैसे उद्गार निकलते हैं, उन्हें पढ़िए; जिन्हें पढ़कर उन वैरागी राजा वरांग के प्रति अपने हृदय में भी बहुमान एवं वात्सल्य के साथ धर्म की भावना जाग्रत होगी।

जगत स्वभाव और जगत से भिन्न आत्म-स्वभाव, दोनों के चिंतवन पूर्वक वैरागी वरांग राजा का चित्त संसार से उदास होकर मोक्षमार्ग में ही लग गया, इसलिए प्रजा के प्रेम का बंधन तोड़कर मोक्ष को साधने के लिए वे वन में जाने के लिए तैयार हो गये।

उसी समय रानियाँ जब अपने आपको अशरण मानकर रोने लगीं, तब वैरागी वरांग ने उनसे कहा – ''हे देवियो ! तुम यदि दुःख से छूटकर सुखी होना चाहती हो तो तुम भी हमारे साथ वैराग्य पथ पर आओ। तुम हमारे साथ दीक्षा लोगी तो यह कोई अपूर्व घटना नहीं होगी; क्योंकि पहले भी अनेक राजा-महाराजाओं के साथ उनकी रानियों ने जिनधर्म के संस्कार तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त करके दीक्षा ली थी। इसलिए तुम भी अपने हित के लिए इस उत्तम मार्ग को अंगीकार करो।''

राजा की बात सुनकर रानियों ने भी विचार किया – ''अरे ! प्राणनाथ के साथ वर्षों तक संसार को बढ़ाने वाले अनेकों कार्य किए, जब वे ही ये सभी भोगोपभोग छोड़कर आत्मध्यान करने के

लिए जंगल में जा रहे हैं, तब हम क्या इन राजभोगों में पड़े रहकर अपना संसार बढ़ाते रहेंगे ? नहीं, यह हमें शोभा नहीं देता, हमें भी राजभोगों को छोड़कर उनके ही मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण करना चाहिये।'' – ऐसा विचार करके वे रानियाँ भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गईं। ऐसे सुअवसर को पाकर उनका भी चित्त प्रसन्न हुआ।

वरांग के पालक-पिता सागरबुद्धि सेठ, जिन्होंने विपत्ति के समय में वरांगकुमार का पुत्र के समान पालन किया था, उन्होंने भी दीक्षा के प्रसंग पर कहा –

''हे कुमार ! मैं भी तुम्हारे साथ दीक्षा लूँगा। राजकार्य और संसार के भोगोपभोगों में तुमने हमारा साथ दिया, अब इस उत्तम धर्मकार्य में यदि मैं तुम्हारा साथ न देकर अलग हो जाऊँ तो मेरे समान अधम कौन होगा ? तुम धर्म-साधना के उत्तम मार्ग पर जा रहे हो, मैं भी उस ही मार्ग पर चलता हूँ।'' – इसप्रकार पालक-पिता सागरबुद्धि सेठ भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये।

दीक्षा के लिए जाते समय वरांग राजा ने अपने पुत्रों को अन्तिम आत्म-हितकारी शिक्षा देते हुए कहा – ''लौकिक न्याय-नीति और सज्जनता के साथ भगवान अरहंत देव के द्वारा उपदिष्ट रत्नत्रय धर्म को कभी नहीं भूलना। शास्त्रज्ञ विद्वानों की सेवा करना, श्रद्धा-ज्ञान से विभूषित सत्पुरुषों का आदर और समागम करना। जब-जब अवसर मिले तब-तब मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका संघों की आदरपूर्वक सेवा करना और रत्नत्रय के साधन में सदा तत्पर रहना। महा मूल्यवान जैनधर्म मिला है, इसलिए आत्मसाधना के द्वारा अपना जीवन सुशोभित करना।''

वीर वरांग राजा जिस समय पुत्रों को धर्म की शिक्षा दे रहे थे, उसी समय वैराग्य का अनुपम सुख उनकी मुद्रा को तेजस्वी बना रहा था।

जिस समय वरांगकुमार वैराग्य से वन की ओर जा रहे थे, उन्हें देखने वाले कितने ही जीवों ने मात्र उनकी प्रशंसा की तथा दूसरे कितने ही जीव, जिनकी आत्मा विशेष जाग्रत हो गई थी, जिनका आत्मबल दीन नहीं हुआ था, जिन्हें संसार सारहीन लगने लगा था और जो मोक्ष के लिए उत्सुक थे; वे तो वरांग के साथ ही चलने को तैयार हो गये।

– इसप्रकार अन्य अनेकों नर-नारी भी ऐसा विचार करते हुए कि ये युवा राजकुमार आत्महित साधने के लिए वन में जा रहे हैं और हम यहीं हाथ जोड़कर विषय-कषाय में पड़े रहेंगे क्या ? नहीं, यह तो संसार से छूटने का सुनहरा अवसर मिला है।'' यह सोचकर उन्होंने भी उनके ही साथ वैरागी होकर वन में जाने का निर्णय किया।

वैराग्य का ज्वार पूरे जोर पर –

महाराज धर्मसेन ने पुत्र वरांग को बहुत स्नेहपूर्वक दीक्षा लेने से रोकने का प्रयत्न किया और मुनिदशा में अनेक उपसर्ग-परिषह का वर्णन करके चारित्र-पालन की कठिनता बताई, तब वरांगकुमार ने विनयपूर्वक परन्तु दृढ़ता से कहा –

"पिताजी ! मुनिपने में जो कठिनता आप बता रहे हैं, वह विषयों के लोलुपी कायरों के लिए कठिन होगी, मोक्षसाधक सिंहवृत्तिवाले जीवों के लिए कठिन नहीं है। उन्हें तो मुनिदशा और चारित्र-पालन, सहज आनन्दरूप है, यौवन का जोर भी मुझे विचलित कर सके – ऐसा नहीं है।

हे पिताजी ! चारित्र दशा जवानी में यदि कठिन है तो फिर वृद्धावस्था में उसका पालन कैसे होगा ? इसलिए मैं तो इसी समय आत्मकल्याण के लिए चारित्र दशा अंगीकार करूँगा। गृहस्थपने के झूठे बंधन को तोड़कर स्वतन्त्रपने अब मैं मुनिमार्ग में विचरण करूँगा, आप मुझे रोकने की व्यर्थ चेष्टा न करें।

मैं वैराग्य के स्वर्णपात्र में दीक्षारूपी अमृतपान करने के लिए तत्पर हुआ हूँ। उसी समय आप विषयों को भोगने के लिए कहेंगे तो वह विषपान करने के समान होगा। मुझे शान्ति की ऐसी तीव्र प्यास लगी है कि जो चारित्र धर्म रूपी अमृतपान के द्वारा ही शान्त हो सकती है। धर्म के प्यासे जीव को शान्ति का पान करने के लिए जो रोके तो उसके समान उसका दुश्मन और कौन होगा ? बाहर का शत्रु तो आक्रमण करके सम्पत्ति छीनता है अथवा देह के अंग का छेदन करता है और अधिक से अधिक प्राण ले सकता है; परन्तु धर्म के आचरण में जो जीव बाधा करे, वह तो महानिर्दयी और अविवेकी है, क्योंकि वह एक भव नहीं, अनेक भव के सुख को पाप की धूल में मिला देता है।

जो जीव को धर्म में सहायक हो, वही सच्चा मित्र है। धर्म के बिना यह लम्बी आयु, जवान शरीर या धन-सम्पत्ति सब किस काम का है ? इसका क्या भरोसा ? क्षणभर में ये सब नष्ट हो जायेंगे। अरे ! सांसारिक भोगों में फँसे हुये गृहस्थ को कैसी-कैसी विपत्ति सहन करनी पड़ती है, वह क्या हम नहीं जानते ?

हे पिताजी ! अब मुझे सौभाग्य से शुद्धोपयोग की भावना जागी है तो फिर आप ही कहिये कि मुझे राज्य भोगों में आसक्ति कैसे हो सकती है ?''

''बेटा ! ऐसी भरी जवानी में विषय-भोगों को छोड़कर वन में रहना तो बहुत कठिन बात है, वृद्ध हो जाने पर भी मैं उन्हें अभी भी नहीं छोड़ सकता और चारित्रदशा पालन नहीं कर सकता। तब तुम युवावस्था में ही विषयों को किसप्रकार जीत सकोगे ?''

''पिताजी ! विषयों को छोड़ने के लिए उम्र कोई बाधा नहीं करती। शूरवीर मुमुक्षु तो कभी भी चैतन्य की एक झंकार (गूँज) मात्र से सर्व संसार के विषयों को छोड़ देते हैं और मोक्ष की साधना में लग जाते हैं।''

वरांग राजा की ऐसी सरस वैराग्य भीनी युक्तिपूर्ण बात सुनकर महाराज निरुत्तर हो गये और उनका चित्त भी वैराग्य धारण करने के लिए तत्पर होने लगा।

तब वे बोले – ''हे वत्स ! तुम्हारी बात परम सत्य है, तुम्हारा भाव वास्तव में दृढ़ और अत्यन्त विशुद्ध है। किसी को धर्मकार्य में बाधा पहुँचाना – यह तो भव-भवान्तर को बिगाड़ने के समान है। मैंने पुत्र-स्नेह वश जो कुछ कहा, उसे तुम लक्ष्य में न लेकर मुनिदीक्षा अंगीकार करके आनन्दपूर्वक मोक्ष के पथ में विचरण करो।''

वरांगकुमार बचपन से ही शान्त, विषयों से विरक्त और अन्तर्मुख जीवन जीनेवाले थे। धर्म के प्रति उनका उत्साह प्रसिद्ध था। मंत्री, सेनापति और समस्त नगरजनों से उन्होंने नम्रता से क्षमायाचना पूर्वक विदाई ली।

अन्त में वे अपनी माता के पास विदा लेने गये। पुत्र के धर्म-संस्कारों को माता समझती थी, अत: उन्होंने गद्गद् होकर कहा – ''बेटा ! मैं क्या बोलूँ ! तुम जिस उत्तम मार्ग में जा रहे हो, इस संसार में उसके समान महान तो कोई दूसरा कार्य है ही नहीं, बेटा ! तुम अपनी साधना में शीघ्र सफल होओ और सर्वज्ञ परमात्मा बनकर हमें दर्शन दो – यही अभिलाषा है।''

''धन्य माता !'' – ऐसा कहकर मस्तक झुकाकर बारह वैराग्य भावनाओं का चिंतवन करते-करते उन्होंने वन की ओर प्रस्थान किया। वैरागी वरांग को वन में जाते देखकर लोग आश्चर्यचकित हो अनेक प्रकार की बातें करने लगे।

एक मूर्ख मनुष्य कहने लगा – "यह वरांग राजा बालबुद्धि हैं। आश्चर्य है कि ऐसे महान राज-सुखों को छोड़कर स्वर्ग-मोक्ष के सुखों को खोजने वन में जा रहे हैं। स्वर्ग-मोक्ष के सुखों को कौन जानता है ? जिसके लिए यह प्रत्यक्ष मिले इन्द्रिय-सुखों को छोड़कर वन में जा रहे हैं। जिसे देखा नहीं – ऐसे सुख की खातिर मिले हुए सुखों को भी छोड़ दिया। ये दोनों को ही खो देंगे। मोक्षसुख के नाम पर इनको किसी ने भड़का दिया है। जहाँ ये सभी इन्द्रिय सुख उपलब्ध हैं तो फिर दूसरे कौन से सुख को खोजने के लिए ये वन में जा रहे हैं।"

एक बुद्धिमान सज्जन ने उसे जवाब देते हुए कहा –

"अरे मूढ़ ! ये वरांगकुमार मूर्ख नहीं, मूर्ख तो तू है। तुझे स्वर्ग-मोक्षसुख की खबर नहीं है, इसलिए तू विषयसुखों में आसक्त है, इसी कारण तू इसप्रकार बकवास कर रहा है। विषयों से पार तुझे चैतन्यसुख की खबर नहीं है। ये वरांगकुमार तो इन्द्रिय विषयों से पार ऐसे अतीन्द्रिय-सुख का अनुभव करते हैं। इन्होंने आत्मानुभव में अतीन्द्रिय सुख का स्वाद साक्षात् चखा है, उसी सुख की पूर्णता को साधने के लिए इन इन्द्रिय-सुखों को छोड़कर वन में जा रहे हैं। इन्द्रिय-सुख वह वास्तविक सुख नहीं, अपितु दुःख ही है। सच्चा सुख धर्मसाधना के द्वारा ही प्राप्त होता है। इस विश्वविख्यात सिद्धान्त को क्या तुम नहीं जानते ? तो सुनो –

अत्यन्त, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनूप, अनंत का।
विच्छेदहीन है सुख अहो ! शुद्धोपयोग प्रसिद्ध का।।

ये वरांगकुमार इन्द्रिय-सुख को छोड़कर इन्द्र पद के लिए नहीं जा रहे हैं। वे तो उन्हें प्राप्त ही हैं; परन्तु वे तो उससे भी पार अतीन्द्रिय मोक्ष-सुख साधने के लिए जा रहे हैं। पहले भी तीर्थंकर भगवंतों ने राज्यभोगों को छोड़कर उस मोक्ष-सुख को साधा है। श्री नेमिनाथ तीर्थंकर ने भी आत्मा में से ही अतीन्द्रिय-सुख को साधा है। अतीन्द्रिय-सुख ही सच्चा सुख है और वह सुख आत्मा में से ही आता है, विषयों में से नहीं।"

बुद्धिमान धर्मात्मा के पास से ऐसी सरस बात सुनकर वह मूर्ख फिर पछताता हुआ कहने लगा – "अरे ! मैंने वरांगकुमार को समझे बिना ही उनकी निंदा की, मुझे धिक्कार है ! अच्छा हुआ कि तुमने मुझे सच्ची बात समझा दी। अब मैं भी उस अतीन्द्रिय-सुख को साधने के लिए राजा वरांग के साथ उनके मार्ग पर जाऊँगा"

ऐसा कहकर वह भी वैराग्यपूर्वक वरांगकुमार के साथ चला गया। इसप्रकार वरांग कुमार के निमित्त से अनेक भ्रमणा में पड़े हुए जीव भी चैतन्य सुख की श्रद्धा करके विषयों से विरक्त हुये और वरांग राजा के साथ वन में पहुँचे। राजा वरांग के राग-द्वेष का बंधन तो टूट ही गया था। सुयोग से ठीक इसी समय पास में ही मणिकान्त पर्वत पर वरदत्त केवली भगवन्त विराजमान थे। पहले वे श्री नेमिनाथ तीर्थंकर भगवान के मुख्य गणधर थे, फिर वे सर्वज्ञ अरिहंत हुए और देश-देश में विचरण करके सभी भव्यजीवों को धर्मोपदेश देने लगे।

वैराग्य के धनी ऐसे परमात्मा के दर्शन होने पर वैरागी वरांग के हर्ष का पार न रहा। भक्तिपूर्वक दर्शन-स्तुति करके उन्होंने कहा –

"हे देव ! इस संसार से थके हुए जीवों को आप ही विश्राम के स्थान हो। हे प्रभो ! धर्म ही आपका शरीर है, केवलज्ञान और केवलदर्शन से आप परिपूर्ण हो, सुख के भण्डार हो, आपकी शान्तमुद्रा के दर्शन से मेरा मोह शान्त हो गया है और अब मैं आपकी चरण-छाया में दिगम्बर जिनदीक्षा लेकर मुनि होना चाहता हूँ। इस संसार भ्रमण से मैं दुखी हो गया हूँ, इसलिए अब मुझे अपने देश मोक्षपुरी में ले चलो। आपका देश कितना सुन्दर है। जहाँ कभी मृत्यु नहीं होती, कभी जन्म नहीं होता, जहाँ मोह, मद, कर्म की रज भी नहीं है, मात्र शान्ति ही शान्ति है ! बस, अब मैं भी इसी देश में – सिद्धपुरी में आकर सदाकाल रहूँगा।"

इसप्रकार प्रार्थना करके उन आत्मज्ञ भव्यात्मा ने केवली प्रभु के चरणों में जिनदीक्षा अंगीकार की। वे वस्त्राभूषण एवं सर्वप्रकार का परिग्रह छोड़ मुनि होकर आत्मध्यान में लीन हो गये। इसी समय उन्हें शुद्धोपयोग सहित सकल चारित्रदशा प्रकट हुई, क्षायिक सम्यक्त्व और मनःपर्ययज्ञान प्रकट हुआ। अब वे रत्नत्रय के सम्राट मोह का साम्राज्य छोड़कर मोक्ष साम्राज्य साधने में तत्पर थे। अब वे शत्रु-मित्र या जीवन-मरण में समभावी थे। आत्मसाधना में उनकी शूरवीरता खिल उठी।

राजा वरांग ने दीक्षा ली, उनके साथ रानियाँ भी दीक्षा लेकर आर्यिका बन गयी थीं। दूसरे

कितने ही भव्यजीवों ने उनके साथ दीक्षा ली। जो दीक्षा नहीं ले सकते थे, उन्होंने श्रावक के व्रत तथा सम्यक्त्व को धारण किया।

"अरे ! इन्होंने इतने महान वैभव छोड़े हैं, तब हमारे पास तो क्या वैभव है ? इस अल्प वैभव को हम क्यों नहीं छोड़ सकते ?" – ऐसा विचार करके साधारण स्थितिवाले अनेक जीवों ने राजा वरांग के साथ ही दीक्षा ले ली। सभी की आँखों में से वैराग्यरस झर रहा था। अपने कल्याण का ऐसा सुअवसर प्राप्त होने पर सभी का चित्त प्रसन्न हो रहा था।

वरांग राजा या वरांगमुनि –

सभी को "राजा वरांग" की अपेक्षा नव दीक्षित "वरांग मुनि" अच्छे लग रहे थे। उनका मुनिरूप देखकर सभी को आश्चर्य हुआ। परम भक्तिपूर्वक मुनिराज की वंदना करके नगरजन उदासचित्त नगर में लौट आये। सभी को राजा वरांग के बिना नगरी सूनी-सूनी लगने लगी। कई दिन तक किसी का चित्त व्यापार धंधे या संसार कार्य में नहीं लगा। चारों ओर वैराग्यपूर्वक धर्मचर्चा ही चलती रही।

दूसरी ओर वन में मुनि और आर्यिका हुए सभी धर्मात्मा/भव्यात्मा अपनी-अपनी आत्मसाधना में अत्यन्त जाग्रत होकर शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान में तत्पर हुए। मोक्ष-साधना के लिए उनका साहस असाधारण था।

सभी वरांग मुनि आदि नव-दीक्षित होने पर भी मुक्ति के मार्ग से परिचित थे, जिससे मुनि-मार्ग का पालन अतिचारादि दोषों से रहित पूर्णतया योग्य कर रहे थे। संसार के किसी भी पदार्थ के प्रति उनका राग नहीं था। ज्ञायकतत्त्व के चिंतन में उन्हें ऐसा आनन्द आता था कि अब कोई भी इन्द्रिय-विषय उनके चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता था। थोड़े ही समय में उन्होंने पूर्ण ज्ञानाभ्यास प्राप्त कर लिया था। शुद्ध चारित्र पालन के प्रभाव से उन्हें अनेक अचिन्त्य लब्धियाँ तो प्रकट हो गई थीं.........परन्तु अन्तर के महान आनन्द निधान के सामने बाहर की किसी भी लब्धियों की ओर उनका लक्ष्य न था। उनका लक्ष्य तो एकमात्र स्वलक्ष्यरूप चैतन्य में ही केन्द्रित था।

तीन लोक को क्षणमात्र में नष्ट-भ्रष्ट करने वाले महा क्रोधमल्ल को उन्होंने परम क्षमाशक्ति के द्वारा जीत लिया था तथा तपरूपी चाबुक के द्वारा दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़े को विषय-वन में जाने से रोक लिया था।

जिसप्रकार भयभीत कछुआ सर्वांग को अपने में संकुचित कर लेता है, उसीप्रकार वे संसार से भयभीत और अस्पर्श-योग में अनुरक्त – ऐसे वरांग मुनिराज ने अपने उपयोग को इन्द्रियों से संकुचित करके अपने में ही अंतर्लीन कर लिया था।

उनका उपयोग अपने में ही लीन होने से उन्हें इस जगत सम्बन्धी कोई भय न था। बाहर में उपसर्ग या परिषह आने पर भी उसकी ओर उनका लक्ष्य नहीं जाता था। वे हमेशा बारह प्रकार की वैराग्य-भावनाओं का चिन्तवन करते थे। वे राज्यावस्था में जिसप्रकार शत्रु-सेना को जीतते थे, वैसे ही अब मुनिदशा में मोहसेना को जीतने के लिये उद्यम कर रहे थे। इसप्रकार बारम्बार शुद्धोपयोग के प्रहार द्वारा उन्होंने क्रोधादि मोहसेना का पराभव किया।

मुनिराज वरांग की जब एक माह आयु शेष रही, तब अपनी दीक्षाभूमि मणिकांत पर्वत-गिरनार पर्वत पर आकर उन्होंने समाधि धारण की, वह उनके गुरु वरदत्तकेवली की भी निर्वाण भूमि थी। भगवान नेमिनाथ तीर्थंकर का भी मोक्षगमन यहीं से हुआ था।

उन सभी को हृदय में विराजमान करके उन्होंने – दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को अखण्ड रूप से चित्त में धारण किया।

महावैरागी वीतरागी दिगम्बर वरांग मुनिराज समाधि पूर्वक देह त्यागकर सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुये। मोक्षपुरी के एकदम पास पहुँच गये। सर्वार्थसिद्धि की आयु पूरी कर अगले भव में वे केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद को पायेंगे। उन्हें हमारा नमस्कार हो।

पूर्व के परिणामों का फल

स्वपदाद्बालहंसस्य पितृभ्यां च पुराभवे।
वियोजनाद्वियोगस्ते बन्धोऽभूदिव बन्धनात्॥

सरलार्थ – हे राजा जीवन्धर ! आपने यशोधर राजा के भव में राजहंस के बच्चे को उसके स्थान से तथा उसके माता-पिता से कुछ समय के लिए अलग किया था। उन परिणामों के फलस्वरूप आपको इस मनुष्य भव में अपने राज्यपद और माता-पिता के वियोग के दुःख को अनेक वर्षों तक भोगना अनिवार्य हो गया। आपने राजहंस के बच्चे को पिंजड़े के बन्धन में डाला था; अतः उसके फलस्वरूप आपको काष्ठांगार के बन्धन में रहना पड़ा।

– क्षत्रचूड़ामणि, लम्ब-11, श्लोक-91

हृदय परिवर्तन

(श्रीकंठ राजा का वैराग्य)

प्रस्तावना :– बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान के समय का यह प्रसंग है। श्रीकंठ राजा वन्दना करने के लिए श्री नन्दीश्वर द्वीप की ओर जा रहे थे, तब रास्ते में मानुषोत्तर पर्वत के पास अचानक उनका विमान रुक गया, जिससे उन्हें वैराग्य हो गया। उन्हीं श्रीकंठ राजा के पूर्वभव आदि का यह संवाद है।

प्रथम अंक

(इस प्रथम अंक में श्रीकंठ राजा के पूर्वभव का दृश्य है। पूर्वभव में वे एक व्यापारी के पुत्र थे, तब उन्होंने अपने भाई के निमित्त से किसप्रकार धर्म अंगीकार किया था, यही इस दृश्य में बताया जा रहा है।)

छोटा भाई : नमस्ते भाईसाहब ! आप कहाँ से आ रहे हैं ?

बड़ा भाई : भाई ! जिनमन्दिर से आ रहा हूँ।

छोटा भाई : भाईसाहब ! क्या आप प्रतिदिन मन्दिर जाते हैं ?

बड़ा भाई : हाँ भाई ! मेरी प्रतिज्ञा है कि जिस नगर में जिनमन्दिर विद्यमान हो, उस नगर में मैं प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने के बाद ही आहार-पानी ग्रहण करूँगा; क्योंकि प्रथम कर्तव्य जिनेन्द्र भगवान के दर्शन का है।

छोटा भाई : भाईसाहब ! जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से हमें क्या लाभ है ?

बड़ा भाई : सुनो भाई, आज मैं जब जिनमन्दिर गया था, तब मन्दिर में मुझे एक मुनिराज के दर्शन हुए। मुनिराज ने मुझे आत्मकल्याण करने का अद्भुत उपदेश दिया। उसके बाद मैंने जिनमन्दिर में ही वहाँ मुनिराज द्वारा दिये गये उपदेश का गहराई से विचार किया और अन्तर की गहराई में मुझे अपूर्व शान्ति – सुख की धारा दिखाई दी/ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई। भाई ! जिसका मुझे वर्षों से इंतजार था, आज उस अपूर्ववस्तु की प्राप्ति से मुझे अपार खुशी हो रही है।

छोटा भाई : अहो भाईसाहब ! सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से आप जिनेश्वर देव के लघुनन्दन हो गये। आपका मनुष्य जन्म सफल हो गया। आपके चरणों में मेरा वन्दन हो। अहो ! धन्य है वह देश ! धन्य है वह पवित्र भूमि ! जहाँ आप आत्मा के स्वरूप का विचार कर सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी से भेंट कर मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हुए।

भाईसाहब ! अभी तक मैंने अपने आत्मकल्याण के बारे में कुछ सोचा ही नहीं था, परन्तु आज आपके आत्मकल्याण की चर्चा सुनकर मुझे बहुत खुशी हुई है। अब आप अपने समान ही मेरी आत्मा का भी उद्धार कीजिए। भाईसाहब ! मुनिराज ने अपने उपदेश में क्या कहा था ?

बड़ा भाई : प्रिय भाई ! आज तुम्हारी पवित्र भावना देखकर मुझे बहुत खुशी हो रही है। मुनिराज ने महान करुणा करके प्रथम तो अरहंत भगवान का स्वरूप समझाया, फिर बाद में यह समझाया कि जैसा अरहंत भगवान का स्वरूप है, वैसा ही अपनी आत्मा का स्वरूप है। अरहंत भगवान की आत्मा में और अपनी आत्मा के स्वभाव में परमार्थ से कोई अन्तर नहीं है। अरहंत भगवान की आत्मा द्रव्य, गुण और पर्याय सर्वप्रकार से शुद्ध है – ऐसा समझने से अपनी आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी समझ में आ जाता है। इस सम्बन्ध में मुनिराज ने एक गाथा सुनाई थी।

छोटा भाई : वह कौन-सी गाथा सुनाई थी ? मुझे भी बताइये।

बड़ा भाई : उस गाथा को मैंने लिख लिया था। लो, इसे स्वयं ही पढ़ लो।

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

जो जानता अरहंत को, गुण द्रव्य अरु पर्याय से।
वह जानता निज आत्मा को, दृगमोह उसका नाश हो ॥

छोटा भाई : भाईसाहब ! वास्तव में इस गाथा में उद्धृत भावों के समान ही आपने आत्मा में परिणमन किया है। आपने अरहंत भगवान के समान अपने वास्तविक स्वरूप को समझकर मोह का नाश किया है। अब आपने मुझे भी मोहक्षय करने का उपाय बतलाकर मुझ पर महान उपकार किया है। अहो ! सम्यग्दर्शन की असीम महिमा को मैंने आज समझा है। भाईसाहब ! सम्यग्दर्शन में आपको कैसा आनन्द आया ?

बड़ा भाई : अहो भाई ! इस आनन्द की क्या बात है ? इस आनन्द का क्या कहना ?

इसे कैसे बतावें ? यह तो अन्तर के अनुभव की वस्तु है। परभावों से भिन्न जो आनन्द है, उसकी तुलना जगत के किसी भी पदार्थ से नहीं की जा सकती।

छोटा भाई : हाँ भाईसाहब ! आपकी बात सत्य है। आपके प्रताप से मुझे भी आत्मा के प्रति रुचि हुई है। अब मैं भी आपके समान आत्मानुभव शीघ्र करूँगा, परन्तु मेरी एक प्रार्थना है।

बड़ा भाई : प्रिय भाई ! खुशी से कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है ?

छोटा भाई : भाईसाहब ! जिसप्रकार अभी आपने मुझे धर्मोन्मुख किया, उसीप्रकार भविष्य में भी जब जरूरत पड़े, तब आप मुझे धर्मोपदेश देकर दृढ़ कीजिएगा – यही मेरी प्रार्थना है।

बड़ा भाई : हाँ भाई ! अवश्य, मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि यदि स्वर्ग में भी रहा तो तुम्हें धर्मोपदेश देने जरूर आऊँगा।

छोटा भाई : भाईसाहब ! आपका परम-उपकार है। अब आप कहाँ जा रहे हैं ? मैं भी आपके साथ चलता हूँ।

बड़ा भाई : प्रिय भाई ! अवश्य चलो।

(दोनों भाई साथ-साथ जाते हैं।)

द्वितीय अंक

(इस द्वितीय अंक में भी श्रीकंठ राजा के पूर्वभव का दृश्य है, जिसमें वे वणिकपुत्र शान्तिलाल सेठ हैं। उनके समागम व उपदेश से उनके अन्य मित्र किसप्रकार जुआ का त्याग करते हैं, उसका वर्णन है।)

(दो व्यापारियों का मंच पर प्रवेश)

मगनलाल : मित्र ! क्या बात है ? कुछ परेशान से दिख रहे हो।

छगनलाल : हाँ भाई ! आज सट्टे के बाजार में पाँच हजार का नुकसान हो गया है, उसकी चिन्ता लगी है।

मगनलाल : अरे ! इसमें चिन्ता की क्या बात ? आज जुए में पाँच हजार का एक दाव और लगा दो। बस फिर क्या....?

छगनलाल : क्या बात है आज शान्तिलाल सेठ दिखाई नहीं दे रहे हैं ?

मगनलाल : वैसे तो सबसे पहले आ जाते थे, परन्तु आज उन्हें किसने रोक लिया ? उनके

बिना तो अपने खेल में मजा ही नहीं आता ? (प्रथम अंक का छोटा भाई ही शान्तिलाल सेठ है। वह मंच पर प्रवेश करता है)

छगनलाल : वह देखो, शान्तिलाल सेठ आ रहे हैं।

मगनलाल : आइये ! आइये !! सेठजी आज तो पाँच-पाँच हजार रुपये दाव पर लगाना तय हुआ है, परन्तु आपके बिना सब रुका है।

शान्तिलाल सेठ : देखो भाई ! मेरे सामने जुए का नाम भी मत लेना। आज से मैं तुम्हारी जुआ-मण्डली में नहीं रहूँगा। अभी तक तो पापभाव में ही जीवन बिताता रहा हूँ, परन्तु आज से मैं अपना जीवन धर्म-मार्ग में ही लगाऊँगा।

छगनलाल : अरे अरे, शान्तिलाल सेठ ! तुम यह क्या कह रहे हो ?

शान्तिलाल सेठ : हाँ भाई ! मैं सच कह रहा हूँ। जुआ खेलना महापाप है। अपने जैसे सज्जन पुरुषों को यह शोभा नहीं देता। अनन्त-अनन्त काल में यह मनुष्य जन्म मिला है। उसे पापभावों में कैसे व्यर्थ गमा दें। अब तो ऐसा उपाय करना है कि जिससे आत्मा का हित होवे।

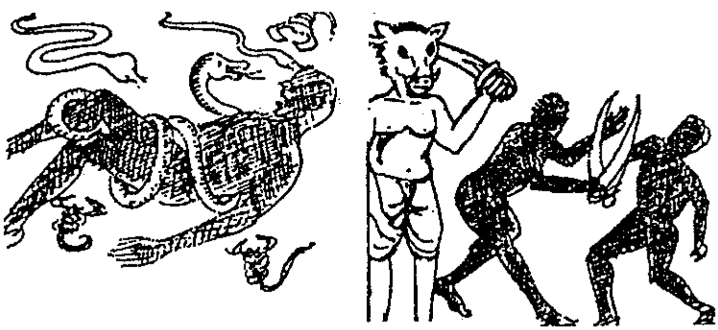

मगनलाल : अरे भाई ! आज अचानक यह वैराग्य कहाँ से उमड़ आया है ?

शान्तिलाल सेठ : प्रिय भाइयो ! मैं कुछ बातें करने के लिये ही आप लोगों के पास आया हूँ। आज मेरे बड़े भाई ने मुझे अपूर्व शिक्षा दी है। हम सबको जो यह अमूल्य मनुष्यभव और जैनधर्म मिला है, उसी की सार्थकता के लिये कुछ करना चाहिये।

छगनलाल : आपके भाई ने जीवन की सार्थकता का आपको क्या उपाय बताया है ? हमें भी बताओ।

शान्तिलाल सेठ : सर्वप्रथम तो यह जुआ जैसा महापापभाव हम सभी को शोभा नहीं देता। इस पाप के फल से तो नरकों के घोर दु:खों को सहन करना पड़ेगा। इसलिए यह तीव्र पापभाव छोड़ना ही योग्य है और हम सभी को प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना चाहिये,

जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप को समझना चाहिये और उन्होंने किसप्रकार मोक्ष प्राप्त किया – यह भी जानना चाहिये, ताकि हम भी मुक्ति-प्राप्ति का प्रयत्न कर सकें।

मगनलाल : क्या यह बात सुनकर ही आपको वैराग्य हो गया ?

शान्तिलाल सेठ : हाँ भाई ! अपने बड़े भाई की यह चर्चा सुनकर मेरे अन्तर में जिज्ञासा हुई। फिर मैं अपने भाईसाहब के साथ मुनिराज के पास गया। उन मुनिराज के श्रीमुख से अपूर्व कल्याणकारी उपदेश को सुनकर मेरी खुशी का ठिकाना ही न रहा। मैंने मुनिराज के पास ही जुआ-आदि समस्त पापों का त्याग कर दिया तथा जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने की प्रतिज्ञा ले ली।

छगनलाल : अहो, धन्य हो ! आपके हृदय-परिवर्तन को धन्य हो !! अब हमारी भावना भी इस उत्तम कार्य में प्रवृत्त होने की हो रही हैं, परन्तु आज मैं सट्टे में पाँच हजार रुपये हार गया हूँ, इसलिए बहुत परेशान हूँ।

शान्तिलाल सेठ : मित्र ! तुम चिन्ता मत करो ! यदि तुम जीवनभर के लिए जुए का त्याग करो तो मैं तुम्हें पाँच हजार रुपये देने को तैयार हूँ।

छगनलाल : भाई ! तुम्हारे इस उपकार को मैं कभी नहीं भूलूँगा। मैं आपके सामने जुआ-आदि सभी पापों का हमेशा के लिए त्याग करता हूँ और आपके समान ही प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने की भी प्रतिज्ञा लेता हूँ। आपका महान उपकार है, जो आपने मुझे महापाप से बचाकर सन्मार्ग में लगाया।

मगनलाल : हाँ भाई ! आप दोनों की बातें सत्य हैं। मैं भी आप लोगों के समान जुआ-आदि पापों को छोड़कर प्रतिदिन जिनदर्शन किया करूँगा। अहो ! धन्य है आज का दिन, हम सभी को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई और नरक के घोर पापों से हमारा उद्धार हो गया।

शान्तिलाल सेठ : भाई ! यह सब तो जैनधर्म और मुनिराज का प्रताप है। (चलो, आज के इस शुभ प्रसंग की खुशी में हम सभी भक्ति करें।)

छगनलाल : हाँ भाई चलो !

गा रे भैया...., गा रे भैया...., गा रे भैया.... गा॥
प्रभु गुण गा तू समय न गवाँ.... गा रे भैया॥ टेक॥
किसको समझे अपना प्यारे, स्वारथ के सब रिश्ते सारे।
फिर क्यों प्रीति लगाये.... ओ भैयाजी....! गा रे भैया॥1॥

दुनियाँ के सब लोग निराले, बाहर उजले, अन्दर काले।
फिर क्यों मोह बढ़ाये.... ओ बाबूजी....! गा रे भैया.... ॥2॥

मिट्टी की यह नश्वर काया, जिसमें आतमराम समाया।
उसका ध्यान लगा ले.... ओ दादाजी....! गा रे भैया ॥3॥

स्वारथ की दुनिया को तजकर, निशदिन प्रभु का नाम जपाकर।
सम्यक् दर्शन पा ले.... ओ काकाजी....! गा रे भैया ॥4॥

शुद्धातम को लक्ष्य बनाकर, निर्मल भेदज्ञान प्रगटा कर।
मुक्तिवधू को पा ले.... ओ लालाजी....! गा रे भैया ॥5॥

तृतीय अंक

(इन्द्र सभा)

(इस तृतीय अंक में स्वर्ग के इन्द्र महाराज के जन्म तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विषय में इन्द्र महाराज तथा देवों के बीच हुए वार्तालाप का दृश्य है। इन्द्रसभा लगी है। चार देव उसमें बैठे हैं। इन्द्रासन रिक्त है। एक ओर उत्पाद शैय्या है। उसमें श्वेत वस्त्र ओढ़कर इन्द्र महाराज सो रहे हैं।)

दिव्यकुमार : बन्धुओ ! आज अपने इन्द्र महाराज की आयु पूरी हो गयी है। अहो ! इस क्षणभंगुर संसार में इन्द्र जैसे भी अमर नहीं हैं। इस संसार में मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक ये सभी चारों गतियाँ अध्रुव हैं, नश्वर हैं। एक सिद्धदशा ही ऐसी ध्रुव है कि जिसमें पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। ऐसी अविनाशी सिद्धगति हम कब प्राप्त करेंगे !

सिद्धकुमार : हाँ, सच ही कहा है कि....

लक्ष्मी, शरीर, सुख-दुख अथवा शत्रु-मित्र जनो अरे !
जीव को नहीं कुछ ध्रुव, उपयोग आत्मा एक जीव है॥
मरता अकेला जीव, एवं जन्म एकाकी करे।
पाता अकेला ही मरण, अरु मुक्ति एकाकी वरे॥

मुक्तिकुमार : जिसप्रकार पाँच भावों में पंचम परमपारिणामिक भाव परममहिमावंत है, उसीप्रकार पाँच गतियों में पंचमगति परममहिमावंत है, जिसप्रकार उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक यह चारों भाव क्षणिक हैं और पंचम परमपारिणामिक भाव ध्रुव है, उसीप्रकार संसार में देव, नरक, मनुष्य, तिर्यंच – ये चारों गतियाँ क्षणिक हैं, एकमात्र सिद्धदशा ही ध्रुव, अचल और अनुपम है। वही पंचम गति है।

प्रकाशकुमार : अपने इन्द्र महाराज ने यहाँ से मनुष्य लोक में जन्म लिया है और इसी भव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता करके अभूतपूर्व ऐसी सिद्धदशा को प्राप्त करेंगे। अहो, धन्य है उस दशा को।

सिद्धकुमार : आज अपने इन्द्र महाराज चले गये, तो क्या अब यह इन्द्रासन खाली रहेगा?

मुक्तिकुमार : नहीं देवो ! यह खाली नहीं रहेगा, तुरन्त ही मनुष्य लोक में से कोई आराधक जीव आकर यहाँ इन्द्र के रूप में उत्पन्न होगा तथा इन्द्रासन सम्भालेगा।

(उत्पाद शैय्या से इन्द्र अचानक उठते हैं। अन्दर से बाजों की आवाज होती है।)

दिव्यकुमार : देखो, देखो ! इन्द्र महाराज का जन्म हुआ।

(सब एक साथ खड़े होकर हाथ जोड़कर कहते हैं। पधारो ! इन्द्र महाराज पधारो ! वे आकर इन्द्रासन पर विचारमग्न होकर बैठते हैं।)

प्रकाशकुमार : क्या आज्ञा है महाराज ?

इन्द्र : अहो, देवो ! जैनधर्म के परमप्रताप से मुझे यह विभूति मिली है। चलो, सबसे पहले जिनेन्द्रदेव की पूजा करें।

दिव्यकुमार : यह पूजन की सामग्री लीजिये। **(सब हाथ में अर्घ्य लेकर पूजा करते हैं।)**

तेरी भक्ति बसी मनमाहीं, मैं तो पूजूँ पद हरषाई।
शाश्वत जिनवर बिम्ब विराजे, मध्यलोक के माहीं।
अष्टद्रव्य से जिनवर पूजूँ, पद अनर्घ्य सुख पावूँ॥

इन्द्र : *ॐ ह्रीं स्वर्गलोकस्य विराजमान शाश्वतजिनबिम्बसमूह चरणकमलपूजनार्थे अर्घ्यं निर्व. स्वाहा।*

प्रकाशकुमार : हे नाथ ! इसके पहले भव में आप कहाँ थे ?

इन्द्र : देवो ! इसके पहिले भव में मैं व्यापारी पुत्र था, वहाँ मुझे मुनिराज के प्रताप से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ। मुनिदशा अंगीकार करने की मेरी तीव्र भावना थी, परन्तु वह धन्य अवसर प्राप्त होने के पहिले ही आयु पूरी हो गई और यहाँ पर जन्म हुआ।

सिद्धकुमार : महाराज ! क्या आपने पूर्वभव में धर्म धारण किया, उसके फल में यह इन्द्र पद मिला है।

इन्द्र : नहीं, सिद्धकुमारजी ! ऐसा नहीं है। यह इन्द्रपद का जन्म हुआ, वह तो राग का ही फल है। **धर्म के फल में संसार का पद नहीं मिलता, धर्म का फल तो आत्मा में मिलता है।**

सिद्धकुमार : हे नाथ ! धर्म का फल आत्मा में किसप्रकार मिलता है ?

इन्द्र : देखो सिद्धकुमार ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही धर्म है। जितने अंश में वीतरागभाव की आराधना करे, उतने अंश में जीव को वर्तमान में ही अपूर्व शान्ति का वेदन होता है। अन्तर में चैतन्य का अनाकुल सुख प्रगट होता है। अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द से वह तृप्त हो जाता है।

मुक्तिकुमार : महाराज ! क्या वह आनन्द इस इन्द्रपद से भी अधिक होगा ?

इन्द्र : अरे देवो ! यह इन्द्रपद तो क्या, ऐसे अनन्त इन्द्रपद की विभूति भी आत्मा के सुख के एक अंश के बराबर भी नहीं है। **जगत के सर्व सुख की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के सुख की जाति ही भिन्न हैं, अलग है।**

मुक्तिकुमार : तो क्या सम्यग्दृष्टि को ऐसे वैभवशाली इन्द्रपद की इच्छा नहीं होती ?

इन्द्र : नहीं, सम्यग्दृष्टि जीव निःकांक्षित गुण सहित होते हैं, अतः उन्हें वैभव की वांछा नहीं होती। **जिसने चैतन्यसुख का स्वाद या आनन्द लिया हो, उसे बाहर के पदार्थों की इच्छा कैसे होगी ?**

दिव्यकुमार : महाराज ! सम्यदृष्टि जीव में और कौन-कौन से गुण होते हैं ?

इन्द्र : अहो ! समकिती के अपार गुणों की क्या बात ? समकिती के गुण अपार हैं, उनमें 8 गुण प्रधान हैं।

दिव्यकुमार : वे आठ गुण कौन-कौन से हैं ?

इन्द्र : निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना – इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के 8 गुण मुख्य हैं।

सिद्धकुमार : प्रभो ! समकिती का वात्सल्य गुण कैसा होता है ?

इन्द्र : सम्यग्दृष्टि के अन्तर में अपने चिदानन्दस्वरूप तथा रत्नत्रयधर्म के प्रति अपार प्रीति होती है – यह समकिती का निश्चय वात्सल्य है तथा बाहर में देव-गुरु-धर्म और अपने साधर्मियों के प्रति अपार वात्सल्य होता है – यह समकिती का व्यवहार वात्सल्य है। जैसे गाय को अपने बच्चे के प्रति प्रीति होती है, माता को अपने बालक के प्रति प्रेम होता है, उसीप्रकार धर्मी को अपने साधर्मियों के प्रति वात्सल्यभाव होता है अर्थात् अपने साधर्मी को देखकर धर्मात्मा प्रसन्न होते हैं।

सिद्धकुमार : महाराज ! आपने वात्सल्य गुण का बहुत सुन्दर स्वरूप समझाया। अब समकिती का नि:शंकित गुण कैसा होता है, वह समझाइये ?

इन्द्र : सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञायकस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान में नि:शंक होते हैं, कैसा भी भयंकर प्रसंग उपस्थित हो जाय तो भी वे अपने स्वरूप की श्रद्धा से लेशमात्र भी नहीं डिगते एवं स्वरूप में भी संदेह नहीं करते। उसीप्रकार वीतरागी देव-गुरु-धर्म तथा जिनवचन में भी धर्मात्मा कभी संशय नहीं करते। कोई भी भय, लज्जा या लालच से जिनमार्ग से च्युत होकर विपरीत मार्ग का आदर कभी नहीं करते – ऐसा सम्यग्दृष्टि का नि:शंकित गुण है।

मुक्तिकुमार : प्रभो ! सम्यग्दृष्टि के गुणों का वर्णन सुनने में हमको बहुत आनन्द आ रहा है। अब कृपा करके प्रभावना गुण को समझाइये ?

इन्द्र : निश्चय से तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि में समय-समय शुद्धता की वृद्धि करके समकिती जीव अपने आत्मा में धर्म की प्रभावना करते हैं और स्वयं ने जो अपूर्व धर्म प्राप्त किया है, वह धर्म जगत के दूसरे जीव भी प्राप्त करके आत्मकल्याण करें – ऐसी पवित्र भावना धर्मी को होती है। इसप्रकार धर्मी जीव वीतरागी देव-गुरु-धर्म की महा-प्रभावना करते हैं। जिनबिम्ब प्रतिष्ठा और पंचकल्याणक महोत्सव आदि द्वारा जैनधर्म की महाप्रभावना करते हैं – यह है समकिती का प्रभावना गुण।

सिद्धकुमार : महाराज ! अभी तो भरतभूमि में धर्मकाल चल रहा है, वासुपूज्य आदि तीर्थंकर भी विचरण कर रहे हैं, इसलिए अभी वहाँ ऐसे प्रभावना आदि गुण के धारक अनेक संत धर्मात्माओं का विचरण हो रहा है; परन्तु जब कलयुग आयेगा और साक्षात् तीर्थंकर भगवान का विरह होगा, तब भरतक्षेत्र का क्या होगा ?

इन्द्र : भाई ! तब अनेक वीतरागी धर्मात्माओं का जन्म होगा और वे भरतक्षेत्र में तीर्थंकर जैसा महान काम करेंगे।

सिद्धकुमार : ऐसे कौन-कौन से सन्त होंगे ?

इन्द्र : परमपूज्य महावीर भगवान के बाद परमपूज्य गौतमस्वामी होंगे, फिर परमपूज्य धरसेनाचार्य आदि होंगे। उनके बाद परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्य आदि होंगे। वे इस भरतक्षेत्र में तीर्थंकर के समान कार्य करेंगे। उनके पश्चात् परमपूज्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि होंगे, उनके प्रताप से जगह-जगह जिनशासन की प्रभावना होगी, फिर परमपूज्य अमृतचन्द्राचार्य, जयसेनाचार्य और पद्मप्रभमलधारिदेव आदि अनेकों महान संत उत्पन्न होंगे। **(हर्षनाद)**

मुक्तिकुमार : अरे, अरे ! यह घंटानाद कहाँ हो रहा है ?

इन्द्र : देवो ! आज से नन्दीश्वर द्वीप में अष्टाह्निका महोत्सव का प्रारम्भ हो रहा है। चलो, हम भी नन्दीश्वर द्वीप चलें।

सब देव : (खड़े होकर) हाँ, चलिये महाराज !

इन्द्र : देवो ! इन सब विमानों को सीधे न ले जाकर पहले वानरद्वीप में श्रीकंठ राजा के महल के ऊपर से हमको ले जाना है।

मुक्तिकुमार : महाराज ! ऐसा क्यों ?

इन्द्र : देखो, देवो ! पूर्वभव में मेरे एक छोटे भाई थे, उनको सम्बोधन करने के लिये मैंने वचन दिया है। अभी वे श्रीकंठ राजा के रूप में हैं, उनके महल के ऊपर से विमान को जाते हुये देखकर उनको तुरन्त ही जातिस्मरण ज्ञान होगा तथा वे वैरागी बनेंगे।

सभी देव : बहुत सुन्दर ! चलिये महाराज !

हिलमिल कर सब भक्त चलो नन्दीश्वर जिनधाम में।
नन्दीश्वर जिनधाम में, नन्दीश्वर जिनधाम में, नन्दीश्वर जिनधाम में॥
अष्टम द्वीप में जो है राजे, शाश्वत जहाँ जिनबिम्ब विराजे।
दिव्य जिनालय बावन शोभें, चहुँ दिशि बावड़ी पर्वत सोहें॥
महिमा अति भगवान की, महिमा अति भगवान की॥
जिनबिम्बों की शोभा भारी, वीतरागता दर्शक प्यारी।
मानस्तम्भ है रत्न का भारी, करें देव सेवा सुखकारी॥
जय बोलो ! जिनेश्वर भगवान की, जिनेश्वर भगवान की॥

चतुर्थ अंक

(श्रीकंठ राजा की सभा)

(तृतीय अंक की इन्द्रसभा को ही श्रीकंठ राजा की सभा में परिवर्तित करना है। सिंहासन खाली है।)

दरबारी : सोने की छड़ी, चाँदी की मशाल, जरियन का जामा, मोतियों की माल, जैनधर्म के परमभक्त श्रीकंठ राजा की जय हो, जय हो, जय हो ! दरबार में राजाजी पधार रहे हैं, सावधान!

(सभी दरबारी खड़े हो जाते हैं। श्रीकंठ राजा आकर बैठ जाते हैं।)

राजा श्रीकंठ : दीवानजी ! राज्य-व्यवस्था के क्या समाचार हैं ?

दीवानजी : महाराज ! आपके प्रताप से राज्य की व्यवस्था भली प्रकार चल रही है। जैनधर्म के प्रताप से सर्वत्र शान्ति है।

राजा श्रीकंठ : भंडारीजी ! आप क्या समाचार लाये हैं ?

भण्डारीजी : महाराज ! आपके पुण्य-प्रताप से राज्य का भंडार भरपूर है। दूसरी खुशी का समाचार यह है कि आज आपका जन्मदिन है। इसकी खुशी में राज्य के खजाने में से पाँच लाख सोने की मुहरों के दान करने का निश्चय किया है।

राजा श्रीकंठ : बहुत अच्छी बात है, परन्तु इस रकम का उपयोग करोगे कैसे ? नगरसेठजी! इस सम्बन्ध में क्या विचार है ?

नगरसेठ : महाराज ! हमने यह विचार किया है कि सवा लाख सोने की मोहरें जिनमन्दिर के उपयोग में खर्च की जावें। सवा लाख मोहरें जिनवाणी की प्रभावना में लगाई जावें और सवा लाख मोहरों से एक जैन विद्यालय की स्थापना कराने की योजना है, जिसमें देश-विदेश के बालक रहकर जैनधर्म का अभ्यास कर सकें तथा शेष सवा लाख सोने की मोहरों से साधर्मीजनों की सहायता की जावे।

राजा श्रीकंठ : बहुत अच्छी बात है। अब मेरी ओर से इनके अतिरिक्त पाँच लाख सोने की मोहरें जहाँ-जहाँ जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार एवं निर्माण कार्य चल रहा हो, वहाँ भेजी जावें।

राजा श्रीकंठ : सेनापतिजी ! क्या समाचार हैं ?

सेनापति : महाराज ! राज्य में सर्वत्र शान्ति है। कहीं भी लड़ाई का नामो-निशान नहीं है।

राजा श्रीकंठ : राज्य-सम्बन्धी चर्चा पूरी हो गई। अब सभा समाप्त की जाये।

दीवानजी : महाराज ! आज हम सभी की भावना है कि आपके साथ धर्मचर्चा का लाभ मिले।

राजा श्रीकंठ : यह तो बहुत ही प्रसन्नता की बात है। आपको जो जानने की इच्छा हो, खुशी से पूछिये।

दीवानजी : महाराज ! इस जगत की रचना किसप्रकार हुई है ?

राजा श्रीकंठ : सुनो ! इस जगत में सबसे ऊपर अनन्त सिद्ध विराजमान हैं। उनके शरीर नहीं है; मन, वाणी, राग, द्वेष कुछ भी नहीं है, बस एक उनका आत्मा चैतन्य-बिम्ब रूप में विराजमान है।

सेनापति : वे सिद्ध भगवान वहाँ क्या करते हैं ?

राजा श्रीकंठ : वे अनन्त आत्मिक सुख का वेदन करते हैं। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में लीन – ऐसे सिद्ध भगवान जगत के शिरोमणि हैं, जगत के लिए परम आराध्य हैं।

भण्डारीजी : मध्यलोक कहाँ है ?

राजा श्रीकंठ : उसके बाद मध्यलोक आता है, जहाँ हम रहते हैं, यही तो मध्यलोक है। यह मध्यलोक अनेक विचित्रताओं से ओत-प्रोत और महान वैभवशाली है।

दीवानजी : मध्यलोक की क्या विशेषता है ?

राजा श्रीकंठ : मध्यलोक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मुक्तदशा की प्राप्ति मध्यलोक से ही हो सकती है।

भण्डारीजी : क्या पूरे मध्यलोक से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं ?

राजा श्रीकंठ : मध्यलोक में भी असंख्य द्वीप-समुद्र हैं, उनमें से मात्र ढाई द्वीप से ही जीव मुक्ति को प्राप्त हो सकते हैं।

सेनापति : हम जहाँ रहते हैं, उस द्वीप का क्या नाम है ?

राजा श्रीकंठ : इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। इस जम्बूद्वीप में अपने देश का नाम भरतक्षेत्र है। जहाँ सीमन्धर भगवान विराजमान हैं, उसका नाम विदेहक्षेत्र है। भरतक्षेत्र और विदेहक्षेत्र दोनों ही जम्बूद्वीप में आते हैं।

सेनापति : वाह ! सीमन्धर भगवान और हम एक ही द्वीप में रहते हैं।

राजा श्रीकंठ : हाँ, भगवान और हम एक ही द्वीप में रहते हैं। इतना ही नहीं, सीमन्धरस्वामी, युगमन्धरस्वामी, बाहुस्वामी, सुबाहुस्वामी इत्यादि चार-चार तीर्थंकर भी इस जम्बूद्वीप में ही विराजमान हैं।

सेनापति : अहो ! धन्य हैं महाराज ! अभी भी हम सीमन्धर भगवान के पास जा सकते हैं – यह जानकर हम भी धन्य हुए। (अचानक विद्याधर आते हैं।)

राजा श्रीकंठ : अहो ! यह हमारे मित्र विद्याधर आये हैं, अरे ! तुम तो बहुत दिनों में आये हो। कहाँ गये थे ?

विद्याधर : मैं सारे जम्बूद्वीप के तीर्थों की यात्रा करने गया था। विदेहक्षेत्र में भगवान के साक्षात् दर्शन किये, भरतक्षेत्र में शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखरजी की यात्रा की और वासुपूज्य भगवान की दिव्य-ध्वनि भी सुनी।

राजा श्रीकंठ : हे मित्र ! भगवान की दिव्य-ध्वनि में आये संसार से छूटने का उपाय संक्षेप में हमें भी तो बताओ ?

विद्याधर : दिव्य-ध्वनि में ऐसा आया कि **निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही संसार से छूटने का उपाय है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के आश्रय से होते हैं।** पर के आश्रय से या व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं मिलता; इसलिए हे **जीवो ! तुम पराश्रयबुद्धि को छोड़कर स्वभाव का आश्रय करो।**

दीवानजी : आपने और क्या सुना ?

विद्याधर : यह सुना कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। वह ज्ञान व्यवस्थितपने सबको जानने के स्वभाववाला है। ज्ञान में या ज्ञेय में किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। सबकुछ व्यवस्थित है।

सेनापति : तो फिर पुरुषार्थ करना चाहिये या नहीं ?

विद्याधर : अरे भाई ! **ज्ञान और ज्ञेय दोनों के स्वभाव का निर्णय करना ही सम्यग्दर्शन का कारण है। उसमें स्वभाव-सन्मुखता का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है।** अत: भगवान कहते हैं कि हे जीवो ! तुम स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करो। तुम्हारे में सर्वज्ञता प्राप्त करने का सामर्थ्य है, उसे पहिचानो !

राजा श्रीकंठ : वाह ! बहुत ही उत्तम चर्चा है। भाई ! यही जैनशासन का मूल रहस्य है।

दीवानजी : आपने और किन-किन तीर्थों की वन्दना की ?

विद्याधर : मेरु पर्वत के ऊपर शाश्वत जिनमन्दिरजी के दर्शन किये। उसके बाद जम्बूद्वीप से बाहर लवण समुद्र को पार करके मैं धातकीखण्ड द्वीप में गया।

भण्डारीजी : वहाँ आपने क्या देखा ?

विद्याधर : वहाँ अनेक तीर्थंकर भगवान विराजमान हैं, मैंने भक्तिपूर्वक उनके दर्शन किये। फिर कालोदधि समुद्र पार करके मैं पुष्करवर द्वीप में गया। वहाँ अनेक तीर्थंकर भगवान विराजमान थे, उनके भी दर्शन किये। उसके बाद मानुषोत्तर पर्वत पर शाश्वत जिनमन्दिरों के भी दर्शन किये।

राजा श्रीकंठ : उसके बाद क्या किया ?

विद्याधर : इसप्रकार ढ़ाई द्वीप के सभी तीर्थों की वन्दना करके मैं यहाँ आया हूँ।

दीवानजी : आप और आगे क्यों नहीं गये ?

विद्याधर : भाई ! ढ़ाई द्वीप तक ही मनुष्य जा सकते हैं। उसके आगे मनुष्य नहीं जा सकते। इसी कारण यह ढ़ाई द्वीप मनुष्यक्षेत्र कहलाता है।

भण्डारीजी : इस मनुष्यक्षेत्र के बाहर क्या है ?

विद्याधर : मनुष्यक्षेत्र के बाहर अनेक द्वीप और समुद्र हैं।

सेनापति : भाई ! आगे आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप आता है। उस द्वीप में अद्‌भुत जिनमन्दिर हैं। मन्दिरों में रत्नों की शाश्वत जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। वहाँ की शोभा तो सचमुच ही अद्‌भुत है। जिसप्रकार आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति अनादि से है, उसीप्रकार वहाँ प्रतिबिम्ब रूप वीतरागी जिनप्रतिमा भी अनादि से हैं। अहो ! उनकी परम अद्‌भुत शोभा है। ऐसा लगता है मानों वीतरागी मुद्रा मौन रहकर मोक्षमार्ग का उपदेश दे रही हो।

राजा श्रीकंठ : क्या हमको उनके दर्शन नहीं हो सकते ?

विद्याधर : भाई ! वहाँ देव ही जा सकते हैं। वहाँ मनुष्य नहीं जा सकते हैं। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ माह के शुक्ल पक्ष में अष्टमी से पूर्णिमा तक अष्टाह्निका पर्व आता है। तब इन्द्र और देव नन्दीश्वरद्वीप में जाकर भक्तिपूर्वक विशाल उत्सव मनाते हैं। कुछ ही दिनों में कार्तिक की अष्टाह्निका आनेवाली है। तब इन्द्र वहाँ जाकर भक्ति करेंगे और हम यहीं से परोक्षरूप में अर्घ्य चढ़ायेंगे। (पर्दा गिरता है।)

राजा श्रीकंठ : अरे ! क्या बात है, आज राजकुमार दिखाई नहीं दे रहे हैं ?

दीवानजी : छोटे-छोटे राजकुमार जंगल में घूमने गये थे। कहीं रास्ता न भूल गये हों ?

सेनापति : नहीं महाराज ! भूल नहीं सकते; क्योंकि अंगरक्षक उनके साथ हैं। (अंगरक्षक आते हैं।)

राजा श्रीकंठ : अरे ! यह अंगरक्षक तो आ गये हैं। क्यों भाई ! राजकुमार कहाँ हैं ?

अंगरक्षक : अन्नदाता ! मैं यही समाचार देने आया हूँ। जब हम जंगल में बहुत दूर तक चले गये, तब वहाँ महान पुण्ययोग से केवली भगवान की गंधकुटी के दर्शन हुये। अपने दोनों राजकुमारों ने वहीं दीक्षा लेकर दिगम्बर मुनिदशा धारण कर ली।

राजा श्रीकंठ : वाह ! धन्य है इन बाल कुंवरों को, जिन्होंने इतनी छोटी उम्र में ही राज्य और माता-पिता के मोह को छोड़कर आत्मसाधना में अपना जीवन अर्पित कर दिया, परन्तु वे हमारी मंजूरी लेने घर क्यों नहीं आये ?

अंगरक्षक : महाराज ! मैंने उन्हें बहुत समझाया, पर वे कहने लगे कि यह समाचार सुनकर पिताजी बहुत प्रसन्न होंगे। ऐसे कार्य में तो पिताजी की मंजूरी जरूर ही मिल जावेगी; क्योंकि पिताजी स्वयं ही ऐसी मुनिदशा की भावना भाते हैं, फिर हमें मुनिदशा लेने से क्यों रोकेंगे ? ऐसा कहकर वे दीक्षित हो गये।

राजा श्रीकंठ : वाह ! धन्य है उनके वैराग्य को !! मेरी भी यही भावना है – **ऐसा अपूर्व अवसर मेरे कब आयेगा ?**

(गीत गाते हैं और अन्दर से बाजे बजते हैं। थोड़ी-थोड़ी देर में आवाज आती है। पहले धीरे-धीरे, बाद में जोर-जोर से।)

राजा श्रीकंठ : अरे ! यह आवाज कहाँ से आ रही है ?

विद्याधर : महाराज ! आज से अष्टाह्निका पर्व प्रारम्भ हो गया है, इसलिए देवों के विमान नन्दीश्वर द्वीप में महोत्सव मनाने जा रहे हैं। **(वाद्ययंत्र बज रहे हैं। थोड़ी देर में एक विमान ऊपर आकाशमार्ग से निकलता है। श्रीकंठ राजा आकाश की ओर देख रहे हैं।)**

राजा श्रीकंठ : (ऊपर देखकर) अरे ! यह तो मेरे बड़े भाई हैं ! मेरे बड़े भाई ! वाह-वाह ! **(थोड़ी देर के लिए राजा निःस्तब्ध हो जाते हैं, पश्चात् विचारमग्न हो जाते हैं।)**

दीवानजी : क्या हुआ महाराज ! कौन हैं ? आपके भाई।

राजा श्रीकंठ : हाँ ! देखो, इन देव-विमानों को देखकर मुझे जातिस्मरण हुआ है। इस विमान में बैठकर जो गये हैं, वे इन्द्र ही मेरे पूर्वभव में बड़े भाई थे। उनके ही सत्संग से मुझे जैनधर्म प्राप्त हुआ था। उनका हम पर असीम उपकार है। अहो ! वे नन्दीश्वर द्वीप में प्रभुभक्ति करने जा रहे हैं।

चलो ! हम भी नन्दीश्वरद्वीप में प्रभु-भक्ति करेंगे। सेनापति ! नन्दीश्वरद्वीप जाने के लिए विमान तैयार करो, पूजन-सामग्री भी तैयार करके लाओ।

सेनापति : जैसी आज्ञा महाराज ! **(थोड़ी देर बाद पूजन-सामग्री लेकर आते हैं।)**

सेनापति : स्वामी ! सब तैयार है। **(वाद्ययंत्र बजते हैं। धीरे-धीरे गाते-बजाते हुए चलते हैं, 2-3 बार गाते-गाते मंच पर आते हैं)**

हिलमिल कर सब भक्तो चलो नन्दीश्वर जिनधाम में। **(यह गीत पेज नं 371 पर पूरा दिया है।)**

राजा श्रीकंठ : लवण समुद्र से निकलकर दूसरे धातकीखण्ड द्वीप में आ गये। अब हम जम्बूद्वीप के बाहर आ गये। **(भजन गाते-गाते फिर अन्दर जाते, पुनः बाहर आ जाते।)**

राजा श्रीकंठ : अब हम कालोदधि समुद्र से निकलकर तीसरे पुष्करवरद्वीप में आ गये। **(यहाँ पर्दे पर नन्दीश्वर को बहुत दूर ऊँचाई पर दिखाना है, बीच में मानुषोत्तर पर्वत की रचना दिखाना है। संवाद का यह मुख्य और महत्त्वपूर्ण प्रसंग है।)**

राजा श्रीकंठ : अरे ! मैंने यह बात कई बार सुनी थी, परन्तु भक्ति के वश होकर मैं यह बात भूल ही गया था। अरे ! देखो तो मनुष्य जन्म की पराधीनता ! यह देह धारण करने में भी कितनी पराधीनता है, सीमित क्षेत्र से आगे नहीं जा सकते। जिसप्रकार जेल का कैदी जेल के बाहर नहीं जा सकता, उसी प्रकार भव-भ्रमण की जेल में पड़ा हुआ यह मनुष्य जीव ढ़ाई द्वीप के बाहर नहीं जा सकता। परन्तु इस देह के साथ तप करके मोक्ष जा सकता है, अतः अब तो शीघ्र ही ऐसी भव-भ्रमण की जेल से छूटने का प्रयत्न करूँगा, जिससे पुनः यह देह ही धारण न करना पड़े।

दीवानजी : महाराज ! नन्दीश्वर तो नहीं जा सकते। अब अपने नगर की ओर प्रस्थान करें।

राजा श्रीकंठ : नहीं ! नहीं !! अब यह पराधीन संसार हमारे स्वप्न में भी नहीं आयेगा। अब तो मैं चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से भव-भ्रमण के कारण को सर्वथा छोड़कर मुक्ति प्राप्त

करूँगा अर्थात् इस ढ़ाई द्वीप की जेल से बाहर निकलकर सिद्ध लोक को प्राप्त करूँगा। यह मानुषोत्तर पर्वत मुझे सिद्ध लोक में जाने से नहीं रोक सकेगा।

दीवानजी : तो क्या हमारे साथ नहीं चलेंगे ?

राजा श्रीकंठ : नहीं भाई ! अब मैं यहीं मुनिदशा अंगीकार करके मोक्ष की साधना करके अपनी आत्मा को, इस भव-भ्रमण से मुक्त करूँगा।

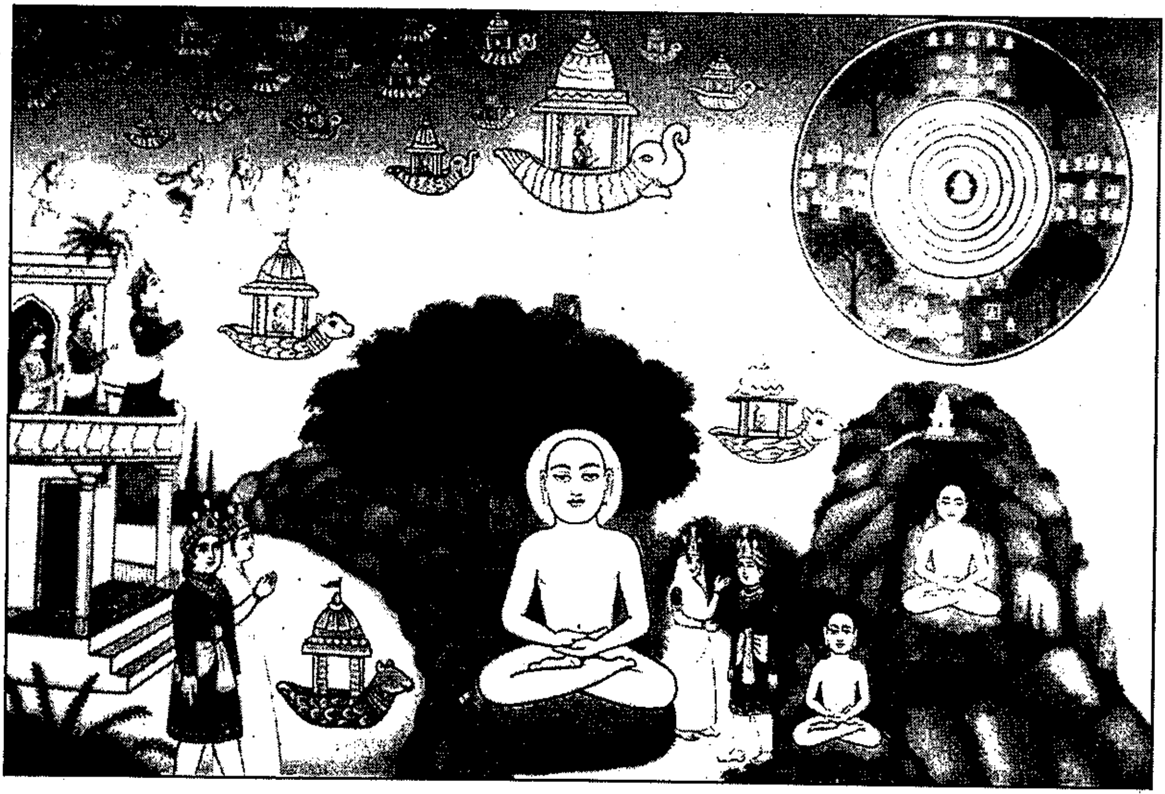

भंडारीजी : अहो ! धन्य है आपकी भावना ! महाराज आप हमें छोड़कर नहीं जाइयेगा। आप जिस मार्ग पर जा रहे हैं, उसी मार्ग पर हम भी चल कर मोक्ष की साधना करके अपनी आत्मा को इस भव-भ्रमण से छुड़ावेंगे।

राजा श्रीकंठ : वाह भाई ! तुम्हारी भी उत्तम भावना है। चलो, पास में ही जो मुनिवर विराजमान हैं, उनके पास जाकर मुनिदशा धारण करेंगे। **(मुनिराज के पास चले जाते हैं।)**

अरहंत सिद्धाचार्य श्री, उवझाय साधु प्रणाम करि।
जिनवृष जिनालय जैनबिम्ब, सरस्वती को हृदय धरि।।

61

सिंह और बन्दर

(इस चित्र में वृक्ष के ऊपर एक बन्दर बैठा है, नीचे जमीन पर उसकी छाया पड़ रही है, वहीं पास में एक भूखा सिंह खड़ा है। फिर क्या होता है– यह जानने के लिए आगे की तीन कहानियाँ पढ़ें। **–सम्पादक**)

1. मूर्ख सिंह और समझदार बन्दर –

एक था सिंह, उसे भूख लगी। जंगल में एक वृक्ष के ऊपर एक बन्दर बैठा था, नीचे उसकी छाया पड़ रही थी, उस छाया को देखकर सिंह को विचार आया मुझे अच्छा शिकार मिला, परन्तु बन्दर तो ऊपर बैठा था, अत: सिंह ने बन्दर की छाया को ही बन्दर मान कर बन्दर की छाया पर झपट्टा मारा। उसी समय डाल पर बैठा हुआ बन्दर, सिंह को सम्बोधन करता हुआ कहता है– "अरे, जंगल के राजा ! मैं तो यहाँ डाल पर बैठा हूँ। यह जो नीचे छाया पड़ रही है, वह मैं नहीं हूँ, उससे तुम्हारा पेट भी नहीं भरेगा, इसलिए बेकार मेहनत मत करो। छाया पर तुम चाहे जितने झपट्टे मारो......उससे तुम्हारे हाथ कुछ भी लगनेवाला नहीं है।"

बन्दर के इतने समझाने पर भी सिंह तो बन्दर की छाया पर पंजे मार-मार कर व्यर्थ कोशिश करता रहा और अन्त में परेशान होकर थक गया, लेकिन उसे कुछ भी नहीं मिला।

इसी प्रकार जंगल के राजा के समान चैतन्य सिंह आत्मा को भी सुख की भूख लगी है। वह छाया के समान बाह्य विषयों से सुख की मांग करता है और विषयों की तरफ झपट्टे मार-मार दुखी होता है।

तब ज्ञानी उसे समझाते हैं– "अरे जीव ! सुख तो तेरी आत्मा में ही है। छाया समान शरीर में अथवा विषयों में सुख नहीं है, इसलिए तू बाहर में सुख की खोज मत कर। बाह्य-विषयों में तुम चाहे जितने मिथ्या प्रयत्न करो, लेकिन उनसे तुम्हें कभी भी सुख की प्राप्ति होगी नहीं।"

इसप्रकार यह बोधि-चित्र हमें भेदज्ञान कराकर सुख का सच्चा मार्ग बताता है।

2. समझदार सिंह और मूर्ख बन्दर –

(नोट:– इसके पहिले आपने एक कहानी पढ़ी, उसमें सिंह और बन्दर की कहानी है। इस दूसरी कहानी में दूसरे ही बन्दर और सिंह हैं। पहली कहानी में सिंह मूर्ख था और बन्दर चालाक, लेकिन इस कहानी में बन्दर मूर्ख है और सिंह चालाक। ध्यान रहे, भेदज्ञानरूपी तात्पर्य दोनों ही कहानियों में से समान रीति से प्रगट हो रहा है। उक्त कथायें गुरुदेव श्री के प्रवचनों के आधार से लिखी गई हैं। **– सम्पादक)**

एक वृक्ष के ऊपर एक बन्दर रहता था, वहाँ एक सिंह आया। उस सिंह के मन में बन्दर का शिकार करने का भाव आया, लेकिन वह बन्दर तो ऊँचे वृक्ष पर बैठा था, वह सिंह का शिकार कैसे बन सकता था। लेकिन सिंह चालाक था, उसने सोचा कि यह मूर्ख बन्दर जमीन पर पड़ रही उसकी छाया को ही स्वयं मान रहा है, इसलिए बन्दर के सामने सिंह ने जोर से गर्जना की और उसकी छाया के ऊपर पंजा मारा।

बन्दर अपनी छाया के ऊपर पंजे मारते देख घबरा गया। हाय......हाय....... सिंह मुझे पंजे मार रहा है– ऐसा सोच भयभीत होकर वह जल्दी ही नीचे गिर गया और सिंह ने उसे सचमुच में अपना शिकार बना डाला और उसका प्राणान्त हो गया।

उस मूर्ख बन्दर ने यह नहीं सोचा कि पंजे तो मेरी छाया को पड़ रहे हैं, मैं तो छाया से अलग वृक्ष के ऊपर सुरक्षित बैठा हूँ। देखो ! बन्दर ने अज्ञान से छाया को ही अपना माना, इसलिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठा।

वैसे ही इस जीव ने छाया के समान इस शरीर को अपना मान रखा है , अत: रागादि होने पर या मृत्युरूपी सिंह के पंजे पड़ते ही मूर्ख बन्दर के समान मूर्ख अज्ञानी जीव अपना ही मरण जानकर डरता है, भयभीत होता है कि हाय ! मैं मर गया, हाय ! मेरे शरीर में रोग हो गया।

लेकिन भाई ! ये सब तो शरीर में हैं, तेरे में नहीं, तुम तो शरीर से भिन्न अरूपी शाश्वत चैतन्यमूर्ति हो। चैतन्य के ऊँचे वृक्ष पर तेरा आत्मा तो सुरक्षित बैठा है, तेरे चैतन्य जीवन का कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ है, उसे कोई भी मार नहीं सकता।

इसप्रकार इस कहानी से यह बोध मिलता है कि– "हे जीव ! तू शरीर से भिन्न आत्मा को जानकर निर्भय हो जा ! जब आत्मा का मरण ही नहीं, तो डर किस बात का ?

3. एक था सिंह और एक था बन्दर (अन्त में दोनों मित्र बन गये) –

बहुत पुराने समय की बात है। एक सुन्दर जंगल था, उसमें पशु-पक्षी रहते थे। सिंह और बन्दर रहता था, हाथी और हिरण रहता था, सर्प और खरगोश रहता था।

वहाँ एक वृक्ष पर दो बन्दर रहते थे। एक बन्दर जवान था और दूसरा बूढ़ा। उस जंगल में एक भूखा सिंह शिकार की खोज कर रहा था, खोजते-खोजते वह उस वृक्ष के समीप आया। उसने वृक्ष के ऊपर दो बन्दरों को बैठे देखा, लेकिन वृक्ष के ऊपर तो सिंह पहुँच नहीं सकता था, फिर भी चालाक सिंह ने बन्दरों को पकड़ने की युक्ति खोज निकाली।

गर्मी के दिनों में भर-दोपहरी में वृक्ष के ऊपर बैठे बन्दरों की छाया नीचे पड़ती थी। जब सिंह ने देखा कि वृद्ध बन्दर छाया को ही अपनी मान रहा है, इसलिए सिंह ने बन्दर की ओर देखकर जोरदार गर्जना की और उसकी छाया पर जोर से पंजा मारा।

"हाय-हाय ! सिंह ने मुझे पकड़ लिया" – ऐसा समझकर मूर्ख वृद्ध बन्दर भय से काँपते हुए नीचे गिर गया, तब सिंह ने उसे पंजे से पकड़ लिया, जिससे उसका मरण हो गया।

उसी समय युवा बन्दर वृक्ष के ऊपर निर्भय होकर बैठा रहा, वह वहाँ बैठा-बैठा सिंह की चेष्टाएँ देखता रहा। उस युवा बन्दर ने विचार किया कि वह दूसरा बन्दर नीचे गिरकर मर क्यों गया और मैं क्यों नहीं मरा ?

विचार करने पर उसे समझ में आया कि हाँ, ठीक ही तो है, वह वृद्ध बन्दर नीचे की छाया को अपनी मान रहा था, इसलिये छाया पर सिंह के द्वारा पंजा मारते ही वह अज्ञान से भयभीत होकर नीचे गिर गया और सिंह का शिकार बनकर मर गया, लेकिन मैंने छाया को अपनी नहीं माना, इसलिए मरण से बच गया।

इसके बाद उस युवा बन्दर ने ऐसा विचार किया कि सिंह ने मेरे दादा (वृद्ध बन्दर) को मूर्ख बनाया। अब मैं भी उसे उसकी मूर्खता का बोध कराऊँगा। वह मन ही मन सोच रहा था कि – "अरे सिंह ! तुम भी इसीप्रकार मूर्खता कर रहे हो।"

एकबार उसने उसी सिंह के पास जाकर कहा– "हे सिंह काका ! तुम तो इस जंगल के राजा हो, परन्तु इसी जंगल में तुम्हारे जैसा दूसरा सिंह आया है। वह कहता है कि मैं इस जंगल का राजा हूँ, तुम नहीं हो।"

तब उस सिंह ने क्रोध में आकर कहा– "हमारे राज्य में हमारी सत्ता से इंकार करने वाला यह दूसरा सिंह कौन आया ? चलकर बताओ वह कहाँ रहता है? मैं उसकी अभी खबर लेता हूँ।"

"काका ! उस सामने के कुएँ में वह सिंह रहता है।"

बस ! सिंह तो दौड़ा और कुंएँ में झाँककर देखा, उसे वहाँ उसके ही जैसा एक सिंह दिखाई दिया। वास्तव में वह तो उसकी ही छाया थी, वह कोई सच्चा सिंह नहीं था, फिर भी मूर्ख सिंह छाया को ही सच्चा सिंह समझकर क्रोध में अन्धा होकर कुएँ में गिर गया और अन्त में वह मूर्ख सिंह भी कुएँ में डूबकर मर गया।

इसप्रकार सिंह और बन्दर के समान अज्ञानी जीव इस छाया के समान शरीर को अपना मानकर संसार में जन्म-मरण कर रहे हैं और वैसे ही भवरूपी कुएँ में गिरकर दुखी हो रहे हैं, लेकिन जो सच्चा ज्ञान कर शरीर से भिन्न अपनी आत्मा का स्वरूप जानते हैं, उनका जन्म-मरण नहीं होता।

कुछ दिनों बाद फिर से ऐसा बनाव बना कि पहले की घटना के समान ही उस जंगल में वृक्ष पर बन्दर बैठा था और वहाँ एक भूखा सिंह आया। सिंह ने देखा कि नीचे जो बन्दर की छाया हिलती-डुलती दिखाई दे रही है, वही बन्दर है। उसने छाया के ऊपर पंजा मारा। वह पंजा मारते-मारते थक गया, लेकिन उसके हाथ कुछ नहीं आया।

इसी प्रकार रुपये-पैसे, धन-दौलत आदि पर पदार्थों में झपट्टे मार-मार कर यह जीव भी थक गया, फिर भी इसको थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिला।

तब वृक्ष के ऊपर बैठे बन्दर ने कहा– "अरे सिंह राजा ! जैसे मूर्खता तुम कर रहे हो, उसी प्रकार इसके पहले तुम्हारे दादा ने भी अपनी मूर्खता से अपने प्राण खो दिये थे। जैसे– तुम मेरी छाया को ही बन्दर समझकर उसके ऊपर पंजे मार रहे हो, उसीप्रकार तुम्हारे सिंह दादा ने भी कुएँ में अपनी छाया देखकर, उसे ही असली सिंह मान लिया था और उससे लड़ने के लिए कुएँ में छलाँग लगाकर डूब मरे थे।"

तब सिंह बोला– "अरे बन्दर भाई ! जैसे मेरे दादा ने भूल की थी, वैसे ही तुम्हारे दादा ने भी भूल की थी। एकबार तुम्हारे बन्दर दादा वृक्ष के ऊपर बैठे थे और नीचे उनकी छाया पर सिंह ने पंजा मारा, तब ऊपर बैठे तुम्हारे दादा घबरा गये और सिंह मुझे मार डालेगा, इस डर से नीचे गिर गये। उसी प्रकार तुम भी अभी नीचे गिरनेवाले हो।"

सिंह राजा की बात सुनकर बन्दर ने हँस कर कहा– "अरे सिंह राजा! वह जमाना (समय) गया, अब तो भेदविज्ञान का जमाना आ गया है। छाया को अपना मानने का जमाना बीत गया। यहाँ भेद-विज्ञान के प्रताप से सुख शान्ति की शीतल हवा बहती है। यहाँ के मनुष्य तो जड़-चेतन का भेदज्ञान करनेवाले हैं और उन्हें देखकर मेरे अन्तरंग में भी देह और आत्मा की भिन्नता की भावना जागृत हुई है। अब छाया को अपना मानकर प्राण गँवाने की मूर्खता का जमाना चला गया। तुम छाया पर चाहे जितने पंजे मारो, फिर भी मैं तो छाया से भिन्न निर्भयता से अपने स्थान पर बैठा हूँ।"

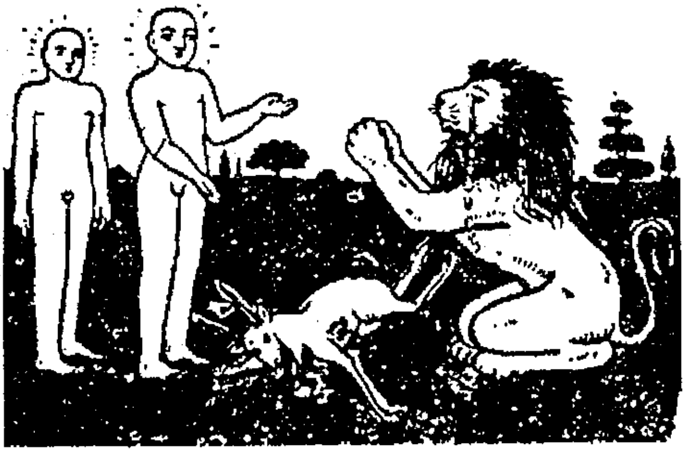

बन्दर की बात सुनकर सिंह मामा समझ गये कि यहाँ हमारी कोई चालबाजी नहीं चलेगी, बल्कि बन्दर की बुद्धिमानी के प्रति उसे बहुमान जागृत हुआ कि– **वाह! देह और छाया की भिन्नता के भान (भावभासन) से इस बन्दर को कैसी निर्भयता है। फिर देह और आत्मा की भिन्नता जानने से कैसी निर्भयता आयेगी।**

इसप्रकार सिंह के विचारों में भी परिवर्तन हो गया।

सिंह ने अपने विचार बन्दर को सुनाये, तब बन्दर ने कहा– "मामा! तुम्हारी बात बिल्कुल सच्ची है। देह और आत्मा की भिन्नता के ज्ञान से इस सिंह से तो क्या, बल्कि कालरूपी सिंह से भी डर नहीं रहता है। कालरूपी सिंह आवे या मृत्यु आ जावे तो भी वह उसे पीछे धकेल देता है। अरे! तू यहाँ से चला जा मेरे पास तुम्हारा जोर नहीं चलेगा, तुम्हारे पंजे हमारे ऊपर नहीं चलेंगे, क्योंकि मैं कोई देह नहीं हूँ, मैं तो अविनाशी आत्मा राम हूँ। मृत्युरूपी सिंह मुझे मार नहीं सकता।

हे सिंह राजा! ऐसे सरस भेदज्ञान की बात सुनकर अब तुम हिंसा का क्रूरभाव छोड़ो और आत्मा के परमशांत भाव को धारण करो।

तुम्हारे ही वंश में पहिले एक सिंह ने मुनिराज के उपदेश से ऐसा ही भेदज्ञान किया था और भरतक्षेत्र में अन्तिम तीर्थंकर हुआ था।

इसीप्रकार ऋषभदेव भगवान के जीव ने भी वज्रजंघ के भव में जब मुनिराज को आहारदान दिया था, तब सिंह और बन्दर ने एक साथ उसकी अनुमोदना की थी, उसके बाद दोनों ने एक साथ मुनि का उपदेश भी सुना था और जातिस्मरण ज्ञान पाया था। उसके बाद दूसरे भव में भोगभूमि में आत्मज्ञान करके ऋषभदेव भगवान के पुत्र हुए और मोक्ष में गये।

अब हम दोनों भी भेदज्ञान करके भगवान बनेंगे।'' बन्दर की यह बात सुनकर सिंह बहुत खुश हुआ। उसने हिंसकभाव छोड़ दिया और शान्तभाव धारण करके भेदज्ञान प्रगट किया। तत्पश्चात् सिंह और बन्दर एक-दूसरे के साधर्मी मित्र बन गये।

सिंह और बन्दर की कहानी से प्राप्त बोध

जिसप्रकार मूर्ख सिंह और बन्दर शरीर की छाया को अपनी मानकर दुखी हुए, वैसे ही अज्ञानी जीव शरीर को आत्मा मानकर दुखी होता है।

जैसे समझदार सिंह और बन्दर ने शरीर और छाया को अपने से भिन्न जाना, तब वे दुखी नहीं हुए। वैसे ही हम भी देह से भिन्न अपनी आत्मा का सच्चा स्वरूप जानें और उसमें लीन होवें तो ही भव-दुःख दूर होगा और हम सुखी होंगे।

रागादि – क्रोधादि परभाव भी चैतन्य की छाया के समान हैं। वे आत्मा के असली स्वरूप नहीं हैं। जो चैतन्यस्वरूप आत्मा को रागादि से सहित मानता है, वह अज्ञानी है। उसकी विपरीत मान्यता ही संसार का कारण है। रागादि परभाव (विपरीत भाव) की छाया से रहित शुद्ध जीव को अनुभवना, यही मोक्षसुख को प्राप्त करने की रीति है।

जैसे छाया पर झपट्टे मारने से सिंह को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, वैसे ही छाया के समान बाह्य-पदार्थों में राग-भाव करने से सुख माने और उनमें चाहे जितने झपट्टे मारे तो भी जीव को कुछ सुख नहीं मिलता, अन्तर की तरफ दृष्टि करके चैतन्य वस्तु को पहिचाने तो ही जीव सुखी हो सकता है।

जैसे कहानी का सिंह जंगल का राजा है, वैसे ही हे जीव ! तू तीन लोक में महान चैतन्य राजा है। सिंह राजा ने अपने सच्चे स्वरूप को भुला दिया और छाया को सिंह मान लिया, इसकारण वह कुएँ में गिरकर दुःखी हुआ। वैसे ही चैतन्य स्वरूप जीव राजा भी अपना स्वरूप भूलकर भवरूपी कुएँ में गिरता है। यह जीव जब देह से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप का ख्याल करता है, तब सिंह जैसा पराक्रमी होकर सिद्धपद प्रगट करता है और तीन लोक का राजा – परमात्मा होता है।

62

धर्म नहीं छोड़ा

महाविदेह क्षेत्र में स्वर्ग समान पुण्डरीक देश में त्रिभुवनानन्द नगर में राजा चक्रधर चक्रवर्ती राज करते थे। चक्रवर्ती की एक अनंगसरा नाम की पुत्री थी, जिसके गुण ही उसके आभूषण थे। उसके समान सुन्दर अद्भुत रूपवान कोई दूसरी स्त्री नहीं थी।

प्रतिष्ठितपुर का राजा पुनर्वसु विद्याधर, चक्रधर चक्रवर्ती की कन्या अनंगसरा को देखकर उस पर मोहित हो गया और उसका अपहरण कर उसे विमान में बिठाकर ले गया। चक्रवर्ती ने क्रोध में आकर उसके साथ युद्ध शुरू कर दिया। उसका विमान तोड़ डाला, जिससे पुनर्वसु ने व्याकुल होकर कन्या को आकाश से नीचे फैंक दिया।

शरद ऋतु के चन्द्रमा की ज्योति समान पुनर्वसु की पर्णलघु विद्या से कन्या एक भयानक जंगल में आ गिरी। उस भयानक जंगल में अनेकों दुष्ट वनचर जीव रहते थे। उस जंगल में विद्याधरों का भी प्रवेश नहीं था। जहाँ सूर्य की एक किरण भी प्रवेश न कर सके – ऐसे महा-अंधकारपूर्ण नाना प्रकार की बेलों से घिरे हुए; ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से भरे हुए; चीता, बाघ, सिंह, गेंडा, रीछ इत्यादि अनेकों वनचरों से युक्त; ऊँची-नीची भूमि में गहरे-गहरे गड्ढ़ों से युक्त उस महा-भयंकर वन में वह कन्या अत्यन्त दुःखी होती हुई चारों दिशाओं में अपने माता-पिता को ढूँढती हुई उन्हें याद कर-करके विलाप करती/रोती।

हाय ! मैं इन्द्र समान शक्ति और वैभव से सम्पन्न चक्रवर्ती की पुत्री होकर भी कर्मोदय वशात् ऐसी अवस्था में आ पड़ी। अब मैं क्या करूँ ? इस जंगल का तो कोई आदि-अन्त भी दिखाई नहीं देता। इस वन को देखकर मुझे बहुत डर लगता है। मैं इस वन में असहाय पड़ी हूँ, यहाँ से मुझे कौन बचायेगा ? हे पिता ! आप महापराक्रमी हो, मेरी रक्षा करो; हे माता ! आप तो ममता की मूर्ति हो, आपने मुझे कल्पनातीत दुःखों को सहन करके अपने गर्भ में धारण किया, जन्म दिया, आप मेरी सुध लीजिए। हे भाई ! आप मुझे एक क्षणमात्र भी अकेला नहीं छोड़ते थे, अब इस भयानक जंगल में मैं अकेली दुःखी हूँ मेरी सहायता करके मुझे बचालो। अरे भवितव्य ! किस कारण से इतना भयानक दुख मेरे ऊपर आ पड़ा है कि जहाँ चाहने पर भी मौत नहीं आती। अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ?

इसप्रकार बहुत समय तक विलाप करते हुए वह दुखी होती रही। उसके विलाप को देखकर अत्यन्त दुष्ट पशु भी करुणा से भर गये। वह कन्या भूख से परेशान होकर शोक-सागर में डूबी फल-फूलों से अपना पेट भरने लगी। कर्मयोग से कई शीतकाल के दुख सहने पड़े। कैसा है शीतकाल ? जो कमल के वन की शोभा को नष्ट करने वाला है। अनेक ग्रीष्म ऋतुओं का ताप सहन करना पड़ा। ग्रीष्म का इतना भयंकर आताप कि जिससे जल के समूह सूख गये। तथा दावानल से अनेकों वृक्ष जलकर राख हो गये तथा अनेक जीव-जन्तु जलकर मर गये। वर्षाकाल की भयंकर वर्षा के अंधकार से सूर्य की ज्योति दब गयी। सूर्य की ज्योति को दबाने वाली भयंकर वर्षा से उस कन्या का मलिन शरीर भी चित्राम की भाँति कान्तिरहित, दुर्बल, बिखरे हुए केश, लावण्यरहित ऐसा हो गया कि जैसे सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण हो जाता है। फलों से नम्रीभूत वृक्षों के नीचे बैठे-बैठे वह पुत्री अपने पिता को याद करती हुई रोती रहती है। विचारती है कि मेरा जन्म चक्रवर्ती के घर में हुआ; परन्तु पूर्व जन्मकृत पाप के उदय से मैं ऐसी भयंकर दुख अवस्था में आ पड़ी। उन दुखों को याद कर-करके ऐसे रोती मानों आँसुओं की धार बरसात की भाँति रुकती ही नहीं।

इसप्रकार वन में रहते हुए वृक्षों से जो फल नीचे गिरते, उनका भक्षण करती। बेला-तेला, उपवास करने से शरीर भी सूख गया, कमजोर हो गया, फिर भी मात्र एक समय जल-फल खाकर पारणा कर लेती।

पुष्पों की सेज पर सोने वाली चक्रवर्ती की पुत्री जिसे अपने स्वयं के केश भी चुभते थे, वह आज विषम भूमि पर दुखी होकर सोती है। जो अपने पिता तथा परिजनों के साथ आनन्दमयी बातें करती थी, उनकी मधुरवाणी सुनकर प्रसन्न हुआ करती थी, आज वही भयंकर वन में सिंह, सियार आदि भयंकर जानवरों की भयानक और करकस आवाजों को सुनकर भयानक रात्रि व्यतीत करती है। इसप्रकार अनेक दुखों के बीच रहकर उस बालिका ने तीन हजार वर्ष तक उस भयानक जंगल में अनशनादि तप किये। सूखे फल-फूलों को खाकर तथा झरनों का प्रासुक जल पीकर अपना जीवन-यापन किया। एक सौ हाथ भूमि से आगे नहीं जाने की प्रतिज्ञा लेकर दिगव्रत-देशव्रत आदि का पालन किया और क्रमशः महावैराग्य को प्रकट कर सम्पूर्ण खान-पान का त्याग कर सल्लेखना (समाधिमरण) की तैयारी कर ली।

एक दिन उसी जंगल मार्ग से एक अरहदास नामक विद्याधर सुमेरुपर्वत की वंदना करके वापस जा रहा था कि उसे वह चक्रवर्ती की पुत्री उस भयानक जंगल में दिखाई दी, जब उसने उस पुत्री

को यह कहते हुए धैर्य बंधाया कि "आप हमारे साथ चलो हम तुम्हें तुम्हारे पिता चक्रवर्ती महाराज चक्रधर के पास पहुँचा देते हैं" परन्तु एक सौ हाथ के बाहर नहीं जाने की प्रतिज्ञा बताते हुए उस कन्या ने उनके इस अनुरोध को स्वीकार नहीं किया। तब उस विद्याधर ने शीघ्र ही चक्रवर्ती महाराज चक्रधर के पास जाकर उनको उनकी पुत्री के समाचार सुनाये और सुनते ही चक्रवर्ती अपने 22 हजार पुत्रों सहित वहाँ आ पहुँचे।

चक्रवर्ती चक्रधर वहाँ पहुँचकर क्या देखते हैं कि उसकी पुत्री को एक अजगर सर्प खा रहा है, पुत्री अजगर सर्प के मुख में पड़ी है और शान्तभाव से समाधिमरण के लिए तैयार है। पुत्री ने अपने पिता से अजगर को अभयदान दिलाया और स्वयं समाधि मरण पूर्वक देह त्याग कर तीसरे स्वर्ग में गई।

इसप्रकार पुत्री द्वारा पुरुषार्थ पूर्वक देह एवं देह का मोह छोड़ता हुआ देखकर चक्रवर्ती अपने 22 हजार पुत्रों के साथ वैराग्य को प्राप्त हुए और उन्होंने वीतरागी दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली।

यहाँ जिस पुनर्वसु विद्याधर ने अनंगसरा का अपहरण किया था, वह उसे खोजते-खोजते अत्यन्त दुखी हुआ और पश्चाताप करते हुए संसार से विरक्त होकर द्रुमसैन मुनिराज के पास मुनिदीक्षा धारण कर महातप करते हुए अन्त में समाधिपूर्वक मरण कर स्वर्ग में देव हुआ और वहाँ से चय कर राजा दशरथ का पुत्र लक्ष्मण हुआ और अनंगसरा भी स्वर्ग में चय कर द्रोणमेघ की पुत्री विशल्या हुई। तथा पुनर्वसु ने अनंगसरा को प्राप्त करने का निदानबन्ध किया था, अतः लक्ष्मण की विशल्या से शादी हुई।

जैन शासन की श्रद्धा-भक्ति से भविष्य में दोनों ही जीव मोक्ष प्राप्त करेंगे।

अध्यात्म-युगसृष्टा आचार्य कुन्दकुन्ददेव

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस भारत देश के दक्षिण भाग में एक सेठ रहता था। उनके यहाँ एक ग्वाला था जो बहुत भद्र-परिणामी था।

एक बार वह ग्वाला अपने नित्य-क्रमानुसार गायों को चराने के लिये जंगल में गया। वहाँ जाकर वह देखता है कि सम्पूर्ण जंगल आग से भस्म हो गया है, परन्तु जंगल के बीचों-बीच एक वृक्ष आग से अप्रभावित ज्यों का त्यों खड़ा है।

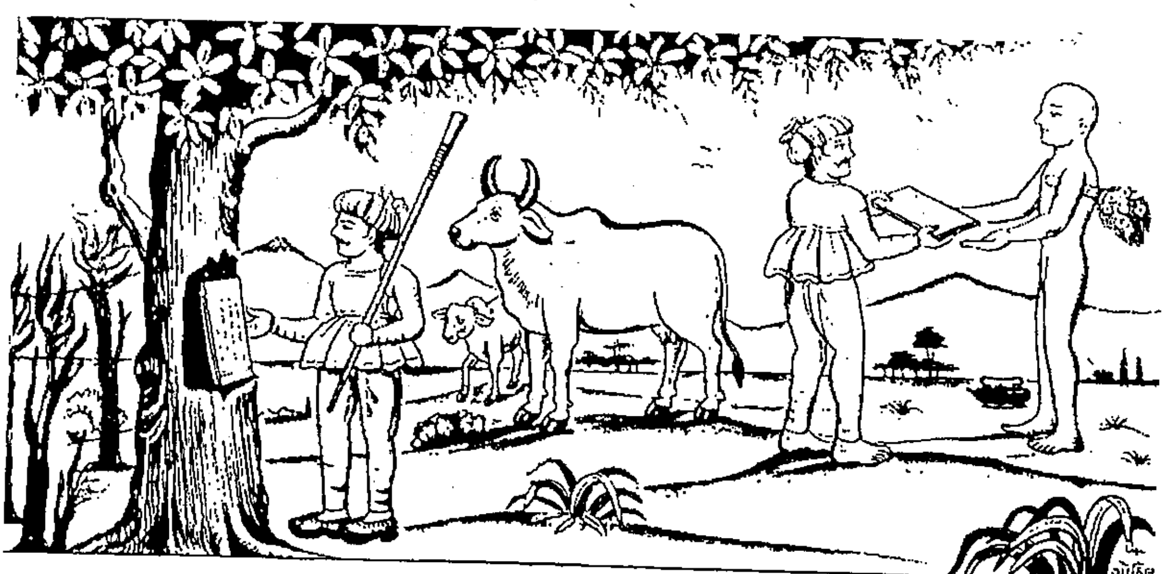

इस परिदृश्य के अवलोकन से उस ग्वाले को आश्चर्य हुआ। उसी आश्चर्य से प्रेरित होकर उसने वृक्ष के समीप जाकर देखा तो पाया कि वृक्ष की पोल में एक शास्त्र रखा है, ग्वाले को लगा कि अवश्य ही इस शास्त्र के कारण ही यह वृक्ष बचा है। इस विचार से वह ग्वाला अत्यन्त बहुमान पूर्वक उस शास्त्र को अपने घर ले आया।

एक बार उन्हीं सेठ के यहाँ मुनिराज का शुभागमन हुआ। सेठ ने नवधा भक्तिपूर्वक उन मुनिराज को आहार दान दिया। इस परिदृश्य को देखकर ग्वाले के मन में भी मुनिराज के प्रति अत्यन्त बहुमान का भाव जागृत हुआ और वन से लाया हुआ वह शास्त्र उसने भक्ति भावपूर्वक उन मुनिराज को अर्पण किया।

उस समय उस ग्वाले के मन में ज्ञान के बहुमान की अचिन्त्य उर्मियाँ जागृत हुई और भावना हुई कि अहो ! मैं भी कब ऐसा साधु बनूँगा ? इस शास्त्र दान के फल स्वरूप उसका ज्ञानावरण कर्म अत्यंत कृष हो गया अर्थात् उसके ज्ञान का विशेष उघाड़ हो गया।

कुछ समय पश्चात् उस ग्वाले का जीव मरकर उसी सेठ के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

बालवय से ही अत्यन्त वैराग्यवंत और तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी उस बालक ने मात्र ग्यारह वर्ष की आयु में श्री जिनचन्द्र स्वामी के समीप जाकर नग्न दिगम्बर मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। ग्यारह वर्ष का किशोर हाथ में कमण्डलु और पीछी लेकर मुनिदशा रूप वीतरागदशा में विचरने लगा। यही अपने भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव हैं।

अब उनके मुनि होने के बाद क्या हुआ ? वह सुनो ! वह बहुत ही आनन्द-दायक प्रसंग है।

वे नन्हें से कुन्दकुन्द मुनिराज आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मस्त रहने लगे, उनका ज्ञान बहुत-बहुत खिलने लगा.....उनका चारित्र उज्ज्वल बना.....और जमीन पर पैर रखे बिना जमीन से चार अंगुल ऊँचे आकाश में गमन कर सकें – ऐसी चारणऋद्धि भी उन्हें प्रगट हुई।

अहो ! उनका पवित्र आत्मा अन्दर में तो विकार को छूता ही नहीं था और बाहर में भी धूल को नहीं छूता था। अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे भेदभाव रहित जो 'ज्ञायक भाव' उसकी उपासना में वे तल्लीन थे और प्रचुर स्वसंवेदन से आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द को भोगते थे। संसार समुद्र का किनारा उनके एकदम नजदीक आ गया था।

आत्मानुभव के उपरान्त तीर्थनायक भगवान महावीर की परम्परा से समागत ज्ञान को भी उन्होंने प्राप्त कर लिया था। उस समय वे हजारों मुनियों में महान बने......और एक बार (मगसर बदी अष्टमी को) सम्पूर्ण संघ ने मिलकर महान उत्सव पूर्वक उन्हें आचार्य पद से अलंकृत किया.....। उनके सशक्त करकमलों में जैनशासन का रथ सौंपा, वे जैन-शासन के नेता बने, उनके प्रताप से जैनधर्म की बहुत उन्नति हुई, धर्म की प्रभावना हुई। यद्यपि उनका ज्ञान अगाध था, तथापि अभी केवलज्ञान नहीं था, तथा उस समय भरत क्षेत्र में कोई केवलज्ञानी भी विद्यमान नहीं थे। केवलज्ञान का ऐसा विरह उनको कभी-कभी खटकता भी था।

अरे ! भरत क्षेत्र में तो सर्वज्ञ परमात्मा के दर्शन भी नहीं ! विदेह क्षेत्र में तो सीमंधरादि परमात्मा साक्षात् विराज रहे हैं– इसप्रकार सीमंधरादि परमात्माओं को स्मरण करते हुए वे 'पौन्नूर' के समीप

बैठे-बैठे सीमंधर परमात्मा के समवसरण को स्मरण कर रहे थे, "वहाँ सर्वज्ञदेव की वाणी मूसलाधार बरसती होगी," गणधर विराजते होंगे। अनेकों मुनिराज आत्मध्यान करके केवलज्ञान पाते होंगे। अहा ! कैसे होंगे वे दृश्य !!

इसप्रकार यहाँ भरत क्षेत्र में कुन्दकुन्द मुनिराज सीमंधर प्रभु को याद कर रहे थे, वहाँ भगवान के समवसरण में इस बात की खबर पड़ी। वहाँ से दो देव भक्तिपूर्वक कुन्दकुन्द स्वामी के पास आये और उनके साथ आकाशमार्ग से विचरण करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी विदेह क्षेत्र में सीमंधर परमात्मा के दर्शनों के लिये रवाना हुए। अहा ! भरत क्षेत्र के मुनिराज विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर से मिलने आकाश मार्ग से चले..... भरत क्षेत्र के मुनिराज देह सहित विदेह की यात्रा के लिए चले..... कैसा होगा वह अद्भुत प्रसंग !

अहा ! ये कुन्दकुन्द मुनिराज भगवान के दर्शनों के लिये आकाश मार्ग से जा रहे हैं, कैसा होगा वह दृश्य ? और कैसे होंगे उन मुनिराज के अन्तरंग भाव ? केवलज्ञान के साधक मुनिराज केवलज्ञान को साक्षात निहारने जा रहे हैं। भरत क्षेत्र के तीर्थपति विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर की वाणी सुनने जा रहे हैं। दक्षिण देश में से पूर्व विदेह की ओर जाते-जाते बीच में सम्मेदशिखर तीर्थ भी मार्ग में आया होगा...... उसे वन्दन करते हुए ऋद्धिबल से पर्वत को लांघकर थोड़ी ही देर में शाश्वत् तीर्थ मेरु की भक्ति भाव से वन्दना की होगी.... रत्नमय शाश्वत जिनबिम्बों की वीतरागता देख-देखकर वीतराग भाव की उर्मियाँ उनमें जगी होंगी। इसप्रकार मार्ग में अनेक तीर्थों की वन्दना करते हुए उन्होंने थोड़ी ही देर में विदेहक्षेत्र की भूमि में प्रवेश किया।

अहा ! विदेह क्षेत्र में समवसरण के मध्य में सीमंधर परमात्मा को नजर से निहारते ही उनके आत्मा में कोई अचिन्त्य विशुद्धि प्रगटी.....इस ज्ञायक परमात्मा को देखकर मानों एक बार तो वे स्वयं भी तत्क्षण निज ज्ञायक में ठहर गये। परम विनय से हाथ जोड़कर कोई अपूर्वभाव से प्रभु को नमस्कार किया, दिव्यध्वनि का श्रवण किया। अहा ! यह शम्भूस्वामी आदि गणधर भगवंतों और इन चैतन्यलीन मुनिवरों की सभा।......

यह इन्द्र और पद्म चक्रवर्ती द्वारा प्रभु की सेवा और धर्म का अद्भुत वैभव। ये सब धर्म की आराधना के अद्भुत् आनन्दकारी दृश्य कैसे होंगे, विदेह के ये दृश्य देखकर उनका आत्मा तृप्त हुआ। दिव्यध्वनि रूपी गंगा में से हृदय भर-भरकर शुद्धात्मा का अमृत पिया—

प्रत्यक्ष जिनवर दर्श का बहु हर्ष एलाचार्य को।
ओंकार सुनता जिनतणों अमृत मिला मुनि हृदय को ॥

भरतक्षेत्र के मुनि ने विदेह क्षेत्र के भगवान का दर्शन किया, वे आठ दिन विदेह क्षेत्र में रहे...आठ दिनों तक भगवान के चरणों में दिव्यध्वनि का अमृत पिया...बहुत-बहुत पिया।

वहाँ के मुनियों के साथ उन्होंने कैसी चर्चा की होगी और कैसे भाव से गणधरों और श्रुतकेवलियों के चरणों की उपासना की होगी। अहो ! भरत क्षेत्र और विदेह क्षेत्र के मुनिराजों के मिलन का वह दृश्य कैसा होगा !! यह प्रसंग देखने वाले जीव भी कितने भाग्यशाली हैं। भरत क्षेत्र के इन प्रतिनिधि को देखकर विदेह क्षेत्र के मनुष्य भी आनन्दित हुए और अत्यन्त भक्ति से कुन्दकुन्दाचार्य का बहुमान किया।

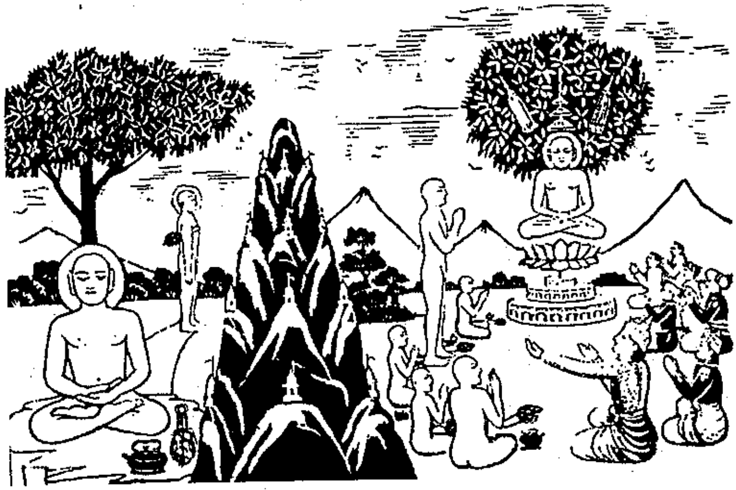

विदेह के विशाल (आकृति युक्त) मानवों के समक्ष भरत के मानव तो एकदम छोटे लगते हैं, अत: विदेह के मानवों ने उन्हें छोटे से आचार्य अर्थात् एलाचार्य नाम संबोधित किया। भले ही विदेह के मुनियों की तुलना में उनका शरीर छोटा था, पर दशा तो (आत्मानंद तो) उनकी विदेह के मुनियों जैसी ही थी। जैसे विदेह क्षेत्र के मुनि, वैसे ही अपने भरत क्षेत्र के ये मुनि। विदेह के मुनियों ने भरत क्षेत्र के इन मुनिराज के प्रति कैसा वात्सल्य भाव दर्शाया होगा।

इसप्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने परम भक्ति से विदेह की यात्रा की और सीमंधर भगवान के दर्शन किये। वाह ! ज्ञायकभाव के आराधक कुन्दकुन्द आचार्य देव ने भगवान को साक्षात् निहारा......और आज स्वयं भी उनके मार्गानुसारी बनकर पंचपरमेष्ठी की पंक्ति में बैठे हैं।

(कहानी संख्या 59 से 63 के लेखक ब्र. हरिभाई जैन हैं। – आभार)

चौबीस तीर्थंकरों की पञ्चकल्याणक तिथियाँ

तीर्थंकर-नाम	गर्भकल्याणक	जन्मकल्याणक	तपकल्याणक	ज्ञानकल्याणक	मोक्षकल्याणक
श्री ऋषभदेवजी	आषाण कृष्णा 2	चैत्र कृष्णा 9	चैत्र कृष्णा 9	फाल्गुन कृष्णा 11	माघ कृष्णा 14
श्री अजितनाथजी	ज्येष्ठ कृष्णा 15	माघ शुक्ला 10	माघ शुक्ला 10	पौष्य शुक्ला 11	चैत्र शुक्ला 5
श्री संभवनाथजी	फाल्गुन शुक्ला 8	कार्तिक शुक्ला 15	मार्गशीर्ष शुक्ला15	कार्तिक कृष्णा 4	चेत्र शुक्ला 6
श्री अभिनंदनजी	वैशाख शुक्ला 6	माघ शुक्ला 12	माघ शुक्ला 12	पौष्य शुक्ला 14	वैशाख शुक्ला 6
श्री सुमतिनाथजी	श्रावण शुक्ला 2	चैत्र शुक्ला 11	वैशाख शुक्ला 9	चैत्र शुक्ला 11	चैत्र शुक्ला 11
श्री पद्मप्रभजी	माघ कृष्णा 6	कार्तिक कृष्णा 13	कार्तिक कृष्णा 13	चैत्र शुक्ला 15	फाल्गुन कृष्णा 4
श्री सुपार्श्वनाथजी	भाद्रपद शुक्ला 6	ज्येष्ठ शुक्ला 12	ज्येष्ठ शुक्ला 12	फाल्गुन कृष्णा 6	फाल्गुन कृष्णा 7
श्री चन्द्रप्रभजी	चैत्र कृष्णा 5	पौष्य कृष्णा 11	पौष्य कृष्णा 11	फाल्गुन कृष्णा 7	फाल्गुन कृष्णा 7
श्री पुष्पदंतजी	फाल्गुन कृष्णा 9	मार्गशीर्ष शुक्ला 1	मार्गशीर्ष शुक्ला 1	कार्तिक शुक्ला 2	भाद्रपद शुक्ला 8
श्री शीतलनाथजी	चैत्र कृष्णा 8	माघ कृष्णा 12	माघ कृष्णा 12	पौष्य कृष्णा 14	आश्विनशुक्ला 8
श्री श्रेयांसनाथजी	ज्येष्ठ कृष्णा 6	फाल्गुन कृष्णा 11	फाल्गुन कृष्णा 11	माघ कृष्णा 15	श्रावण शुक्ला 15
श्री वासुपूज्यजी	आषाढ़ कृष्णा 6	फाल्गुन कृष्णा 14	फाल्गुन कृष्णा 14	माघ शुक्ला 2	भाद्रपदशुक्ला14
श्री विमलनाथजी	ज्येष्ठ कृष्णा 10	माघ शुक्ला 4	माघ शुक्ला 4	माघ शुक्ला 6	आषाढ़ कृष्णा 8
श्री अनन्तनाथजी	कार्तिक कृष्णा 1	ज्येष्ठ कृष्णा 12	ज्येष्ठ कृष्णा 12	चैत्र कृष्णा 15	चैत्र कृष्णा 15
श्री धर्मनाथजी	वैशाख कृष्णा 13	माघ शुक्ला 13	माघ शुक्ला 13	पौष्य शुक्ला 15	ज्येष्ठ शुक्ला 4
श्री शांतिनाथजी	भाद्रपद कृष्णा 7	ज्येष्ठ कृष्णा 14	ज्येष्ठ कृष्णा 14	पौष्य शुक्ला 10	ज्येष्ठ कृष्णा 14
श्री कुंथुनाथजी	श्रावण कृष्णा 10	वैशाख शुक्ला 1	वैशाख शुक्ला 1	चैत्र शुक्ला 3	वैशाख शुक्ला 1
श्री अरनाथजी	फाल्गन शुक्ला 3	मार्गशीर्षशुक्ला 14	मार्गशीर्षशुक्ला 10	कार्तिक शुक्ला 12	चैत्र कृष्णा 15
श्री मल्लिनाथजी	चैत्र शुक्ला 1	मार्गशीर्षशुक्ला 11	मार्गशीर्षशुक्ला 11	पौष्य कृष्णा 2	फाल्गुन शुक्ला 5
श्री मुनिसुव्रतजी	श्रावण कृष्णा 2	वैशाख कृष्णा 10	वैशाख कृष्णा 10	वैशाख कृष्णा 9	फाल्गुन कृष्णा 12
श्री नमिनाथजी	आश्विन कृष्णा 2	आषाढ़ कृष्णा 10	आषाढ़ कृष्णा 10	मार्गशीर्ष शुक्ला11	वैशाख कृष्णा 14
श्री नेमिनाथजी	कार्तिक शुक्ला 6	श्रावण शुक्ला 6	श्रावण शुक्ला 6	आश्विन शुक्ला 1	आषाढ़ शुक्ला 7
श्री पार्श्वनाथजी	वैशाख कृष्णा 2	पौष्य कृष्णा 11	पौष्य कृष्णा 11	चैत्र कृष्णा 4	श्रावण शुक्ला 7
श्री महावीरस्वामीजी	आषाढ़ शुक्ला 6	चैत्र शुक्ला 13	मार्गशीर्ष कृष्णा 10	वैशाख शुक्ला 10	कार्तिक कृष्णा 15

नोट – 3, 5, 18 व 24 इन चार तीर्थंकरों को छोड़कर शेष सभी तीर्थंकरों की जन्म और तप की तिथि एक ही है।